

साहित्यिक शोध  
में  
समय, समाज और संस्कृति



राकेश नारायण द्विवेदी

# साहित्यिक शोध में समय, समाज और संस्कृति

राकेश नारायण द्विवेदी

जानकी प्रकाशन

*साहित्यिक शोध में समय, समाज और संस्कृति*

© Publisher

**Published by Janki Publication**

**By Pt Babulal Dwivedi, Neerajanam, Rawatyana, Lalitpur-284403**

**Mob. 9838303690**

**Sahityik Shodh me Samay, Samaj aur Sanskriti (Time, Society and Culture in  
Literary Research- Collection of Different Research Articles)**

**By Dr Rakesh Narayan Dwivedi**

**[rakeshndwivedi@gmail.com](mailto:rakeshndwivedi@gmail.com)**

**Mob.9236114604**

**E-Book Publication Year 2015**

**ISBN 978-81908912-7-1**

**Price Rs 250/-**

उत्तमार्ध 'किरन'

एवं

उत्तमांशी 'पीयूषा'

के लिए

साहित्यिक शोध में समय, समाज और संस्कृति

## पुरोवाक्

इस पुस्तक में जगह-जगह प्रस्तुत किए गए एवं प्रकाशित शोध आलेखों का संकलन है। विविध प्रकृति के इन आलेखों में समकालीनता और युगबोध सर्वत्र परिलक्षित है। आलेखों को किसी क्रम में नहीं रखा गया, यह पाठक का विशेषाधिकार है कि वह किस लेख को कब पढ़े। आलेखों की प्रामाणिकता के लिए उनके प्रस्तुतीकरण या प्रकाशन का उल्लेख कर दिया गया है।

अलग-अलग रचना खंडों में लेखक का व्यक्तित्व अनायास ही उद्घाटित हो जाता है। कालखंड और प्रवृत्तियों को देखकर हम रचना प्रक्रिया को समझ सकते हैं, इसलिए इस पक्ष पर मुझे कुछ नहीं कहना है।

पुस्तक के पैंतीस आलेखों में सर्वाधिक पांच आलेख स्त्री विषय पर केंद्रित हैं। यौन कर्मी स्त्रियों की दशा और विदेशों में इन विषयों पर अब क्या सोचा जाने लगा है, इन विषयों की झलक इन आलेखों में है। उर्दू साहित्य में इस पक्ष पर क्या सोचा जा रहा है, एतदर्थ उर्दू के एक नामचीन साहित्यकार के उपन्यास 'कई चांद थे सरे-आसमां' की समीक्षा रखी गई है। दलित विमर्श पर एक आलेख है तो बौद्ध साधना का स्वरूप एक आलेख में दृष्टव्य है। आदिवासियों पर दो आलेख पुस्तक में हैं। आदिवासियों के जिस योगदान की ओर अभी समीक्षकों की दृष्टि नहीं गई है, उस पर एक आलेख 'स्थान नामकरण में आदिवासियों का योगदान' दिया गया है। मुस्लिमों को केंद्र में रखकर लिखे गए तीन आलेख पुस्तक में संकलित हैं। हिंदी-उर्दू समन्वय के रूप में प्रेमचंद की भाषा को, सामाजिक-सांप्रदायिक समन्वय के लिए राही के उपन्यासों को तथा पारंपरिक मुस्लिम संत एवं कवियों के योगदान को रेखांकित करते हुए आलेख निवेदित हैं।

बुंदेली भाषा और संस्कृति पर पांच आलेख दिए गए हैं तो भूख, भ्रष्टाचार और अन्य सामाजिक समस्याओं का अक्स दिखाते हुए आलेख पुस्तक में संग्रहीत हैं। हिंदी साहित्य की दशा और दिशा के साथ मोटे तौर पर समूचे भारतीय साहित्य का योगदान विश्वशांति के लिए किस प्रकार ग्रहणीय है, इसे रेखांकित करते हुए आलेख पुस्तक में हैं। लोक साहित्य और संस्कृति को ध्यान में रखकर लिखे गए आलेख भी पुस्तक में हैं।

शोधच्छुओं के लिए कुछ नए शोध विषयों का उपस्थापन पुस्तक के लेख 'व्यक्ति नामों का अध्ययन' में किया गया है। उच्च शिक्षा और शोध के और क्या अपेक्षित है, एतदाशय के कुछ सुझाव एक आलेख में दृष्टव्य हैं।

सब मिलाकर; उपनिषद, गीत गोविंद, भक्ति साहित्य, प्रगतिवादी साहित्य, समकालीन - स्त्री, दलित, आदिवासी एवं मुस्लिमवादी - विमर्श, लोकसाहित्य, जनपदीय इतिहास एवं संस्कृति तथा सामाजिक समस्याओं को समझने में यह आलेख यदि तनिक भी सहायक हुए तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा। मुझे विश्वास है सुधी पाठक आलेखों को पढ़कर निराश नहीं होंगे। और हां; पठनीयता एक अलग समस्या है, जिस पर एक लेख 'पुस्तक को पाठक, पाठक को पुस्तक हिंदी पाठकों की स्थिति और संभावना को हमारे सम्मुख रखता है।

नववर्ष 2015

राकेश नारायण द्विवेदी

## अनुक्रम

पुरोवाक्	6
1 उपनिषद् और उनकी आख्यायिक व्यावहारिकता	10
2 बुंदेली लोक संस्कृति: एक बानगी ('भड़या अपने गांव में' के संदर्भ में)	14
3 भ्रष्टाचार निरोध में सूचना का अधिकार अधिनियम की भूमिका	21
4 सांप्रदायिकता और उसका समाधान (डॉ राही मासूम रज़ा के साहित्य की दृष्टि में)	25
5 भ्रष्टाचार उन्मूलन में नागरिक भूमिका	32
6 बौद्ध साधना: आशय एवं अंतर्वस्तु	35
7 बुंदेली गीत गोविंद: एक परिचय	40
8 सृजनधर्मी- बाबूलाल द्विवेदी	43
9 दलित विमर्श: स्वरूप निर्वचन	60
10 राही के उपन्यासों में अभिव्यक्त स्वातंत्र्योत्तर काल का समाज	63
11 'घर, घरवालियां, सेक्स' : स्त्री विमर्श का उत्तर या उत्तर का स्त्री विमर्श	71
12 हिन्दी साहित्य: कल, आज और कल	80
13 जनसंख्या वृद्धिगत आपदा: एक विश्लेषण	84
14 भारतीय परंपरा और स्त्री चेतना - परिवेश 19वीं शताब्दी, परिप्रेक्ष्य	
'कई चांद थे सरे आसमां'	91
15 नक्सलबाड़ी: 'भूख से तनी हुयी मुट्टी'	100
16 राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में चित्रित भारतीयता	106



17 स्थान नामों में प्रतिबिंबित सांस्कृतिक तत्व	114
18 राम भक्ति साहित्य में स्त्री विमर्श (तुलसी साहित्य के विशेष संदर्भ में)	124
19 जनपदीय साहित्य एवं इतिहास का अनूठा दस्तावेज़ - 'विद्रोही की आत्मकथा'	129
20 विश्व शांति में भारतीय साहित्य की भूमिका	136
21 हिन्दी साहित्य में यौनकर्म स्त्रियों का सशक्तीकरण (‘एक सेक्स वर्कर की आत्मकथा’ के विशेष संदर्भ में)	144
22 हिन्दी के मुस्लिम साहित्यकारों के समसामयिक सरोकार	152
23 बूंदेली बोली और उसका साहित्य	157
24 ललितपुर जनपद के स्थान-नामकरण में आदिवासियों का योगदान	163
25 पुस्तक को पाठक एवं पाठक को पुस्तक (हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में)	178
26 ललितपुर जनपद की सहरिया जनजाति	184
27 तुलसी की भक्ति: श्रीरामचरितमानस के संदर्भ में	190
28 व्यक्ति नामों का अध्ययन और सूचना प्रौद्योगिकी	192
29 स्थान नामों का अर्थतात्विक विवेचन	194
30 पुस्तक समीक्षा भारतीय लोककलाओं के विविध आयाम	198
31 पुस्तक समीक्षा 'प्रतिप्रश्न'- एक पुरुषवादी पीड़ा	201
32 बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक के हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-विमर्श	204
33 खबर करें उदना वे ईसुर जिदना फागें गाहें	208
34 हिंदी-उर्दू भाषा के समन्वय का स्रोत: प्रेमचंद का साहित्य	212
35 उच्च शिक्षा के वर्तमान दृश्य विधान में अपेक्षित सुधार	215

## उपनिषद और उनकी आख्यानिक व्यावहारिकता

सृष्टि के आदि में परमात्म प्रभु ने ब्रह्मा को प्रकट किया तथा उन्हें समस्त वेदों का ज्ञान प्राप्त कराया-

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोतितस्मै (श्वेताश्वतर0 6-18)

विद्याध्ययन को सम्पन्न कर जब विद्यार्थी गुरुकुल से विदा होते, तब गुरु उन्हें यह उपदेश देते हैं -

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। अर्थात् 'यदि तुम्हें अपने कर्म के विषय में अथवा अपने आचरण के विषय में कभी कोई शंका उठे तो वहां जो पक्षपातरहित ब्राह्मण हों, जो अनुभवी, स्वतंत्र, सौम्य, धर्मकाम हों; उनके जैसे आचार हों, तुम्हें उन्हीं आचारों का पालन करना चाहिए।'

जिस प्रकार बहती हुई नदियां अपने नामरूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महापुरुष नामरूप से रहित होकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

ॐ पूर्णस्यपूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते ॥ (बृहदारण्यकोपनिषद 5-1-1)

वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने-आप से परिपूर्ण है, यह संसार भी उस परमात्मा से परिपूर्ण है क्योंकि उस पूर्णब्रह्म परमात्मा से ही यह पूर्ण (संसार) प्रकट हुआ है। पूर्ण (संसार) के पूर्ण (पूरक परमात्मा) को स्वीकार करके उसमें स्थित होने से उस साधक के लिए एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है।

उपनिषद वेदों के ज्ञान काण्ड हैं। ज्ञानकाण्ड वेदों के अन्तिम भाग हैं इसलिए उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप एवं अध्यात्म का यथार्थ निर्णय हुआ है। इनमें ब्रह्म साक्षात्कार हेतु विभिन्न रुचियों और स्तरों के उपासकों के लिए मार्गदर्शन है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से उपनिषद का अर्थ है उप निकट, नि निष्ठापूर्वक, षद बैठना अर्थात् निष्ठापूर्वक पास में बैठना। हिन्दू मान्यता के अनुसार उपनिषद उसी वैदिक साहित्य के भाग हैं जिस प्रकार मंत्र, ब्राह्मण और आरण्यक हैं। अतः ये सब समान रूप से श्रुति और अपौरुषेय हैं। उपनिषदों में हमें छोटी-छोटी सारगर्भित उक्तियों और नपे-तुले सूत्रों द्वारा सत्य की विवृत्ति और व्याख्या हुयी मिलती है:

साहित्यिक शोध में समय, समाज और संस्कृति

सर्व खल्विदं ब्रह्म - छान्दोग्य0 3-14-1

नेह नानास्ति किंचन - बृहदा0 4-4-19

एकं सद्द्विप्राबहुधावदन्ति

तेन त्यक्तेनभुंजीथाः मा गृधः कस्यस्वद्धिनम् - ईशावास्य0 1

तत्वमसि - छान्दोग्य0 6-8-7

अहं ब्रह्मास्मि - बृहदारण्य0 1-4-10

एकमेवाद्वितीयम् - छान्दोग्य0 6-2-1

सत्यं ज्ञानं अनंतम् - तैत्तिरीय0 2-1

उपशान्तोऽयमात्मा

चरैवेति चरैवेति - ऐतरेय0 7-33

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः - बृहदारण्य0 2-4-5

उपनिषदों को रहस्योपदेश भी कहा गया क्योंकि इनमें कोई महत्वपूर्ण सत्य सूक्ष्म एवं दार्शनिक रूप में निहित है। ऐतर्शनिक सूत्रों को गुरु द्वारा शिष्यों को उपदेशात्मक शैली में व्यंजित किया गया है। उपनिषद संवाद शैली में लिखे गये हैं। जिनमें जगत की दार्शनिक व्याख्या की गयी है। यह इस प्रकार के ज्ञात साहित्य का प्राचीनतम रूप है इसीलिए इनका मानव चिन्तन में अपरिमित महत्व है। उपनिषद भारत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण दर्शन वेदान्त की पीठिका हैं। ये ऋषियों-मनीषियों द्वारा अनुभूत सत्य हैं।

सम्प्रति लगभग 200 उपनिषद उपलब्ध हैं किन्तु इनमें से ये 12 उपनिषद ही प्राचीन हैं -

1. ईश
2. केन
3. कठ
4. प्रश्न
5. मुण्डक

6. माण्डूक्य
7. तैत्तिरीय
8. ऐतरेय
9. छान्दोग्य
10. बृहदारण्यक
11. कौषीतकि एवं
12. श्वेताश्वतर

उपनिषदों का काल बुद्ध से पहले का माना जाता है। उपनिषदों के संदेशों का कितना महत्व है इसका अनुमान इस बात से सहज ही लगाया जा सकता है कि इन आर्ष ग्रन्थों ने ही सर्वप्रथम विदेशियों को भारत की ओर आकृष्ट किया। मुगल काल में इनका अनुवाद फारसी में किया गया। फारसी से इनका अनुवाद लैटिन भाषा में हुआ जिससे इनकी ख्याति सम्पूर्ण यूरोप में फैल गयी। यूरोपियन दार्शनिक 'शोपेनहावर' उपनिषदों को अपनी मेज पर खुला रखता था। सोने से पहले उसके पृष्ठों का मनन करने की उसकी आदत बन गयी थी।

उपनिषदों में त्याग का उपदेश है किन्तु निरन्तर कर्मशील रहने को भी आवश्यक कहा गया है। औपनिषदीय उपदिष्टि है कि मनुष्य को कर्म का त्याग करके संसार से विरक्त नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि कर्म से व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के विचार का ही पूर्णतः त्याग करना चाहिए। इसे ही बाद में श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा था, जिसे गीता का केन्द्रीयभाव भी माना गया। इस प्रकार उपनिषद हमें कर्म में प्रवृत्ति का संदेश देते हैं कर्म से निवृत्ति का नहीं। इसमें संन्यास की स्थिति बाद में आती है इससे पहले तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ का एक लम्बा क्रम पूरा करना आवश्यक है। संन्यास द्वारा मनुष्य की सारी बुराईयों की जड़ अहंकार को निर्मूल किया जा सकता है।

उपनिषदों के अनुसार प्रत्येक जीव में आत्मा का निवास है। जीव अपने कर्मफलों को अनेक जन्म लेकर भोगता है। जीव ब्रह्म से पृथक्त्व बोध कर ले तो वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जो ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। उपनिषदों के मत से पाप वह है जो जीव अविद्या के कारण इस जगत में स्वाग्रह या अहंकार के कारण नानात्व देखता है, एकत्व नहीं। ज्ञातव्य है कि वैदिक युग में देवताओं की इच्छा के विरुद्ध रहना या यज्ञों को विधि विधान से न करने को पाप माना जाता था। मोक्ष कर्म बंधन से छुटकारा पा लेना है और यह शाश्वत आनन्द की अवस्था है किन्तु मोक्ष मृत्यु के बाद ही प्राप्त हो ऐसा नहीं है यदि मनुष्य चाहे तो इसी जीवन में मोक्ष प्राप्त कर सकता है, जिसे जीवन्मुक्ति कहा गया। मरने के बाद हुयी मुक्ति का विदेहमुक्ति कहा जाता है। मोक्ष प्राप्त करने के

लिए मनुष्य को श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन जैसे साधनों की आवश्यकता बतायी गयी है, जिससे वह शम, दम, उपरति, तितिक्षा एवं समाहित होकर आत्मस्थ हो सके।

उपनिषदों में साधना के विभिन्न पक्षों का वर्णन आया है। ऋषियों द्वारा रचित इन ग्रन्थों में व्यक्ति को पूर्ण बनाने पर जोर तो है ही; सामाजिक नैतिकता पर भी पूरा विचार किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आया है कि मनुष्य को तब तक समाज का त्याग नहीं करना चाहिए जब तक वह समाज के पगति अपने कर्तव्य को पूरा न कर ले और एक तरह से उसकी सद्भावना न प्राप्त कर ले देखें शंकर का भाष्य 1-4-10 इसी उपनिषद् 5-2 में एक वर्णन मिलता है। इस विश्व में देव, मनुष्य और दैत्य तीन प्रकार के लोग हैं ये सब प्रजापति की सन्तान हैं। प्रजापति से इनके पुत्रगण अपने आचरण के बारे में पूछते हैं। प्रजापिता संक्षिप्त उत्तर में दैत्यों से कहते हैं मनुष्य पर दया करो दयध्वम, मनुष्यों से कहते हैं दानी बनो दत्त और देवों को यह कि आत्मसंयम सीखो दाम्यत। इस प्रकार क्षमता और स्वभाव के अनुसार साधनों के लिए नैतिक साधना के लिए अलग-अलग कोटियों की व्यवस्था आवश्यक है। देवों के लिए दिया उपदेश पिछली दो अवस्थाओं का अभ्यास पूरा होने के बाद ही सर्वोत्तम माना जा सकता है।

उपनिषदों के ऐसे सारगर्भित आख्यानो से हमें जीवन-दृष्टि मिलती है; भले-बुरे का विवेक होता है। उपनिषद् हमें किंकर्तव्यविमूढावस्था से उबारते हैं; सत्कर्म और सन्मार्ग पर चलने को संकल्पित करते हैं। यहाँ पर छान्दोग्योपनिषद् का एक ऐसा ही आख्यान देना अनुपयुक्त न होगा-

एक बार कुरुदेश में ओलों की वर्षा से भयंकर अकाल पड़ा। वहाँ उषस्ति नामक एक ब्राह्मण रहते थे। दुष्काल से पीड़ित होकर वे अपनी पत्नी को लेकर भटकते-भटकते महावतों के एक ग्राम में पहुँचे। महावत एक वर्तन में रखे उड़द खा रहा था। भूख से मरणासन्न उषस्ति ने उनमें से कुछ उड़द अपने लिए मांगे। इस पर महावत ने थोड़े से उड़द देकर कहा 'लो, उड़द खा कर जल पी लो'। उषस्ति ने कहा - इस जलपान से मुझे उच्छिष्ट पान का दोष लगेगा महावत ने साश्चर्य पूछा कि ये उड़द भी तो हमारे जूठे हैं, फिर जल में ही उच्छिष्ट दोष क्यों? उषस्ति ने कहा 'भाई! मैं यदि यह उड़द न खाता तो मेरे प्राण निकल जाते। प्राणों की रक्षा के लिए आपद्धर्म की व्यवस्थानुसार ही मैं उड़द खा रहा हूँ, पर जल तो अन्यत्र भी मिल जाएगा। यदि उड़द की तरह मैं तुम्हारा जूठा जल भी पी लूँ तब तो वह स्वेच्छाचार हो जाएगा। इसलिए भैया! मैं तुम्हारा जल नहीं पीऊँगा'। यह कहकर उषस्ति ने कुछ उड़द स्वयं खा लिए और शेष अपनी पत्नी को दे दिए। इस प्रकार उपनिषदों की कथाओं से हमें जीवनचर्या का मार्गदर्शन प्राप्त होता है।

प्रकाशित कुरुक्षेत्र संदेश सितंबर 2007 वर्ष 3 अंक 2

## बुंदेली लोक संस्कृति: एक बानगी

(‘भइया अपने गांव में’ के संदर्भ में)

‘भइया अपने गांव में’ बुंदेली बोली में इसी अंचल के बारे में रचित मुक्तकों का संग्रह है। इन मुक्तकों में बुंदेलखंड की विलुप्त होती लोकरीति का सुंदर संगुम्फन हुआ है। ऐसे समय में जहां आधुनिकता और उसकी उत्तरोत्तरता में परंपरा और संस्कृति के अवशेष मात्र बचे हैं, बुंदेली के इन पदों को पढ़कर हम पाते हैं कि हम इस दौर से कितना आगे निकल आए हैं। किसी संस्कृति के मूल स्वरूप का दर्शन आधुनिक समाज में दुष्कर हो गया है। समय परिवर्तनशील है, किंतु समाज उससे भी अधिक वेग से प्रतिपल बदलता जा रहा है। पल भर को भरपूर जी लेने की आकांक्षा मनुष्य में बलवती हो गई है। मनुष्य पुरातन से विच्छिन्न हो रहा है, आधुनिक पीढ़ी का एक वर्ग अपनी धरोहर को संजोने को अवांछित-सा मानने लगा है। ऐसे में इन पदों से गुजरते हुए पाठक को बरबस अपने जिए हुए समय का स्मरण हो आता है।

यह पद बुंदेलखंड के गांवों की संस्कृति को कुछ चुने हुए रूपों के साथ तो प्रस्तुत करते ही हैं, बुंदेली बोली के माधुर्य और अप्रचलित शब्दों का सुमधुर पाठ भी हमारे सम्मुख रखते हैं। भारत प्रमुखतः गांवों का देश है, अतः यहां के गांवों की समृद्धि होने पर ही देश की खुशहाली संभव है। बोली का मूल प्रयोग गांवों में हुआ है। भाषा के स्तर पर जो बोली जितनी अधिक संपन्न है और उसमें जितना अधिक साहित्य-सृजन हुआ हो, उससे हमारी राष्ट्रीय भाषाएं उतनी ही समुन्नत होती हैं। यह विदित है कि आधुनिकता के बढ़ते दबाव के बीच बोलियां समाप्त हो रहीं हैं। जिस बोली में व्यक्ति लिखना-पढ़ना बंद कर देते हैं, बोलने के स्तर पर वह बहुत अधिक समय तक ज़िंदा नहीं रह सकती। बोली का वाचिक रूप उसके लिखित रूप से संरक्षित और सुरक्षित रहता है, अन्यथा वह बोली अनेक दबावों के चलते अप्रचलित हो जाती है। आदिवासियों की भाषाओं के विलुप्तीकरण का यह प्रमुख कारण है। वर्तमान में पठनशीलता का पतन हो गया है। पुस्तक और पत्रिकाओं का मात्रात्मक प्रकाशन तो बढ़ा है, किंतु यह सर्वमान्य है कि गंभीर पाठक अब बहुत थोड़े ही रह गए हैं। आज की भाग-दौड़ भरी ज़िंदगी में जो आंखों के सामने से क्षणिक रूप में गुजरा, उसी पर दृष्टिपात कर पाठक संतृप्त हो रहा है। पढ़ने के तौर-तरीके बदल रहे हैं, अब फेसबुक, ट्विटर और अन्य सोशल नेटवर्किंग वेबसाइट भी पढ़ने के प्रभावी और उपलब्ध माध्यम बन गए हैं। इनसे जुड़ा पाठक तकनीकी की सीमाओं और सुविधाओं तथा सूचनाओं के अंबार के चलते थोड़े समय में ही अधिक पा लेने की चाह में है। इसलिए लिखना और अपनी प्रतिक्रिया देना भी अब त्वरित हो गया है, क्योंकि इन माध्यमों पर उसका भी अवसर सुलभ है। क्षण-प्रतिक्षण

आ रहीं सूचनाओं के बीच मूल्यों और संवेदनाओं का ठहराव नहीं हो पा रहा है। कुछ लोगों का मानना है कि यह ठीक ही है, जो अच्छा होगा, वही टिकेगा; किंतु वास्तव में कुछ जम नहीं रहा है तो क्या इसका अर्थ है कि कुछ अच्छा नहीं लिखा जा रहा है। बात वास्तव में ऐसी नहीं है, अच्छे को देखने की हमारी आदतें छीन ली गई हैं। हमें उपभोक्ता बना दिया गया है। यह विज्ञापन युग है और विज्ञापन का लक्ष्य है कि उपभोक्ता की जेब से पैसे निकालना है, चाहे विधि कोई हो। इसीलिए जब विज्ञापन मोहक अंदाज में किसी उत्पाद की ऐसी विशेषता बताता है जो उसमें है ही नहीं तो भी उपभोक्ता उसके झांसे में आ जाता है। कोई क्रीम किस तरह काले को गोरा कर सकती है, इसे विज्ञापन ही संभव बनाता है। इस तरह के विज्ञापन और विज्ञापनवाद से पार जाने की चुनौती संवेदनशील मनुष्य के लिए बनी हुई है। मनुष्य को संवेदनशील बनाने में साहित्य का महती योगदान होता है।

साहित्य का प्रभाव तब पड़े जब उसमें लेखन और पठन होता रहे, किंतु पठनीयता का बढ़ता अभाव इस दौर का एक अलग संकट है और यह ऐसा संकट है जो कई तरह की समस्याओं को जन्म देता है। पाठक अब महाकाव्यों और उपन्यासों को भारी भरकम मानता है, रिमोट संस्कृति जो चल पड़ी है। रिमोट के बटन को दबाने के क्रम में जो दर्शक को मिल जाता है, उसी में संतुष्ट होने की विवशता हो गई है। तुरा यह कि टेलीविजन के नियंत्रता और प्रसारक दुहाई देते हैं कि जो दर्शक को पसंद है, वही दिखाया जा रहा है। यह वैसे ही है, जैसे सरकारें कहती हैं कि हमें पांच साल के लिए जनता ने चुन के भेजा है अतः हम जो करेंगे वही जनता के लिए आवश्यक और उत्तम है, जिसके परिणाम में महंगाई और भ्रष्टाचार बढ़ता ही जा रहा है; किंतु इन सबसे अलग, इस संग्रह के मुक्तक पाठक को रमाते हैं लेकिन रिमोट की तरह इसका आनंद क्षणिक नहीं होता। यह मुक्तक पढ़कर पाठक सोचने को अभिमुख होता है कि हमारी संस्कृति में बहुत कुछ था, जो पूरी तरह संजोने योग्य है। संग्रह सबके लिए बोधगम्य बने, इसके लिए कुछ अपरिचित-से सात सौ चालीस शब्दों का प्रसंगानुसार अर्थ दे दिया गया है, प्रयास यह किया गया है कि इस त्वरा-युग में पाठक को शब्दकोष का सहारा न लेना पड़े।

इस संग्रह के पदों को उनमें वर्णित सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकृत किया गया है, फिर भी पाठक किसी भी मुक्तक को पढ़कर उसके साथ जुड़ा हुआ पाता है। इससे बुंदेलीतर पाठक के मन में बुंदेली बोली और साहित्य के प्रति ही लगाव उत्पन्न नहीं होगा, अपितु उसे अपने अंचल और आंचलिकता के प्रति भी आकर्षण और गरिमा बोध उत्पन्न होगा। इन पदों में बुंदेली लोक गाथाओं, इतिहास, टहूका, लोकदेवता, कहावतों और लोकोक्तियों, दर्शन-रहस्य, अहाने-अटका, किस्सा-कहानियों का वर्णन-स्मरण हुआ है, जिनके सहारे बुंदेली वर्तन, कृषि संपदा, वाद्य यंत्र, खाद्य पदार्थ, आभूषण इत्यादि की अप्रचलित शब्दावली का लालित्य-दर्शन हो गया है। मनुष्यों की भाँति शब्दों का भी अपना जन्म-स्थान तथा इतिहास होता है। शब्दों की यात्रा देश-विदेश में परस्पर होती रहती है। इस यात्रा में उनका स्वरूप परिवर्तित होना स्वाभाविक है। हिंदी में कितने ही विदेशी शब्दों की स्वीकृति हो गई है, इसी तरह

अंग्रेजी में भी हिंदी सहित अन्य भाषाओं के अनेक शब्द मान्य हो चुके हैं। शासन और शासक अपना प्रभाव किसी भाषा पर छोड़ते ही हैं। ऐसे में, कदाचित्; जो भाषा की समझ कम रखते हैं, उनकी तरफ से यह कहा जा सकता है कि बूंदेली या किसी बोली के अप्रचलित शब्दों को आज के पाठक के सामने लाने का क्या तुक है? किंतु अधिकांश विद्वानों की भाँति मेरा मानना है कि हिंदी के पाठकों और श्रोताओं के बीच अपनी बोलियों के शब्दों, उनके बदलते अर्थ, रस, गुण और उसके मूल आशय से संबंधित जितनी जानकारी बढ़ेगी, उतना ही वे जीवन और कला के रस को खींचेंगे। साथ ही हमारी राष्ट्रभाषाएं संपन्नतर होती चलेंगी। आज की अनर्गल, अटपटी हिंगलिश या किताबी हिंदी के व्यवहार से दैनंदिन कामकाज भले चल जाए, किंतु ज्ञान-विज्ञान की भाषा बनने के लिए किसी भाषा को परिचित और विपुल शब्द भण्डार जुटाना होगा।

हम जानते हैं कि भारतीय भाषाएं अपनी-अपनी उपभाषाओं अर्थात् बोलियों के अपरिमित भण्डार और संप्रेषणीयता के कारण रसपूर्ण एवं क्षमता संपन्न हैं, किंतु हमारी त्वरा और आलस्य ने उसे अभी तक पाठकों के सम्मुख पूरी तरह प्रस्तुत करने का काम नहीं किया है। प्राचीन भाषा-शास्त्री शाकटायन जब कहते हैं कि 'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' अर्थात् हर शब्द के भीतर उसके जन्म की कहानी छिपी होती है। शब्द का मर्म और इतिहास खोजने के लिए उसका क्रियारूप जानना आवश्यक होता है। अर्थ के सभी स्तरों को समझे बिना क्रियारूप नहीं समझा जा सकता है। शब्दों का क्रियारूप जानने की दृष्टि से बोलियां और उनका साहित्य सर्वाधिक स्रोतपूर्ण माध्यम है। एक उदाहरण से बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। रोटी चाहे बेलकर कर बनाएं या हाथ से थपकाकर, मानक हिंदी में दोनों के लिए 'रोटी बनाना' कहा जाता है, किंतु बूंदेली में हाथ से रोटी बनाने की क्रिया को अलग से 'पै/पड़' कहा जाता है। इस संग्रह के एक पद की पंक्ति है-

'जितै परोसन की बउएं मिल कै रोटी पै रड़।'

समझने में मुश्किल तब और बढ़ जाती है, जब इस प्रकार के शब्द हिंदी और बूंदेली शब्दकाशों में उपलब्ध नहीं होते। यह शब्द संस्कृत चर्पटी (हाथों से थपकाकर आकार पाने वाली) शब्द का ही विकसित रूप है।

स्वाभाविक तौर पर किसी रचना में रचनाकार का आत्मवृत्त झाँकता है। इस संग्रह में भी कवि ने अपने बारे में यत्र-तत्र संकेत किए हैं। पारदर्शी ईमानदारी के साथ अपनी सीमाओं, अपने संदेहों, अपनी व्यथा और अपनी निष्ठा को कवि ने ध्वनित किया है-'नौनी-बुरड़ मांग, मांगबे में जौ मन मैलो भओ' । और 'पैलउं पुरखन नै कै दड़ फिर 'मधुप' बेड़ पछयावं में।'

कवि के वाग्वैदग्ध्य ने वर्णनों की भावुकता और कविताई के बोझ को रचना में फटकने नहीं दिया है-



‘चैते चुका दियौ उदार को नुंगरौ हमें उठा दो।

मुंस की छाती एक बार जे कै रड़ं बेउ पटा दो’ ॥

संग्रह में हास-परिहास तो है, लेकिन कलात्मक गंभीरता एवं उद्देश्य परकता के कारण उसने फूहड़ता और अश्लीलता का स्पर्श भी नहीं किया है, जो बोलियों पर एक आम-प्रचलित आरोप है। एकाध जगह चट्ट, दारी, छिनरा, छाकड़ जैसी गालियों का प्रसंगानुकूल प्रयोग है। दहेज समस्या, पर्यावरण प्रदूषण आदि की समस्या का रोचक प्रस्तुतीकरण हुआ है। मनुष्य के संघर्षशील जीवन में कैसी-कैसी क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं संघटित होती हैं, उनका चित्रण इस संग्रह में पढ़ते ही बनता है। एक बानगी देखिए-

‘एक ब्याव में न्यौतें गए देखो दोउ समदी लर रए।

मोें माँगे कल्दार गिना लए कौंठा तोउ न भर रए॥

मड़वा तरें बाप बिटिया कौ दो-दो अँसुवन रो रओ।

जित्ती हती हैसियत उल्लौ काड़ दायजौ धर दओ॥

लरका वारौ आँखें काड़ें उचकत नाक फुलाव में।’

इन पदों को पढ़कर हम यह भी कह सकते हैं कि रचयिता ने सजग प्रहरी की भाँति मनुष्य के हृदय को मानवता के प्रति आस्थावान बनाए रखने में अपना योगदान किया है। रचना की प्रतिध्वनि है कि उदारीकरण के इस दौर में गांव और शहर का भेद समाप्त हो रहा है, शहर में शामिल होने या शहरी जैसा होने में गांव और गांव वाले धन्यता समझने लगे हैं, लेकिन शहरों की भयावहता को देखकर गांव में ही देश का भविष्य सुरक्षित नज़र आता है। इसे कुछ आलोचक नॉस्टेल्लिजिया मान सकते हैं, पर आखिर इसके सिवा कोई चारा भी तो नहीं दिखता।

‘भड़या अपने गांव में’ में गांव की विशेषताएं अपने यथार्थ स्वरूप में बिना लाग-लपेट के रखी गई हैं। गांव में ऐसा भी होता है-

‘ऊपर सें मौ मीठी बातें मन में राखें मैल खों।

अगल-बगल में पाछें जोतें पैलउं जोतें गैल खों’ ॥

ग्रामीण अपनी बात को ठेठ अंदाज में कहने के आदी होते हैं। इसीलिए गांव की बोली और उसके मुहावरे की अपनी पहचान हुआ करती है, बाद के दिनों में गांवों में आधुनिकता का संक्रमण जिस तरह हुआ, उसका चित्रण भी इस संग्रह में दृष्टव्य है। यही नहीं दबे-कुचले वर्ग द्वारा विद्रोह के स्वर भी स्पष्ट रूप से इन मुक्तकों में दिखे हैं, जो रचयिता के युग-बोध का परिचायक है।

गांव में लोक बसता है। लोकमानस चीजों को समग्रता से देखता है। वह किसी की परवाह नहीं करता, उसमें बड़े से बड़े सम्राटों को सिखाने की क्षमता होती है। लोक प्रकृति और जीवन से निरंतर जुड़ा रहता है, वह अनुभव से सीखता है। लोक द्वारा रचित साहित्य ज्ञान की वाचिक परंपरा है। लोक में श्रद्धाभाव का साक्षात्कार होता है। जो विद्वान लोक को अनगढ़, अशिष्ट, असभ्य, अर्द्धसभ्य, जंगली, आदिवासी, मूढ़, अपढ़, गंवार या अज्ञानी मानते हैं, वे वास्तविकता से दूर हैं। यह स्थापित है कि सभ्यता का मूल स्रोत लोक ही है, शास्त्र ने उसका विकास किया है। शास्त्र ने अपना विकसित रूप फिर लोक को दिया तथा लोक में वह फिर आगे बढ़ा। गांव में जो लोक बसता है, वह व्यक्ति के मन को बाँधता है; संस्कारित करता है और उसे सामाजिक बनाता है। इस संग्रह में आई लोक की उक्तियां व्यक्ति के मन को दुलारती हैं, डाँटती हैं, फटकारती हैं, व्यंग्य-वाणों का प्रहार भी करती हैं तो समझाती भी हैं। व्यक्ति का मार्गदर्शन करने वाले, उचित और अनुचित,, पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ, सही और ग़लत के विवेक की प्रतिष्ठा इस संग्रह के पदों के केंद्र में आए 'लोक' द्वारा संभव हुई है। इसीलिए इन पदों को पढ़कर पाठक भावित होता है, क्योंकि लोक उसके भीतर भी बैठा है। उल्लेखनीय है कि लोग शब्द की व्युत्पत्ति 'लोक' से ही हुई है। आधुनिक और उत्तर आधुनिक व्यक्ति में भी अपने परिवेश और परंपरा के योग से युगों के संस्कार बसे होते हैं और जैसे धरती में छिपे हुए बीज अनुकूल ऋतु आने पर अंकुरित हो जाते हैं, वैसे ही आधुनिक मानस में भी वे मूल संस्कार ऐसी रचनाओं को पढ़कर जाग जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति अपनी परंपरा से कट ही नहीं सकता, वरना वह 'लोग' कैसे रहेगा।

व्यक्ति का मूल और आदिगृह गांव ही है, शेष बाहरी और बाद के हैं। शेष तो वैसा ही है, जैसे किसी शरीर पर पहने हुए वस्त्र। गांव संस्कृत 'ग्राम' का तद्भव शब्द है। ग्राम का वैयुत्पत्तिक अर्थ 'समूह' होता है। घरों के समूह को गांव कहा गया। गांव सभ्यता की प्रारंभिक इकाई है। सर्वप्रथम गांव अकृत्रिम रूप से अस्तित्व में आए, किंतु अब 'राही' ग्वालियरी के शब्दों में यदि कहें- 'गांव गुम शहर की ज़मीनों में, आदमी खो गए मशीनों में। हर तरफ आग ही आग लगी क्यूं है, देश के सावनी महीनां में। आपका ये सफर ना तै होगा, बैठकर कागज़ी सफीनों में। आज पत्थर तलाशता हूं, कल ये गिने जाएंगे नगीनों में।'

फिर भी, गांव में आज भी अपनापा है; सौजन्य है; सौम्यता है; सरलता और सादगी है; सहयोग है; सहकार है; संवेदनशीलता है; संस्कार हैं। दुरभिसंधियां भी हैं, किंतु गांव से जुड़कर व्यक्ति बाहरी विशिष्टताओं के आवरण को उतार देता है और अपने को धरातल से संलग्न महसूस करता है। गांव से मृत्यु-पर्यंत जुड़े रहे बाबा नागार्जुन को अपनी छोटी सी कविता 'सिंदूर तिलकित भाल' में जब अपने तरउनी गांव के एक-एक उपादान की याद आती है तो पाठक भी अपने 'तरउनी' से जुड़े बिना नहीं रह पाता; क्योंकि नागार्जुन की पीड़ा है कि अन्यत्र जीवन भर रह लेने के बाद भी लोग प्रवासी ही कहेंगे। 'गांव' और 'लोक' शब्द दो हैं, किंतु इनकी अंतर्ध्वनि एक ही है। लोक जहां अपने मूल में बसता है, वह गांव ही है। किसी राष्ट्र को चलाने और दिशा निर्धारण के लिए लोक-स्वीकृति अनिवार्य है। इसीलिए अपने देश में लोकसभा और लोकतंत्र जैसे शब्द और व्यवस्था स्वीकृत हैं। भाषाशास्त्री पतंजलि ने भाषा संबंधी विवेचन में लोक को अंतिम प्रमाण माना है। धर्मशास्त्र में लोकविरुद्ध कार्य को अस्वीकार्य कहा गया- "यद्यपि सिद्धं लोकविरुद्धं नाकरणीयम् नाचरणीयम्" । प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि जो शास्त्र को जानता है; लोक को नहीं जानता, वह मूर्खतुल्य है "शास्त्रज्ञोऽप्यलोकज्ञो भवेन्मूर्खतुल्यः" ।

लोक में अनेकता और वैविध्य है, फिर भी उसकी अंतर्धारा एकता और समानता की है। विजित और विजेता दोनों का ज्ञान और संस्कृति लोक की व्यापकता में अंतर्भुक्त हो जाती है। यहां तक कि अभिजात चेतना जिसको कहा जाता है, वह भी लोक में मिलकर धन्यता का अनुभव करती है।

प्रस्तुत संग्रह में आए अनसुने-से शब्दों के दिए गए क्रियापरक अर्थ यथासंभव उनकी व्युत्पत्ति से जोड़ते हुए किए गए हैं, जिससे पाठक रचनाकार की भावभूमि से ही काव्य का आस्वाद ग्रहण कर सके। वर्तमान में हिंदी में यों भी सृजनशीलता घट गई है, हिंदी की बोलियों के सामने तो उनके अस्तित्व का संकट मंडरा रहा है। बोलियों के साहित्य में सामान्य पाठक तक सहजता से पहुँच सकने वाली ऐसी बोधगम्य भावपूर्ण कृतिबों की कमी है, जो अपने समय और समाज का यथार्थ एवं वास्तविक चित्रण करते हुए साहित्य की श्रीवृद्धि करें। यह संग्रह हिंदी साहित्य में इस अभाव की पूर्ति में किया जाने वाला एक सत्प्रयास सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। सब मिलाकर यह एक पठनीय बूंदेली काव्य है जिसके बारे में श्री वीरेंद्र केशव साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पं. हरिविष्णु अवस्थी ने कहा है- 'लंबी कविताएं लिखने का एक इतिहास रहा है, कुछ समय से लंबी कविताओं के स्थान पर छोटी-छोटी कविताएं लिखने का चलन चल पड़ा था। 'भइया अपने गांव में' शीर्षक रचना इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में बूंदेली बोली में रची प्रथम लंबी रचना है। वस्तुतः कवि की इस लंबी काव्य रचना का उद्देश्य दूरस्थ अंचल में स्थित ग्राम्य जीवन की सजीव एवं नयनाभिराम झांकी उनकी ही बोली-वानी (ग्रामीण बूंदेली) में प्रस्तुत करना प्रतीत होता है। कवि को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।' साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त बंगला-हिंदी अनुवादक वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. रामशंकर द्विवेदी का कहना है- 'किसी भी साहित्यिक भाषा में जीवंतता के अनुपात का माप उसमें प्रयुक्त होने वाली

शब्दावली है। इस प्रकार देखा जाए तो बुंदेली की ठेठ शब्दावली की रक्षा की इधर बहुत बड़ी जरूरत हो गई है। इस शब्दावली को बचाने का एकमात्र उपाय उसे रचना की भाषा बनाना है। इस दृष्टि से पं० बाबूलाल द्विवेदी 'मधुप' जी का यह प्रयास स्तुत्य और सराहनीय है। वहीं बुंदेली शब्दकोशकार एवं लोक साहित्यकार डॉ. कैलाश बिहारी द्विवेदी के अनुसार 'पूर्वावस्था से तुलना के कारण कवि के भावुक मन में यह प्रश्न बार-बार उठता है कि 'कितने हिरा गए बे नौने दिन.....।' कहीं-कहीं इस भाव-यात्रा में कुछ इतिहास आदि की बातें भी आ जाती हैं, जो विषय की दृष्टि से अप्रासंगिक और बेमेल सी लगती हैं; परंतु उन्हें परिस्थितियों से खिन्न एवं उदास मन के उच्छ्वास मानना चाहिए।' हिंदी और बुंदेली के साहित्यकार डॉ दुर्गेश दीक्षित का आकलन है 'ई हैरानगती में जो थोरौ-भौत लिखत-पड़त हैं सो भौत बड़ी बात है। कछू दिना सेें बुंदेली में भौत काम होत दिखा रओ। पद्य तो आल्हखंड, ईसुरी सें लेकें आजनों खूब लिखो गओ। और तो और इतैं के विश्वविद्यालयन में बुंदेली पड़ाई जान लगी है। आकासवानी उर दूरदरसन के केंद्रन सें ईकौ प्रसारन होन लगो है। निबंध, नाटक, कहानी उर उपन्यास नौं बुंदेली में लिखे जान लगे। कैउ पत्रिकां सुद्ध बुंदेली में छपी जान लगीं। अब बताओ ऐसे में हमाए पं० बाबूलाल जू दुवेदी कैसैं पाछैं रैं सकत ते। संस्कृत के भौत बड़े पंडित होबे के संगै बुंदेली साहित्य उर संस्कृति में जे खूब रचे-बसे हैं। मां बुंदेली की तो उनके ऊपर पूरी किरपा हैइ। भासा, छंद उर ब्यंजना की उनें पकड़ है। छिल्ला जैसे हलके से गांव में रैंकें इत्तौ अच्छौं गं्रथ लिखबौ कछू हंसी खेल नइयां। सांसी कइ जाय तो जौ उनकी एकांत साधना कौ सुफल है।' उपन्यासकार सुरेंद्र नायक ने कहा है 'इसमें कवि का वह स्वप्निल स्मृति लोक समाहित है, जिसको कवि ने स्वयं जिया है। कविताएं अतीतजीवी होते हुए भी यदा-कदा वर्तमान में संक्रमण करती हैं, जहां कवि प्रकारांतर से वर्तमान के तनावपूर्ण एवं जटिल परिवेश के प्रति अपना आक्रोश, प्रतिरोध एवं क्षोभ व्यक्त करता है।' भास्कर सिंह 'माणिक्य' 'युगकवि' कहते हैं 'यह संग्रह विविधता से परिपूर्ण है। इन कविताओं में हर स्थान पर बुंदेली लोक जीवन प्रतिध्वनित हो रहा है।' बुंदेली कवि रामरूप स्वर्णकार 'पंकज' कहते हैं 'आपकी एक-एक लाइन अपुन कौं बुंदेलखंड की धरती की जानकारी करा रई जैसें इतैं के रीति-रिवाजन, परंपराओं, तीज-त्योहारन, चाल-चलन की बात बता रई।'

प्रासीडिंग 'बुंदेली लोकसंस्कृति क्षरण एवं संरक्षण' में प्रकाशित 20-21 जनवरी 12 को हुई कांफ्रेंस में राजकीय महिला महाविद्यालय बांदा

## भ्रष्टाचार निरोध में सूचना का अधिकार अधिनियम की भूमिका

अनेक समाजसेवियों के लंबे संघर्ष के बाद सूचना का अधिकार अधिनियम बन सका। वास्तव में यह दुनिया सर्वदा एक जैसी नहीं रह सकती, समय और आवश्यकता के अनुसार यह परिवर्तित होती रहती है। इसीलिए आदिम और कबीलाई समाज व्यवस्था से प्रारंभ होकर यह दुनिया राजतंत्र, औपनिवेशिक और समाजवादी शासन से लेकर लोकतांत्रिक व्यवस्था के दौर में आ पहुंची है। वर्तमान में संपूर्ण विश्व में पारदर्शितापूर्ण सुशासन व्यवस्था पर जोर दिया जा रहा है। दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा देश भारत भी इससे कैसे पीछे रह सकता है। भारत के शासन-प्रशासन में निष्पक्षता और पारदर्शिता का वातावरण दुनिया और स्वयं देशवासियों के दबाव से बन रहा है। तकनीकी प्रसार ने पारदर्शिता के लिए ज़रूरी माध्यम और सुविधा प्रदान की है। समाज जितना तकनीकीक्षम होता जाएगा, उसे पारदर्शिता की आवश्यकता और इससे प्राप्त सुविधा उतनी ही अधिक महसूस होती जाएगी।

इसी क्रम में भारत के विभिन्न सरकारी कार्यालयों में शासन-प्रशासन को पारदर्शी और जवाबदेह बनाने के उद्देश्य से सूचना का अधिकार अधिनियम देश की संसद द्वारा पारित होकर 12 अक्टूबर 2005 को लागू किया गया और यह केंद्र के साथ-साथ देश के सभी राज्यों में भी अस्तित्व में आ गया। यह अधिनियम नागरिकों को सामान्यतः उसी प्रकार सूचना प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करता है, जैसा देश के सांसदों को प्रदान किया गया है।

कोई भी कानून हो, जब तक उसे सही ढंग से अमल में नहीं लाया जाता, उसका अपेक्षित प्रभाव और परिणाम नहीं मिल सकता। सूचना का अधिकार अधिनियम के साथ भी ऐसा ही है, यह अधिनियम अन्य अधिनियमों की तुलना में लघु है, इसका प्रयोग भी सुकर है; लेकिन उद्योग प्रदेश में इस अधिनियम का वांछनीय प्रयोग और परिणाम देखने को नहीं मिल रहा है। इस कानून का प्रयोग इसके लागू होने के छः वर्ष बाद भी आम आदमी द्वारा संभव नहीं हो पाया है। कानून के बारे में प्रदेश के जनमानस की अनभिज्ञता और नौकरशाही द्वारा विविध प्रकार से उसे हतोत्साहित किए जाने के कारण जनता का यह विश्वास पुख्ता हुआ है कि यहां से भ्रष्टाचार दूर होना असंभव-सा है। यही नहीं, पढ़े-लिखे और इस कानून के बारे में पर्याप्त जानकारी रखने वाले व्यक्तियों को भी अधिनियम के माध्यम से सूचना प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अधिकांश जनसूचना अधिकारी निर्धारित अवधि में सूचना उपलब्ध नहीं करवाते। कुछ कार्यालय सूचना प्रदान किए जाने की निर्धारित अवधि में अपना जवाब तैयार करके रख लेते हैं, उस पर डिस्पैच नंबर डाल देते हैं, किंतु वह पत्र आवेदक को उपलब्ध नहीं कराते। मैंने एक कार्यालय में देखा कि वहां के कर्मचारियों द्वारा सूचना आवेदन पर मनमाना शुल्क बिना आगणन किए हुए मांग लिया गया और

एतत्संबंधी पत्र तब पंजीकृत/स्पीड पोस्ट द्वारा भेजा गया, जब प्रथम और द्वितीय अपीलें की जा चुकी थीं। अगर अपीलें नहीं की जातीं, तो वह (शुल्क मांग संबंधी) पत्र भी उपलब्ध नहीं होता। सूचना उपलब्ध न कराने पर प्रथम अपीलीय अधिकारी जनसूचना अधिकारियों पर किसी प्रकार की कार्रवाई तो करते ही नहीं, सूचना भी उपलब्ध नहीं करवाते। नियमतः जनसूचना अधिकारी द्वारा यदि सूचना उपलब्ध नहीं कराई जाती तो प्रथम अपीलीय अधिकारी को सूचना उपलब्ध करानी चाहिए। कुछ अधिकारियों ने कहा कि उनके विभागों पर पहले से काम का अधिक दबाव था और अब सूचना का अधिकार अधिनियम का पालन करने में और कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। यदि ऐसा है तो कार्यालयों को काम-काज की अधिकता के आधार पर पद सृजित करवाने का प्रावधान सुनिश्चित करवाना उपयुक्त होगा। हर विभाग में सूचना आवेदनों की अधिकता नहीं है, जिस विभाग की कार्यप्रणाली टालमटोल करने वाली होती है, सूचना आवेदनों की अधिकता उसी विभाग में रहती है। आवेदक जब द्वितीय अपील में सूचना आयोग जाते हैं, वहां अपीलों के बोझ और ऊपर से सूचना आयुक्तों की कमी के कारण सुनवाई में बहुत समय लग जाता है। आयोग के कार्मिक और सूचना आयुक्त भी यह मानते हैं कि आवेदक अधिकारियों को ब्लैकमेल करने के लिए सूचना मांगते हैं। मुझे स्वयं एक सूचना आयुक्त ने कहा कि “क्या ठेका ले रखा है तुमने।” इससे अधिक हास्यास्पद और निराधार बात किसी सूचना आयोग के लिए क्या हो सकती है कि वह स्वयं आवेदकों पर संदेह करता है। आयोगों पर जनसूचना अधिकारियों द्वारा सूचना प्रदान करवाने और न प्रदान करने पर जुर्माना और अनुशासनिक कार्रवाई करने की जिम्मेदारी दी गई है, किंतु यहां तो दुष्प्रयत्न कुमार का वह शेर याद आता है कि-

कहां तो तय था चिरागां हर घर के लिए,

कहां रोशनी भी मयस्सर नहीं शहर के लिए।

जिन जनसूचना अधिकारियों पर आर्थिक दंड अधिरोपित किया जाता है, वे यदि इसे न भरें तो कोई निगरानी करने वाला नहीं, इस प्रकार के समाचार आए दिन अखबारों में आते रहते हैं। किसी जनसूचना अधिकारी पर अनुशासनिक कार्रवाई हुई हो, ऐसा कदाचित् ही सुना जाता है।

इस अधिनियम में ही जनसूचना अधिकारियों को पूरी छूट और शक्ति प्रदत्ता की गई है कि विभाग द्वारा धारित अभिलेखों की सूचना प्रदान करने के लिए ही उस विभाग का प्रमुख उत्तरदाई है। अधिनियम में व्यवस्था है कि जो आवेदक जितनी अधिक सूचना मांगेगा, उसे उतना अधिक शुल्क का भुगतान भी करना होगा। यही नहीं अधिनियम की धारा 8 और 9 के अंतर्गत सूचना प्रकटीकरण से भी छूट मिली हुई है। धारा 11 किसी अन्य व्यक्ति संबंधी सूचना का निर्धारण करने की शक्ति भी जनसूचना अधिकारियों को प्रदान करती है, फिर कोई नागरिक किसी अधिकारी को कैसे ब्लैकमेल कर सकता है? अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि जिस भ्रष्टाचार को रोकने के लिए इस अधिनियम को लाया गया, वही भ्रष्टाचार सूचना आयोगों में भी देखा जाने लगा है। यहां के कार्मिकों को अपनी जेबें गरम करते

हुए देखा जा सकता है। इसीलिए जब लोकपाल की नियुक्ति और उन्हें हटाने के अधिकारों पर गंभीर बहस चल रही हो तो इसके निहितार्थ और पृष्ठभूमि में सूचना का अधिकार अधिनियम की इसी प्रकार की खूबियां और खामियां भी हैं।

इस अधिनियम के परिणाम को भी अपने अनुभव के आधार पर परखा गया है, जो मुझे इस लेख के लिए अधिक काम्य जान पड़ता है। बहुधा, सूचना आवेदन करने पर जनसूचना अधिकारी आवेदक की मंशा को समझने का प्रयास करते हैं। सूचना आवेदन में किसी प्रकार की कमी न पाए जाने और आवेदक द्वारा समय-समय पर अपीलें प्रस्तुत करने पर ही सूचना मिल पाती हैं। आवेदक को एक विभाग में कई बार सूचना मांगने के लिए विवश होना पड़ता है। यद्यपि आवेदक को सूचना मांगने का कारण बताना आवश्यक नहीं, किंतु जनसूचना अधिकारी आवेदक का काम निपटाने के लिए कहीं-न-कहीं तत्पर हो जाता है। इस प्रकार यदि आवेदक का स्वयं का काम इस अधिनियम के माध्यम से पूरा हो जाता है, तो भी यह सफलता है; भले आंशिक हो। अधिनियम की यही सफलता इस प्रदेश में मानी जा सकती है। अतः जब इसका प्रयोग समाज का प्रत्येक पीड़ित व्यक्ति करने लगे, तब यह अधिनियम सफलता की नई ऊंचाइयों को छूता जाएगा। प्रस्तावित लोकपाल की आवश्यकता इसीलिए इस प्रावधान के साथ रेखांकित की जा रही है कि कोई अधिकारी अपने कामों में शैथिल्य या लालफीताशाही बरते तो उस पर स्वतः संज्ञान लेकर दंडित किया जा सके। अधिनियम की धारा 4 का अनुपालन अभी नहीं हो पाया है, जिसमें प्रत्येक विभाग को अपने अभिलेखों को सूचीपत्रित एवं अनुक्रमणिकाबद्ध रखते हुए प्रदर्शित करने का निर्देश दिया गया है। उ०००० प्रदेश में नियतिवाद एवं अल्पसाक्षरता के कारण व्यक्ति कानूनों और उनके माध्यम से प्रदान किए गए नागरिक अधिकारों से देश की स्वतंत्रता के छः दशकों बाद भी वंचित हैं, ऊपर से सरकारी कार्यालयों द्वारा नागरिकों को तरह-तरह से परेशान करने की आदत उसे लाचार एवं उदासीन कर देती है। प्रदेश में यह स्थिति देश और दुनिया के लिए भी ठीक नहीं, क्योंकि उ०००० प्रदेश विश्व का सर्वाधिक छठा जनसंख्या वाला भूभाग है। इतना फिर भी कहा जा सकता है कि सूचना का अधिकार अधिनियम इस हताशा भरे दौर में सरकारी भ्रष्टाचार से निपटने में एक तिनके का सहारा अवश्य है, क्योंकि मैंने स्वयं ऐसे कई कामों को इसका प्रयोग करके अथवा इसकी हनक देते हुए पूरा करवाया है जो कदाचित् अन्यथा प्रकार से या बिना भ्रष्टाचार के नहीं हो पाते। इस अधिनियम से यदि अभिलेखों में किसी कर्मचारी/अधिकारी की त्रुटि पकड़ ली जाती है, जिसमें समय तो लगता है, क्योंकि कई-कई कोणों से कई बार सूचना आवेदन करने पड़ते हैं। इसके बाद उसका स्थानान्तरण करने का दबाव भी बनाया जा सकता है, किंतु उसे अनुशासनिक कार्रवाई के दायरे में लाना अभी भी मुश्किल बना हुआ है, क्योंकि संबंधित कार्मिक पर कार्रवाई उसी विभाग के अधिकारियों को करनी होती है, जो वे करते नहीं; क्योंकि उसी के माध्यम से उन्होंने भी 'मलाई' खाई हुई होती है। केंद्र में लोकपाल और राज्यों में लोकायुक्तों की मांग इसीलिए सर्वथा प्रासंगिक एवं अपरिहार्य है, जो स्वतंत्र होकर किसी कदाचार पर कार्रवाई कर सकेगा।

एक और राहतकारी पहलू इस अधिनियम का यह है कि जब कोई किसी के खिलाफ शिकायत करता है अथवा उसकी त्रुटियां निकालता है तो वह व्यक्ति स्वयं अपने भीतर भी झांकने को विवश होता है, क्योंकि उस पर भी तो कोई नज़र

रख सकता है। अतः स्वयं आवेदक को सतर्क होना पड़ता है। कई व्यक्ति इसीलिए आवेदन करने का हौसला नहीं जुटा पाते और दाएं-बाएं से अपना काम चलाते रहते हैं। सूचना आवेदकों को उनकी हिम्मत का परिणाम भी झेलना पड़ा है। दर्जन भर से अधिक सूचना कार्यकर्ताओं की हत्या हो चुकी है। अब उनकी सुरक्षा के लिए सरकारों को व्हिसल ब्लोवर बिल लाने की आवश्यकता महसूस हो रही है।

हमारे देश में अनेकविध भ्रष्टाचार है, इसके कई स्तर और स्वरूप हैं, इसकी पहचान करना दुष्कर है। आज जो व्यक्ति ईमानदार है, वह अगले क्षण भ्रष्ट हो सकता है। इसी तरह अभी का भ्रष्ट व्यक्ति आगे चलकर ईमानदार हो सकता है। हमारे घरों में माता-पिता अपने बच्चों में प्रारंभ से चालाकी और अनुचित व्यवहार की नींव डाल देते हैं। कोई न कोई प्रलोभन बच्चों को दिया जाता है, टॉफी इत्यादि के बदले बच्चों से कराए गए काम इसी श्रेणी के हैं। बच्चों का बालोचित व्यवहार छीनने का कोई हिमायती नहीं हो सकता, लेकिन हमें ईमानदार रहने के संस्कार उनमें प्रारंभ से डालने ही होंगे। परिवारों की महत्वाकांक्षाएं भी भ्रष्टाचार के लिए ज़िम्मेदार हैं, उन्हें एक के बाद एक साधनों की आवश्यकता बनी ही रहती है, फिर पड़ोसी के वैभव को देखकर उनकी पीड़ा छिप ही नहीं पाती। भ्रष्ट आचरण से कमाए गए धनी व्यक्ति का भी सामाजिक सम्मान व्यक्तियों को येन-केन-प्रकारेण अधिकाधिक धन कमाने की हविश पैदा करता है। अतः समाज को उचित और अनुचित का भेद अपनाना होगा। आज का बाज़ार 'लालच अच्छा है' के ध्येय वाक्य के अनुसार चलता है, इस कारण भी व्यक्ति समूह के प्रति अपने उयंरदायित्वों से विमुख होकर उचित, शुभ और विवेकपूर्ण कार्यों को भूल गया है। लेख के इस पैराग्राफ में उल्लिखित यह बातें किसी को विषय-वस्तु से अवांतर लग सकती हैं, किंतु हम जब इस कानून के उद्देश्य और उसके परिणाम के कारकों को देखते हैं तो इन बातों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

राजकीय महिला महाविद्यालय बिंदकी जिला फतेहपुर द्वारा 25-26 फरवरी 2014 को आयोजित सेमिनार Inclusive and Sustainable Growth in India : Challenges and Opportunities की प्रासीडिंग में प्रकाश



## सांप्रदायिकता और उसका समाधान

(डॉ राही मासूम रज़ा के साहित्य की दृष्टि में)

कोई व्यक्ति या वर्ग जब समाज में भय व्याप्त करके अपनी नाजायज़ मांग मनवाने की कोशिश करे, सामान्यतः उसे आतंकवाद कहना चाहिये। आतंकवाद फैलाने वाले व्यक्ति वास्तव में किसी सामाजिक व्यवस्था में विश्वास नहीं रखते, जो उन्होंने सही समझा और उनके विचारकों ने निर्देश दिया, उसका अनुपालन येन-केन-प्रकारेण करना उनका एकमेव साधन बन जाता है। यहां ध्यातव्य है कि नक्सलवाद, अलगाववाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद, जातिवाद, धर्मवाद, संप्रदायवाद जैसी समस्यायें सामाजिक हैं। इनका संबंध किसी देश के एक समूह विशेष से होता है। समस्या के प्रति इनका अपना दृष्टिकोण होता है, किंतु यह किसी देश की अस्मिता के लिये प्रत्यक्ष खतरनाक नहीं होते, जैसे आतंकवादी होते हैं।

आतंकवाद को जिन तत्वों से खुराक मिलती है, उन्हें विचार न कहकर अस्वस्थ एवं विकृत मानसिकता कह सकते हैं, क्योंकि विचार समाज का हितकामी होता है, आतंकवाद किसी समाज का हित करता हुआ कतई नहीं होता। आतंकवादी बनाने के लिये इसके आकागण बेरोजगार, निराशा और हताशा में जी रहे नवयुवकों की ब्रेनवॉशिंग कर देते हैं और उन्हें समाज एवं दुनिया में अपना खौफ पैदा करने के लिये छोड़ देते हैं।

आतंकवादी का साधन और साध्य दोनों ही अपवित्र होते हैं। सांप्रदायिकता और आतंकवाद में बहुत थोड़ा अंतर होता है। सांप्रदायिकता का जब अतिक्रमण होने लगता है और वह समाज में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की कोशिश दहशत फैला कर करने लगती है तो आतंकवाद का अंकुर फूट जाता है। इसीलिये महाभारत धारावाहिक के पटकथाकार और 'आधा गांव' जैसे उपन्यासों के लेखक डॉ राही मासूम रज़ा ललकारते हुये कहते हैं-

मेरा नाम मुसलमानों जैसा है

मुझको क़त्ल करो और मेरे घर में आग लगा दो

लेकिन मेरी नस-नस में गंगा का पानी दौड़ रहा है

मेरे लहू से चुल्लू भरकर महादेव के मुंह पर फेंको

और उस जोगी से यह कह दो:

“महादेव!

अब इस गंगा को वापस ले लो

यह म्लेच्छ तुर्कों के बदन में गाढ़ा गर्म लहू बन-बनकर दौड़ रही है।

गंगा और महादेव ('में एक फेरी वाला' से)<sup>1</sup>

अपने समूचे साहित्य में राही ने सांप्रदायिकता पर जो कुल्हाड़ा चलाया है, उससे आतंकवाद की विष बेल को काटने की जरूरत है। राही के अभिन्न मित्र अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहे डॉ कुंवरपालसिंह ने कहा 'सांप्रदायिकता के संबंध में जितनी सटीक और सही राय राही की थी आज उसे रेखांकित किया जाना आवश्यक है।' 2 राही ने आतंकवाद के बारे में साफतौर पर लिखा है "में आतंकवाद का विरोधी हूं। चाहे यह आतंकवाद कहीं का हो और कोई भाषा बोलता हो। आतंकवाद की जड़ें राजनीति और समाज के आर्थिक ढांचे की जमीन में होती हैं। इसीलिये उसे गोली मारकर खत्म नहीं किया जा सकता, आतंकवाद के खिलाफ होने वाली लड़ाई राजनीति के कुरुक्षेत्र में होनी चाहिये।' 3 इस प्रकार राही ने आतंकवाद का मूल उत्स राजनीति में देखा है, जो कहीं से ग़लत नहीं प्रतीत होता है। राही ने इसीलिये एक ओर कट्टरपंथी मुसलमानों को खुलकर कोसा है तो दूसरी ओर कट्टर हिंदू संगठनों को भी जमकर लताड़ा है। दोनों संप्रदायों के यह कट्टरपंथी तत्व देश के मुसलमानों को भारतीयता में घुलमिल जाने में बाधक हैं। राही लिखते हैं 'हिंदुस्तान के मुसलमानों ने हिंदू संस्कृति और सभ्यता को अपने खूने-दिल से सींचकर भारतीय संस्कृति और सभ्यता बनाने में बड़ा योगदान किया है। .....भूल जाइये कि हिंदुस्तान सिर्फ आप जैसे हिंदुओं ही का है। हिंदुस्तान मेरा भी है और वह किसी भी तरह आपसे कम मेरा नहीं है।' 4

जामिया मिलिया इस्लामिया के अरबी विभाग के प्रोफेसर अख्तरुल वासे कहते हैं हिंदुस्तानी मुसलमानों का इस देश में उनकी भारतीयता के ही नाते अधिकार नहीं हैं, अपितु पाकिस्तान की तुलना में हिंदुस्तान चुनने के कारण भी उनका यहां अधिक अधिकार है।<sup>5</sup> सांप्रदायिक दंगों के पीछे राजनीतिक दलों द्वारा सत्ता पाने के पीछे किया गया धर्म का इस्तेमाल है। सांप्रदायिकता और आतंकवाद एक पागलपन है जो संकीर्ण विचारों से उत्पन्न होती है। यह समाज के स्वार्थी लोगों की राय से उनकी साजिशों का रूप धारण कर अफवाह के रूप में भी समाज में फलती-फूलती

रहती है। राजनीति करने वालों पर राही के अनुसार 'बुद्धिजीवियों ने, साहित्यकारों ने, विचारकों ने, इतिहासकारों ने इमर्जेंसी लगने के बाद डर के मारे जो चुप साधी थी, वह चुप अभी तक नहीं टूटी है। किसी को नेहरू अवार्ड लेना है, किसी को सरकारी डेलिगेशनों में घुसना है, किसी को प्रोफेसर बनना है...सब अपनी खुदगर्जी की आंधेरी चढ़ाये, सर खींचे पड़े हुये हैं। कोई बोलने में पहल करने को तैयार नहीं...क्योंकि साहित्य अकादमी का पुरस्कार देश से, देश की अखंडता से ज्यादा कीमती है।' 6 राही मासूम रजा ने हिंदी साहित्य के क्रमबद्ध विकास को बड़ी बारीकी से समझा है और देखा है कि भक्तिकाल में हिंदुस्तानी समाज में कौन सी नयी चीज शामिल हुयी और कौन सी निकल गयी। वह लिखते हैं 'हम देखते यह हैं कि जब हिंदुस्तान पर ताबड़तोड़ हमले हो रहे थे और लड़ाई के मैदान में हमारी हार हो रही थी, तो हमारे कवियों ने वीरगाथायें सुनाईं। यह लड़ाइयों का युग है। हार-जीत का फैसला नहीं हुआ है। परंतु जब रणभूमि की कहानी समाप्त हुयी तो एकदम वीरगाथायें लड़खड़ाने लगीं और भक्ति का संगीत उभरा। इस्लाम और मुसलमान बादशाह- हमारे जीवन में ये दो नयी चीजें शामिल हो गयी। मुसलमान हमलावर, मुसलमान बादशाह दो चीजें हैं और इन्हें गड्डमड्ड नहीं करना चाहिये। और इस्लाम एक बिल्कुल तीसरी चीज है और इन हमलावरों और बादशाहों से बिल्कुल अलग है।' 7

हमारे देश में लगभग विगत दो वर्ष पूर्व तक कहा जाता था कि आखिर सभी आतंकवादी मुसलमान क्यों होते हैं, तब यह समझा जाता था कि मुस्लिम संप्रदाय का प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के लिये कुछ कट्टरपंथी तत्व आतंकवाद फैला रहे हैं। किंतु इधर के वर्षों में आतंकवादी नामों में मुस्लिम संप्रदाय के लोगों के नाम भी आये हैं। यद्यपि अभी यह विवेचनाधीन है कि वास्तव में ऐसे लोगों का बम विस्फोटों में किस रूप में योगदान रहा है अथवा नहीं।

डॉ राही मासूम रजा ने अपने निबंधों में कई जगह खुसरो का उल्लेख आदरपूर्वक किया है, क्योंकि खुसरो भारत को वंदनीय मानता था। खुसरो का मानना था-

1. इस देश के लोगों में ज्ञान और विविध विधाओं का व्यापक प्रचार है।
2. विश्व की सभी भाषायें भारतवासी शुद्धता से बोल सकते हैं।
3. ज्ञान सीखने को बाहर के लोगों को भारत आना पड़ता है, किंतु भारतवासियों को भारत के बाहर नहीं जाना पड़ता।
4. अंकों का विकास भारत में हुआ। विशेषतः शून्य का प्रतीक भारत का आविष्कार है। हिंदसा हिंद और असा से मिलकर बना है। खुसरो का विश्वास था कि असा भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञ थे।

5. कलीला व दमना (करकट और दमनक) की कहानी भारत में रची गयी। फारसी, तुर्की, ताजी (अरबी) एवं दरी भाषाओं में उस कहानी का अनुवाद हुआ है।
6. शतरंज यहीं जन्मा।
7. भारतीय संगीत अन्यों से उच्चकोटि का है।
8. यहां के संगीत पर मनुष्य ही क्या, हरिण को भी स्तंभ हो आता है।

राही बड़े अदब के साथ खुसरो को याद करते हैं क्योंकि उनकी मसनवी में लिखा है कि यहां आदमी की बोली तोता और मैना भी बोलते हैं। घोड़े ताल पर कदम उठाते हैं, बकरियां संतुलन के खेल दिखाते हैं और बंदर रुपये और अठन्नी का भेद बता सकते हैं। भारत पृथ्वी का स्वर्ग है। आदम और हौवा जब स्वर्ग से निकाले गये थे तब वे इसी देश में उतरे थे। भारत के सामने अन्य देश चीन सहित तुच्छ हैं। खुसरो लिखते हैं कि इस चमन की कहानियां यदि मक्का सुन ले तो वह भी श्रद्धा के साथ भारत की परिक्रमा करने लगेगा। एक जगह खुसरो लिखते हैं संभव है, कोई मुझसे पूछे कि भारत के प्रति मैं इतनी श्रद्धा क्यों रखता हूं। मेरा उत्तर यह है कि केवल इसलिये कि भारत मेरी जन्मभूमि है, भारत मेरा अपना देश है। खुद नबी ने कहा है कि अपने देश का प्रेम आदमी के धर्म-प्रेम में सम्मिलित रहता है।<sup>18</sup> खुसरो के समय सांप्रदायिकता और आतंकवाद का ऐसा विकराल और खतरनाक रूप अस्तित्व में नहीं था। किंतु उनके बताये रास्ते को राही ने सांप्रदायिकता और आतंकवाद की सांप्रतिक समस्या को दूर करने के लिये आवश्यक समझा है। राही की देश के अंतर्गत व्याप्त सांप्रदायिक समस्या और आतंकवाद के प्रति कुरुक्षेत्र में लड़ी जाने वाली लड़ाई के यही हथियार हैं।

हिंदी के प्रसिद्ध साहित्यकार असगर वजाहत लिखते हैं 'मुस्लिम विरोध या मुसलमानों के प्रति घृणा का एक कारण हिंदुओं और मुसलमानों के बीच संवादहीनता या एक-दूसरे को न समझना भी है.....पहली भ्रांति तो यही है कि भारतीय मुसलमानों को विश्व मुस्लिम बिरादरी का अभिन्न अंग मान लिया जाता है और पूरे संसार में मुसलमान जो कुछ कर रहे हैं, उसे भारतीय मुसलमानों का स्वभाव या जातिगत विशेषता बताया जाता है। उदाहरण के लिये यह कहा जाता है कि मुसलमान जहां बहुमत में हैं वहां तानाशाह हैं और जहां अल्पसंख्यक हैं, वहां वे बहुमत के लिये सिरदर्द बने हुये हैं। सिद्ध किया जाता है कि सऊदी अरब कितना धार्मिक और असहिष्णु देश है। सारे अरब देश धर्माधता के शिकार हैं। इसलिये भारतीय मुसलमान भी धर्माधता का प्रतीक है और उनके साथ वही व्यवहार करना चाहिये, जो मुस्लिम देशों में गैर मुस्लिमों के साथ होता है। इन तर्कों का सीधा मतलब यह है कि भारतीय मुसलमान अरब, इराक, ईरान के मुसलमानों जैसे हैं, जबकि सच्चाई यह है कि भारतीय मुसलमान विशुद्ध रूप से भारतीय हैं और

वे भावुकतावश चाहे अरब या ईरान से लगाव रखते हों, पर यथार्थ यह है कि वे भारत के अलावा न कहीं जा सकते हैं और न कहीं रहना उनको पसंद आ सकता है।’ 9

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जहां आतंकवाद किसी विदेशी भूमि से, विदेशियों द्वारा ही यदि किया जाता है तो उसको बलात् कुचलने के अतिरिक्त कोई चारा संभव नहीं प्रतीत होता है। आक्रमण करते हुआ जंगली सुअर से आप कब तक बचते रहेंगे। देश-विभाजन हुये 63 वर्ष से अधिक व्यतीत हुये, अब उस समय की पीढ़ी भी नहीं रही। अतः जो लोग हमारे देश के ही नहीं, विश्व के मानव और मनुष्यता के शत्रु बन चुके हों, ऐसे भाड़े के विदेशी सिरफिरे आतंकवादियों से हमारी किसी रूप में कोई सहानुभूति कैसे हो सकती है? इसी कड़ी में हमारे जेहन में संसद पर हमले का सूत्रधार अफजल गुरु और मुंबई में कत्लेआम करने वाला अजमल कसाब जैसे नाम आते हैं, जिनमें अजमल कसाब की सजा का फंदा करीब आता जा रहा है, किंतु अफजल गुरु को दी गयी फांसी की सजा पता नहीं कैसे और क्यों रोके हुये हैं।

आतंकवाद का प्रसार कालेधन (Black Money) के कारण होता है, विदेशी बैंकों में जमा यह धन भ्रष्टाचार द्वारा संग्रहीत कर लिया जाता है। इस धन का प्रयोग अंडरवर्ल्ड एवं आतंकवादी समूह करते हैं। यदि समाज में व्यवस्था रहेगी तो ऐसे तत्व अपने कुकृत्य नहीं संपादित कर सकते। कालाधन कई समस्याओं का जनक है। वैश्विक परिप्रेक्ष्य में यदि समझा जाये तो आतंकवाद को दूर करने के लिये सर्वप्रथम ऐसे बैंकों की नियमावली में परिवर्तन करना होगा जो किसी की काली कमाई को बताने में गुरेज करते हैं। काला धन रखने वाले लोग देश की अर्थव्यवस्था को अपनी मुट्ठी में मानो कैद कर लेते हैं, इससे जमाखोरी, मिलावटखोरी, महंगाई, मुद्रास्फीति जैसी आर्थिक समस्यायें पैदा हो जाती हैं। शासन व्यवस्था को देर-सबेर कालाधन जमा करने वालों के खिलाफ कड़े कदम उठाने होंगे। कालाधन भ्रष्टाचार के कारण इकट्ठा किया जाता है।

भ्रष्टाचार रोकने के लिये सरकारों को अविलंब प्रभावी नीतियों का निर्माण एवं क्रियान्वयन करना होगा। संयोगवश, संप्रति देश में भी भ्रष्टाचार मिटाने के लिये जनमानस में आक्रोश दिख रहा है, जिससे सरकार पर इसे दूर करने का दबाव बढ़ गया है। कालाधन जमा करने वाले लोगों के नामों को उजागर करने के लिये सरकार का तैयार होना इस दबाव का परिणाम माना जा सकता है।

प्रत्येक आतंकी हमले से देश का अत्यधिक नुकसान होता है। आतंकी हमले देश की अर्थव्यवस्था को जर्जर बना देते हैं। ऐसे हमलों से कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के लिये करोड़ों रुपये बरबाद हो जाते हैं। अगर कोई व्यक्ति यह समझता है कि वह अपने धर्म में ही सबको कन्वर्ट कर देगा तो यह उसका सिरफिरापन ही है। जब मुगल काल और मुस्लिम शासन काल में यह कार्य नहीं कर सका तो अब तो लोकतंत्र का युग है। आधुनिक युग में यह काम संभव नहीं रह गया है। अरब देशों में भी तानाशाही के विरोध में लोग सड़कों पर आ गये हैं। सत्तापलट हो रहा है। मिस्र के तानाशाह को देश छोड़कर ही भागना पड़ा है। फिर धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया में हिंसा होगी, कृषि व्यापार की क्षति होगी, राजस्व घट जायेगा, साम्राज्य कमजोर पड़ जायेगा। ऐसे भूभाग में भला कौन रहना पसंद करेगा। अतः जो ऐसा सोचते हैं कि वे बलात् धर्म परिवर्तन करवा लेंगे तो यह उनका दिवा स्वप्न ही है। ईश्वर उन्हें सही रास्ते पर चलने को प्रेरित करे। यही कामना है।

आतंकवाद की विष बेलें न फलें-फूलें, इसके लिये हिंदू एवं मुस्लिम दोनों संप्रदायों के कट्टरपंथी तत्वों को अलग-अलग अपनी मानसिकता और स्थिति में परिवर्तन करना होगा। मुस्लिम संप्रदाय अत्यंत पिछड़ा हुआ है। उसे दीनी तालीम के बहाने पिछड़ेपन में रहने को मजबूर किया जाता है, वहीं हिंदू कट्टरपंथी तत्व लोगों की धार्मिक भावनाओं को उकसाने का काम करते हैं। आवश्यक तो यह है कि दोनों समुदायों के बीच संवाद की स्थिति बने। जानकारी के अभाव में अविश्वास पैदा होता है, जिसके कारण सांप्रदायिक शक्तियों को घृणा और उन्माद फैलाने का मौका मिलता है। सांप्रदायिक व्यक्तियों और दलों को छोड़कर पूरा देश यह मानता है कि सांप्रदायिकता और हिंसा से किसी तरह की कोई समस्या नहीं सुलझ सकती, बल्कि सांप्रदायिकता देश के विकास में और उसकी एकता और अखंडता में सबसे बड़ी बाधा है।

हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि आतंकवाद के विरुद्ध लड़ी जाने वाली लड़ाई में हमारे निर्दोष लोग पीड़ित न हो पायें। दोषी लोगों को चिन्हित करने का काम यदि हमारे देश के लोग करना प्रारंभ कर दें तो दोषी बच भी नहीं सकता। विदेशी आतंकवादी यदि अपने देश में आकर मारकाट कर जायें तो या तो यह अपनी सरकार की असफलता है या फिर अपने लोगों से उनकी मिलीभगत का खतरनाक परिणाम। इन चीजों को जब तक हम नहीं समझ सके, आतंकवाद के प्रति हमारी लड़ाई जीती नहीं जा सकती।

संदर्भ स्रोत सूची-

1. अभिनव कदम (6,7) नवंबर 2001 से अक्टूबर 2002 संपादक चंद्रदेव राय, जयप्रकाश धूमकेतु
2. खुदा हाफिज़ कहने का मोड़, डॉ राही मासूम रज़ा, वाणी प्रकाशन दिल्ली 1999, कुंवरपालसिंह द्वारा लिखित भूमिका से
3. लगता है बेकार गये हम (निबंध राजनीति पर तो मनोरंजन कर लगना चाहिये), डॉ राही मासूम रज़ा, वाणी प्रकाशन दिल्ली 1999, पृष्ठ 11
4. वही (निबंध सांप्रदायिकता का कोई धर्म नहीं है!) पृष्ठ 16
5. टी वी समाचार चैनल एनडीटीवी के मुकाबला कार्यक्रम में दिये वक्तव्य के अनुसार
6. डॉ राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में पात्र परिकल्पना, डॉ राकेश नारायण द्विवेदी के अप्रकाशित पी-एच,डी शोध प्रबंध से पृष्ठ 5
7. खुदा हाफिज़ कहने का मोड़, पृष्ठ 126
8. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन नवीन संस्करण 1999
9. हंस अगस्त 2003, भारतीय मुसलमान: वर्तमान और भविष्य में अतिथि संपादकीय से पृष्ठ 6

राजीव गांधी पीठ इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा 21-22 नवंबर को आयोजित सेमिनार Communal Violence in India : Post Independence Scenario में प्रस्तुत

## भ्रष्टाचार उन्मूलन में नागरिक भूमिका

भ्रष्टाचार की व्यापक परिभाषा में जब कोई व्यक्ति अपनी निहित आचार संहिता चाहे वह प्रकृति सम्मत हो या विधि सम्मत के विरुद्ध आचरण करता है भ्रष्टाचारी है। भ्रष्टाचार का अर्थ है जिसका आचार बिगड़ गया हो दूषित आचरण हो अथवा नैतिक, सामाजिक एवं विधिक दायित्वों के प्रतिकूल आचरण हो। इस अर्थ में वह प्रत्येक व्यक्ति जो नीति या धर्म विरुद्ध आचरण करे भ्रष्टाचरित कहा जा सकता है और इस प्रकार किमधिक सम्पूर्ण विश्व किसी-न-किसी तरह के भ्रष्टाचरण से ग्रस्त है किन्तु यहाँ भ्रष्टाचार का आशय ऐसी कुप्रवृत्ति से है जिसमें व्यक्ति अपने निहित स्वार्थों को पूरा करने के लिए सरकारी तंत्र का दुरुपयोग करता है।

भ्रष्टाचार एक प्रकार से हिंसा जैसा ही जघन्य अपराध है। इसलिए भ्रष्टाचारी और हिंसक एक ही स्तर के अपराधी हैं। एक अगर बुद्धि के विशेष प्रयोग से शनैः-शनैः हिंसा करता है तो दूसरा क्रोधोन्मत्त और विवेकशून्य होकर भय पैदा करता है। भ्रष्टाचार जितना घातक है, उतना बहुमुखी भी। अपराधी को अनैतिक कार्यों के लिए छूट देना, स्वार्थ सिद्धि के लिए अनुचित उपायों का प्रयोग, शासक वर्ग द्वारा पद के प्रभाव का दुरुपयोग, सिफारिश और भाई-भतीजावाद, पूंजीपति वर्ग और शासक वर्ग की सांठ-गांठ से चलने वाली कालाबाज़ारी, लालफीताशाही आदि भ्रष्टाचार रूपी महादानव के विविध रूप हैं।

इस समय लगभग पूरा विश्व भ्रष्टाचार से ग्रसित है किन्तु भारत में यह समस्या कहीं अधिक विकराल है। भारतीय परिदृश्य भ्रष्टाचार का जागरण नवीन रूप लेता जा रहा है। यह विडम्बना वास्तविक है कि अर्थव्यवस्था के भ्रूण्डलीकरण के साथ-साथ भ्रष्टाचार का भी भ्रूण्डलीकरण हो रहा है।

भ्रष्टाचार के उन्मूलन में संलग्न एक सरकारी एजेंसी केन्द्रीय सतर्कता आयोग द्वारा भ्रष्टाचार से लड़ने में नागरिकों की निर्देशिका (Citizens' guide to fighting corruption) नामक एक लघु पुस्तिका में भ्रष्टाचार से सम्बन्धित सभी पहलुओं का विषद और समग्र अध्ययन किया गया है। केन्द्रीय सतर्कता आयोग की भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक वातावरण बनाने में एक सरकारी भूमिका है, किन्तु ऐसे वातावरण के लिये 'अ' सरकारी भूमिका का होना आवश्यक है। जिसमें देश का प्रत्येक नागरिक अपने तई भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देने से बचे। इसे नासूर बताकर लाइलाज न समझे। अपनी मानसिकता में परिवर्तन लाकर यह स्वीकार करे कि बिना धन के लेन-देन के भी सरकारी काम संभव हैं। केन्द्रीय सतर्कता आयोग केन्द्र सरकार के अधिकारियों-कर्मचारियों के विरुद्ध प्राप्त शिकायतों का निवारण एक तटस्थ और निष्पक्ष दृष्टि से करने के लिए बनाया गया है। आयोग ने इस उपक्रम में भ्रष्टाचार से लड़ने में आ रही कठिनाइयों को उजागर करने के लिये उपर्युक्त पुस्तिका निकाली है।



भ्रष्टाचार के मूल में व्यक्ति का लालच प्रधान होता है। लालच या एषणा को गोस्वामी तुलसीदास ने व्यक्तियों की कमजोरी बताया है -

सुत बित लोक ईषणा तीन्हीं । केहि कर मन इन कृत न मलीनी ।

एक तमिल कहावत है व्यक्ति के पास मक्खन तो है पर उसे घी चाहिए इसी बात को महात्मा गाँधी ने कहा कि अपने देश में व्यक्ति को अपनी आवश्यकतानुसार सभी वस्तुएं सुलभ हैं किन्तु उसका लालच दूसरों की जरूरतों का दोहन कर लेता है।

प्रशासन और राज्य का अधिकतम प्रयत्न लोक संग्रह एवं कल्याणकारी कार्यों के लिए होता है। प्रशासन यह कार्य अपनी मशीनरी द्वारा संपादित करता है। इस मशीनरी के घटक सरकारी कर्मों होते हैं। अतः उस कर्मों की जवाबदेही सरकारी प्रतिनिधि होने के नाते लोकहितगामी होनी चाहिए। अन्यथा उद्देश्य की अप्राप्ति प्रारम्भ से ही प्रतीत होने लगेगी। व्यवहार में इस सदुद्देश्य के विपरीत ही वातावरण दिखाई दे रहा है। आज व्यक्ति को अपने बुनियादी कामों को कराने के लिए भी सरकारी कार्यालय में चढ़ाती चढ़ानी पड़ती है। अन्यथा सम्बद्ध कर्मों अनावश्यक तमाम तरह की त्रुटियां निकालकर तंग कर देता है। यद्यपि सूचना का अधिकार प्राप्त होने से ऐसी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगेगा किन्तु अभी उसकी सफलता की समीक्षा होनी बाकी है। क्योंकि अपने देश में एक समस्या दूसरी से ऐसी जुड़ी है कि हम एक का समाधान करते हैं तो दूसरी इस काम में आड़े आ जाती है। मसलन सूचना का अधिकार कानून प्रभावी है किन्तु अशिक्षा के कारण इस कानून के प्रयोग में बाधाएं आ रही हैं। जब तक एक आम आदमी स्वयं ऐसे कानूनों के प्रयोग की सामर्थ्य और योग्यता न अर्जित कर ले इन अधिकारों में कोई शक्ति नहीं रह पाएगी। समाज की जिम्मेदार संस्थाओं और व्यक्तियों का भी यह कर्तव्य बनता है कि वे समाज में अन्याय और भ्रष्टाचार से लड़ने का जज़्बा पैदा करे। मीडिया भी सनसनी फैलाने की बजाय सार्थक योगदान करे। इन प्रयत्नों में कोई किसी भ्रष्टाचारी की ढाल न बने।

भ्रष्टाचार उन्मूलन के लिए कानूनों और नियमों का सरलीकरण बहुत आवश्यक है इनकी जटिलता के भँवर में देश की 35 प्रतिशत निरक्षर आबादी ही क्या पढ़े-लिखे लोग भी फँस जाते हैं। अतः देश को पूर्ण साक्षरता जिसमें उपयोगी एवं नैतिक शिक्षा पर बल दिया जाता हो, की ओर ले जाना होगा। शिक्षा व्यक्ति में संस्कारों का उद्घावन करती है और अपने अधिकारों और कर्तव्यों का उद्बोधन भी शिक्षा द्वारा होता है। भ्रष्टाचार के विरुद्ध आज के लोकमानस में जो उदासीनता परिव्याप्त है उसका एक कारण यह भी है कि व्यक्ति अपने अनैतिक एवं अवैध कामों को कराने की लालसा रखता है अर्थात् व्यक्ति स्वयं दूषित हो चुका है। हमारा मध्यवर्ग नागनाथ या सांपनाथ जैसा हो गया है। उसके भीतर ईमानदारी और बेईमानी, न्याय और अन्याय का द्वन्द्व चलता रहता था वह अब कमजोर हो गया है। इसलिए व्यक्ति भ्रष्टाचार से सम्बन्धित घटनाओं को चाहे वे राजनैतिक या गैर राजनैतिक मनोरंजन का

विषय मानकर मजे लेता है और यह समझकर प्रसन्न होता है कि साधन की पवित्रता का सिद्धान्त अब ध्वस्त हो चुका है।

जिस प्रकार जहाँ धुआँ है वहाँ आग है यानि जहाँ कारण है वहाँ कार्य। अतः जहाँ समस्या है वहाँ समाधान भी है। आवश्यकता समस्या को चिन्हित करने और समाधान की दिशा में ईमानदारी पूर्वक चल पड़ने की है। कोई देशवासी भ्रष्टाचार को अनन्तकाल तक चलने वाली समस्या के रूप में ने देखे और जो व्यक्ति इसे गलत समझते हुए समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो वह ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठ होने की शुरुआत अपने से करे। एक स्वस्थ राष्ट्रीय चरित्र का होना भ्रष्टाचार उन्मूलन के लिए नितान्त आवश्यक है और यही स्थिति हमारे देश को विकसित देशों की श्रेणी में ला सकेगी, क्योंकि भ्रष्टाचार उन्मूलन से ही देश की अधिकांश समस्याओं का निदान शक्य है। देश पर अनेक संकट छाए हैं चारों तरफ जैसे 'मारो-काटो-लूटो-पीटो' की चीत्कारें उठ रही हैं।

समग्रतः देखा जाये तो आज का भ्रष्टाचार और उससे जनित हमारा दुख एवं समस्याएं स्नेह एवं संवेदना के अभाव तथा अपनत्व के अकाल के कारण हैं। अतः हमारी खिलाकर खाने की सांस्कृतिक जीवनधारा सरस्वती नदी की तरह कहीं विलुप्त न हो जाय एतदर्थ तैतरेय उपनिषद् की इस धारणा को परिपुष्ट करना है -

सहनाववतु सहनौभुनक्तु सहवीर्यम् करवावहे ।

तेजस्विनां अदितमस्तु मा विद्विषावहै ।

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय नई दिल्ली में वर्ष 2002 में हिंदी पखवाड़ा में प्रथम स्थान के लिए चयनित निबंध

## बौद्ध साधना: आशय एवं अंतर्वस्तु

बुध अवगमने धातु में 'क्त' प्रत्यय से बुद्ध शब्द निष्पन्न हुआ है। यो बुद्धवान् सदैव ज्ञातोसि सबुद्धो जगदीश्वरः अर्थात् जो सदा सर्वज्ञ हो यो बुद्धया निर्वर्तते सः बौद्धः। साधना कल्याण मार्ग का उपाय होता है। इस प्रकार सर्वज्ञ द्वारा अनुभूत सत्य कल्याण मार्ग ही बौद्ध साधना है।

नेपाल की तराई में स्थित कपिलवस्तु के लुंबिनी ग्राम निवासी शाक्यवंश प्रमुख राजा शुद्धोदन की पत्नी महामाया की कोख से उत्पन्न उनतीस वर्ष की अवस्था में 534 ई पूर्व अपनी पत्नी यशोधरा तथा पुत्र राहुल को सोता हुआ छोड़ सांसारिक समस्याओं से ब्यथित किंतु विगत जन्म जन्मांतरों में अपनी - दान, शील, क्षांति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, नैष्कार्य, सत्य, अधिष्ठान (दृढ़ निश्चय) और मैत्री- दस पारमिताओं (सद्गुणों) को पूरा करते हुए युवक सिद्धार्थ महाभिनिष्क्रमण कर चुके थे।

घर से निकलने पर बिना अन्न ग्रहण किए कभी एकाशनी रहकर तीर्थाटन तपश्चर्यापूर्वक - नमोतस्स भगवतो अर्हतो संभासंबुद्धस्स' कहा करते थे। इसी से लोक में उन्हें बुद्ध कहा जाने लगा। कौण्डिन्य नामक संन्यासी के आग्रह पर अलार कलाम आश्रम में कुछ समय सत्य और शांति का अन्वेषण अन्य साथी संन्यासियों से सत्संग शाक्य कुमार द्वारा चलता रहा। लोग इन्हें बुद्ध के नाम से पुकारने ही लगे थे कि छः वर्ष के कठोर तपश्चरण से एक रात्रि उरुबेला (बोधिगया) में पीपल वृक्ष के नीचे संपूर्ण बोधि लब्धित कर सहसा उनके मुंह से निकल पड़ा-

बुद्धो बोध्येय्युं, मुञ्जां मोचेय्युं, तिन्नो तरेय्युं।

(मैं बुद्ध होकर दूसरों को भी बोधि प्राप्ति में सहायता करूंगा, स्वयं मुक्त होकर दूसरे को मुक्त करूंगा, स्वयं संसार सागर से उन्नीर्ण होकर दूसरों को भी उन्नीर्ण करूंगा।)

आज मैं सत्यमेव तथागत (सत्य के अत्यंत निकट) हो गया हूं। त्याग, तपस्या, नम्रता, आदर, संतोष प्रभृति गुणों से पूरित सारगर्भित वाणी को सुनकर दूर-दूर से जिज्ञासु दुखी व्यक्ति विश्वासों और तर्कहीन असत् कर्मकांडों से मुक्त होते गए।

संसार दुखो से भरा हुआ है। इंद्रियों की तृप्ति एवं सुख समृद्धि प्राप्ति हेतु प्रबल लालसा ही दुख का कारण है। दुःख निरोध कैसे हो? संस्कारों, कुसंस्कारों का शमन, चिन्मलों का त्याग कैसे हो? तृष्णा का क्षय और निर्वाण प्राप्ति के उपाय आदि विषयों पर प्रवचन करते हुए अपने आनंद, उपाति, सारिपुत्र, मौदिगल्यायन, देवदं, कश्यप आदि शिष्यों सहित महात्मा बुद्ध धर्मचक्रप्रवर्तन हेतु श्रावस्ती, सारनाथ, मगध, कुशीनगर आदि नगरों में सर्वत्र भ्रमण कर लोककल्याण करते रहे।

ं एक रात्रि आश्रम में कुछ स्त्रियां पूजन करने आई थी, उनका गीत तथागत बड़ी तन्मयता से सुनते रहे। गीत का भाव इस प्रकार था- ‘सितार के तार को इतना ढीला मत छोड़ो कि उससे बेसुरा राग निकले और तार को इतना भी मत खींचो कि वह टूट जाए।’

इसी से प्रभावित होकर उन्होंने अत्यंत विषय भोगों में अनासक्ति अथवा कठोर आत्मनियंत्रण की पराकाष्ठा से रहित मज्झिम निकाय (मध्यम विभाग) साधना के सुगम मार्ग के लिए 152 उपदेश संवादों के रूप में दिए, जिनमें लगभग सभी विषयों पर कल्पनापूरित निरूपण हुआ है। इनसे प्रभावित होकर मगध नरेश बिंबसार जैसे पिता का बध करने वाला कृष्णिक (कृतनक - मारकाट करने वाला) उपनामधारी अजातशत्रु ने महाशिलाकंटक तथा रथमशल जैसे दुर्द्धर्ष अस्त्र-शस्त्रों का त्याग कर तथागत का अनुयाई बन शील व्रत धारण किया।

‘पाणाति पाणा वैरमणी सिक्खा पदम समादियामि।’ (मैं अपने हाथों से जीव हिंसा से विरत होने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ)

अंगुलिमाल जैसे डाकू भी परधन अपहरण विरति होकर शीलव्रत धारण करते गए-

‘अदिन्ना दाना वैरमणी सिक्खा पदम समादियामि।’ (मैं चोरी न करने की प्रतिज्ञा लेता हूँ)

इतना ही नहीं 483 ई पूर्व में बुद्ध महापरिनिर्वाणोपरांत राजगृही में सप्तपर्णि गुफा में प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया।

अपने 99 भाइयों की नृशंस हत्या करने वाला (सिंघवी अनुश्रुति के अनुसार) कलिंग युद्ध में एक लाख लोगों का बध करने वाला तथा डेढ़ लाख लोगों को बंदी बनाने वाला विलासी राजा अशोक भी अपनी परमप्रिय पत्नी तिष्यरक्षिता सहित भेरीघोष को त्याग धम्मघोष (अपासिनवे, बहुक्याने, दया, दाने, सचे, सोचए, मादवे, साधवे हि धम्मः अर्थात् अतिभोग से मुक्ति, बहुकल्याण, दया, दान, सत्य, पवित्रता, मृदुता, ऋजुता ही धर्म है) का उद्घोषक होकर ‘देवानाम् पिय’ अशोक महान बना।

‘इच्छा शरीर की मांग है और उसकी तृप्ति मन की मांग है’ यह कहकर जो ललाकोदर पोषण विचारासिक्त चरिष्णु लासक भौतिकोन्मादी, लाषुक लालिनी (लुब्धस्वेच्छा चारिणी) लासिका (नर्तकी) वासू वसूरा (तरुण गणिका) वारांगनाओं की विचेष्टाओं को विलोकने हेतु व्याकुल बने रहते थे, वे भी संसार के दुखों से मुक्ति के बुद्ध द्वारा बताए गए अष्टांगिक मार्ग - सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि - को स्वीकार करते हुए

‘कामेसुमिच्छाचारा वैरमणी सिक्खा पदम समादियामि’ (मैं व्यभिचार कामाचार से विरत रहने की प्रतिज्ञा करता हूँ) - यह शीलव्रत ले उद्धार पाते गए।

इच्छा के सारहीन अमूर्तरूप अज्ञान की नीहारिका में अनृत निरर्थक शब्दजाल से ढंके हुए देह, देश और संप्रदायों की अनर्थ परंपराओं में प्राण तृप्ति कार्यरत फंसे मानव भी

‘ ‘मुसावादा वैरमणी सिक्खा पदम समादियामि’ ’ (में असत्य से विरत होने की प्रतिज्ञा करता हूँ)- की शिक्षा प्राप्त करके शीलव्रती बन गए।

अहं के गहन तम आवरण से आच्छादित कादंबरी ऐक्षेय मैरेय द्राक्षेय किंवा माधवी- मद्यसारों को भी मात देने वाली प्रमद मद मदिरा मदांध प्रमादी मानव भी-

‘ ‘सुरा मैरय मज्जा पमादह्वाना वैरमणी सिक्खा पदम समादियामि’ ’ (में सुरापान, प्रमाद आदि से विरत होने की प्रतिज्ञा करता हूँ)

शील शिक्षा लब्धित कर पवित्र हृदय हो दुखों से मुक्त होते गए। साधक की रुचि और अधिकार भेद से बौद्ध साधना में त्रिविधयान साधना मार्ग प्रचलित हैं’

1. श्रावक यान- किसी कल्याण मित्र (योग्य गुरु) से साधना ग्रहण कर अर्हत् पद प्राप्ति की चेष्टा तथा बोधि (परमार्थज्ञान) प्राप्त कर दुखों की निवृत्ति करना इस साधना का उद्देश्य होता है।

2. पच्चेक बुद्धयान- बिना किसी कल्याण मित्र की सहायता के स्वयं प्रतिभा संपन्न ध्यान समाहित अवस्था में विमुक्तिरसरसिक हो निर्जन स्थान में बोधि प्राप्त कर आत्मरमण करना इस साधना की अंतर्वस्तु है। ‘पच्चेक बुद्ध सयमेव बुज्झंति परे न बोधंति।’

3. बोधिसत्व (भावीबुद्ध) यान- क्लेशनाश के उद्देश्य से सत्त्वाराधन (जीवसेवा) सत्त्वार्थक्रिया (परहित साधन) रत बोधिसत्व का अवलंबन करना, यह साधना की उत्कृष्ट दशा है। ‘बुद्धा सयमेव बुज्झंति परे न बोधंति’ ।

आर्य धर्म संगीति नामक महायान ग्रंथ में वर्णित अवलोकितेश्वर तथा मंजुश्री महाकारुणिक बोधिसत्व आज भी साधना में सभी जीवों की सहायता उनकी क्लेशनिवृत्ति तक करते हैं।

‘ ‘एवमाकाश निष्ठस्य सत्व धातोरनेकधा।

भवेयमुपजीवोऽहं यावत् सर्वे न निवृताः॥ बोधचर्यावतार 3 - 21

कनिष्क के शासन काल से श्रावक एवं पच्चेक बुद्धयान ही हीनयान तथा बोधिसत्व यान महायान के नाम से मान्य है। जिस प्रकार हीनयान में चौबीस अतीत मानुषी बुद्धों तथा महायान में इन चौबीस के अतिरिक्त - विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छंद, कनकमुनि, काश्यप, शाक्यसिंह और मैत्रेय - इन आठ कुल बत्तीस बुद्धों की आराधना की जाती है, उसी प्रकार सातवीं शताब्दी से वज्रास्य घंटावज्र (बौद्ध पुरोहित) द्वारा देश विदेश और महाचीन (तिब्बत) में प्रचलित वज्रयान साधना में पांच ध्यानी बुद्धों - व्याख्यान मुद्रा में वैरोचन, वरदमुद्रा में रत्नसंभव, समाधिमुद्रा में अमिताभ, अभयमुद्रा में अमोघसिद्धि तथा भूस्पर्श मुद्रा में बैठे हुए अक्षोम्य - की साधना का प्रचलन है। इस साधना को ऊँ मणि पद्मेहुं मंत्र से संपन्न किया जाता है। पूजन के समय घंटा ध्वनि से यही नाद निकलता रहता है। सहजयान और मंत्रयान इसी साधन क्रम में आते हैं।

ॐ सहनाववतु, सहनोभुनक्तु, सहवीर्यं करवावहे। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहे - श्वेताश्वतर उपनिषद्

श्री मद्भगवद्गीता के 'अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षिष्यामि मा शुचः तथा योगक्षेमं वहाम्यहम् जैसे शाश्वत सत्य सूत्रों की तरह तथागत का यह आश्वासन भरा सूत्र है-

‘ ‘अहं च दुःखोपादानां उपादामि’ ’ (शिक्षा समुच्चय - 6) (मैं सबके दुखों का भारग्रहण करता हूँ)

सर्वसुलभ सरलता संपन्न आचार प्रधान बौद्ध साधना ने पृथ्वी के एक बड़े भाग - पूर्वोपर एशिया- सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, चीन, महाचीन, मंगोलिया, नेपाल, मेसोपोटामिया, लंका, मलय प्रभृति द्वीपों को प्रभावित किया है। चौत्तीस सुंाओं (सूत्रों) का 'दीघनिकाय' , 152 प्रवचनों का संग्रह 'मज्झिम निकाय' , धम्मचक्कपवंान सुंा वाराणसी के उपदेश भरा 'संजुंा निकाय' , 2300 से अधिक सूत्रों का संग्रह 'अंगुंार निकाय' अथवा पंद्रह विभागों से युक्त 'खुद्दर निकाय' (छोटे-छोटे उपदेश टुकड़ों का संग्रह) आदि से संपन्न त्रिपिटकों - सुंा पिटक, विनय पिटक तथा अभिधम्म पिटक - पर विभिन्न भाष्य यत्र-तत्र होते रहे।

बौद्ध साहित्य की इस संक्षिप्त पृष्ठभूमि में बौद्ध साधना का क्रम इस प्रकार है-

‘अपने और पराए दुःख दूर करने हेतु अपने इस मैं को दूसरे को दान करता हूँ और दूसरे को मैं के समान ग्रहण करता हूँ।’ ऐसी विपश्यना (प्रज्ञा) सहित चिंामलों की शुद्धिपूर्वक शमथ ;डमकपजंजपवदद्ध करते हुए तीन बार नमस्कार करे-

नमोतस्य भगवतो अर्हतो संभासंबुद्धस्य (उन भगवान अर्हत् सम्यक् संबुद्ध को नमस्कार - 3)

अब त्रिशरण ग्रहण की जाती है-

बुद्धं सरणम् गच्छामि (मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ)

धम्मं सरणम् गच्छामि (मैं धर्म की शरण जाता हूँ)

संघं सरणम् गच्छामि (मैं संघ - न्दपजल . की शरण जाता हूँ)

दुतीयंपि उपर्युक्त त्रिशरण दूसरी बार

ततीयंपि उपर्युक्त त्रिशरण तीसरी बार।

इसके बाद पंचशील (आवश्यकतानुसार अष्टशील या प्रवृज्याशील) व्रत धारण करें-

1. पाणातिपाता वैरमणी सिक्खापदम् समादियामि (मैं अपने हाथों से जीव हिंसा से विरत होने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ)
2. अदिन्ना दाना वैरमणी सिक्खापदम् समादियामि (मैं चोरी न करने की प्रतिज्ञा लेता हूँ)

3. कामेसुमिच्छाचारा वैरमणी सिक्खापदम् समादियामि (मैं व्यभिचार-कामाचार से विरत रहने की प्रतिज्ञा करता हूँ)
4. मुसावादा वैरमणी सिक्खापदम् समादियामि (मैं असत्य से विरत होने की प्रतिज्ञा करता हूँ)
5. सुरामेय मज्ज पमादद्धाना वैरमणी सिक्खापदम् समादियामि (मैं सुरापान, प्रमाद आदि से विरत होने की प्रतिज्ञा करता हूँ)

बुद्ध, धर्म, संघ, चैत्य अथवा बोधि वृक्ष के चित्रपट आदि के समक्ष पुष्प, धूप, सुगंधि, प्रदीप और आहार से संकल्पपूर्वक निम्नलिखित दैनंदिन अथवा निमित्ता रूप त्रिवंदनाएं करनी चाहिए-

इमाय धम्माम्नुधम्म पटिपयिाया बुद्धं पूजेमि। (इस धर्म की प्रतिपयिा (प्राप्ति) से मैं बुद्ध की पूजा करता हूँ)

इमाय धम्माम्नुधम्म पटिपयिाया धम्मं पूजेमि। (इस धर्म की प्रतिपयिा (प्राप्ति) से मैं धम्म की पूजा करता हूँ)

इमाय धम्माम्नुधम्म पटिपयिाया संघं पूजेमि। (इस धर्म की प्रतिपयिा (प्राप्ति) से मैं संघ की पूजा करता हूँ)

तदुपरांत द्वादशायतन (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिहवा, नासिका, कर्ण, हस्त, पाद, गुह्य, उपस्थि, मन और बुद्धि) की पूजन संपन्नता- सम्यगत्व शुद्धि हेतु त्रिकामना करे-

1. श्रद्धा इमाय पटिपयिाया जाति जरामरण म्हा परिमुचिस्सामि (निश्चय ही इस प्रतिपयिा से मैं जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु से मुक्त हो जाऊंगा)
2. इमिना पुत्र कम्मेन मा मे बाल समागमो। एतं समागमो होतु या निव्वान पयिाया।। (इस पुण्य कर्म से निर्वाण प्राप्ति समय तक कभी भी मूर्खों से मेरी संगति न हो)
3. देवा वस्सतु सस्सन संपयिा हेतु च। फीतो भवतु लोको च राजा भवतु धम्मको।। (फसल वृद्धि हेतु समय-समय पानी बरसे, संसार के सभी प्राणी उन्नति करें और शासक धार्मिक हो)

इस प्रकार मनोविज्ञान, तर्क और नीति के समुच्चय से संपन्न दुःख प्रभंजनक सर्व कल्याणमयी मंगल कामनाएं करती यह साधना अत्यंत सरल और बोधगम्य सूत्रों में संगुंफित है।

युगशिल्पी वर्ष 5 अंक 9 isbn 09754644 में प्रकाशित

## बुंदेली गीत गोविंद: एक परिचय

भौतिकवादी संस्कृति की चकाचौंध के बीच साहित्य में रमना जितनी बड़ी साधना है उससे बड़ी साधना लोक-भाषा के साहित्य की साधना करना है, क्योंकि इसमें व्यापक ख्याति मिलना अत्यंत दुर्लभ होता है। साहित्यकार को एक छोटे से दायरे में सीमित रह जाने का क्षोभ रहता है, अतिसीमित संसाधनों में रहकर इसका प्रकाशन विरल होता है, क्योंकि क्षेत्रीय भाषा में गंभीर पाठकों का अभाव जो होता है। बुंदेली लोक भाषा में जो साहित्य रचा जा रहा है, उसके प्रोत्साहन और साहित्यकारों का उत्साहवर्धन करने वाले व्यक्ति और संस्थाएं इस अंचल में कार्य कर रही हैं।

राजनीतिक रूप से देश के दो बड़े प्रांतों में विभक्त, किंतु सांस्कृतिक इकाई के रूप में चिर-परिचित बुंदेलखंड की संस्कृति और समाज पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव अभी भी उतना नहीं पड़ सका है, जितना अन्य बोली-क्षेत्रों के समाजों पर। कदाचित् विकास के आधुनिक पैमानों पर खरा न उतरने के कारण ही इस क्षेत्र को पिछड़ा माना जाता है, अन्यथा बुंदेलखंड में पंजाब का-सा शौर्य, राजस्थान का-सा पुरातत्व और महाराष्ट्र की-सी कला-संस्कृति की समृद्धि दिखाई देती है। इस समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के साहित्यिक पक्ष को अपने मूल रूप में संरक्षित और जीवंत करने का कार्य यहां के लोक अध्येता बिना प्रलोभन कर रहे हैं, जिनमें से एक बाबूलाल द्विवेदी हैं। लोक अध्येता होने की बुनियादी शर्त है कि वह लोक में रमण करे, बिना इसके उसका लोक अध्ययन वायवी और एकांगी होगा उसमें प्रामाणिकता और अनुभूति की सघनता नहीं होगी। लोक का मूल स्वरूप आज भी गांव में ही देखा जा सकता है। एक जुलाई छियालीस को जन्मे बुंदेली गीतगोविंदकार श्री युत् बाबूलाल द्विवेदी शहरों में निवसित अपने पुत्र-पुत्रियों और उनके परिवारों के साथ न रहकर ललितपुर जनपद के लघु ग्राम छिल्ला (बानपुर) में रहकर ही साहित्य-साधना में लीन हैं। शायद ऐसे लोक अध्येताओं के लिए आधारभूत सामग्री के स्रोत आज भी ये गांव ही हैं। श्री द्विवेदी साहित्य के साथ-साथ कर्मकांड, दर्शन-आध्यात्म, पुराण-उपनिषद और आयुर्वेद चिकित्सा के भी मर्मज्ञ हैं। आपकी मनीषा नाना पुराण, निगमागम और स्वांतः सुखाय की तुलसी परंपरा की सतत प्रवाही है। आयुर्वेद से संबंधित आलेख धन्वंतरि इत्यादि पत्रिकाओं में तो बुंदेली और हिंदी भाषा के आलेख मनन, चिंतामणि तुलसी साहित्य-साधना सुधानिधि, कल्याण और उसके विशेषांकों में प्रकाशित हुए हैं। क्योंकि आपका प्रमुख कर्मक्षेत्र शुद्ध, सात्विक और संतोषी स्वभाव का पौरोहित्य है, पौरोहित्य में कोई अनुष्ठान और विधि क्यों संपन्न की जाती है, इसकी सचेष्टता के कारण आपने इस क्षेत्र में भी नई उद्गावनाएं की हैं। इसलिए संस्कृत भाषा का संस्कार स्वाभाविक रूप में आपकी भाषा-शैली में परिलक्षित होता है। उच्च शिक्षा की विभिन्न उपाधियों से आप वंचित रहे, पर स्वाध्याय और सत्संग से ज्ञान,



वक्तृता, शोध और अनुभूतियों की जिन ऊंचाइयों को आपने उपलब्ध किया, उसे देखकर अच्छे पारखी और विद्वान आपकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का लोहा मानते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक के आप पिता हैं। यों, हो हर पुत्र को अपने पिता पर गर्व होता है या होना चाहिए, यह स्वाभाविक है किंतु मैं अपने को विशेष सौभाग्यशाली मानता हूँ, क्योंकि शिक्षा उपाधि संपन्न होने के बावजूद अद्यावधि में सर्वदा आपके दिए मार्गदर्शन से लाभान्वित होता रहता हूँ। संस्कृत और उर्दू भाषा का जो तनिक संस्कार और हिंदी का किंचित् परिष्कार मेरे अंदर मौजूद है, उसमें सर्वप्रमुख योगदान आपका ही है।

आपके बुंदेली साहित्य, इतिहास एवं संस्कृति से संबंधित विविध लोक विषयों पर लिखे गए आलेख और कविताएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, अभिनंदन ग्रंथों में और आदिवासी लोककला अकादमी भोपाल से प्रकाशित हुए हैं। कविताएं और वार्ताएं दूरदर्शन केंद्र भोपाल और आकाशवाणी छतरपुर से प्रसारित हुई हैं। पराशर संहिता का संस्कृत से हिंदी में किया गया आपका अनुवाद हिंदी में अप्राप्त साहित्य को उपलब्ध कराने की दृष्टि से स्तुत्य है। यह प्रकाशित भी हो चुका है।

बुंदेली में गीतगोविंद अभी तक आया नहीं था, जिसकी लहरी में विद्यापति, सूरदास और अष्टछाप के मूर्धन्य साहित्यकारों का अभ्युदय हुआ। हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग माने गए भक्तिकाल का एक बड़ा हिस्सा गीतगोविंद की भावभूमि पर ही अवलंबित है। गीतगोविंद में शृंगार और भक्ति का जो मणिकांचन संयोग हुआ है, उसे किसी अन्य बोली या भाषा में उतारना कवि के लिए अत्यंत दुष्कर है। भक्ति के विविध प्रकार हैं। भक्ति शृंगार की ही अन्य रूप है और इसीलिए गीतगोविंद मुख्य रूप से शृंगारी रचना है। इसमें शृंगार रस के जिन संचारी भावों का वर्णन हुआ है, उसे किसी व्यक्ति द्वारा अभिव्यक्त करना भी लोकरीति के अनुकूल नहीं समझा जाता। गीतगोविंद के कवि जयदेव ने सैकड़ों-हजारों वर्ष पूर्व अपने इष्ट राधा-कृष्ण के रास-रूप के अंग-प्रत्यंग, भाव-अनुभाव को जो वाणी दी, उसे आज का समाज प्रचलित लोकरीति के कारण व्यक्त नहीं करता। अनुवादक ने इस लोकरीति का निर्वाह अपने उपास्य-उपासक भाव में रहते हुए मर्यादापूर्ण शब्दों में व्यक्त करते हुए किया है। जहां यदि रचना के मूल भाव को संरक्षित करने की विवशता के चलते कहीं शब्दों में खुलापन आया भी है तो उसमें उपास्य-उपासक भाव की प्रतिष्ठा पूर्णरूपेण सुरक्षित बनी हुई है।

हिंदी गीत काव्य अपनी परंपरा के लिये संस्कृत साहित्य का ऋणी है। वैदिक साहित्य के पश्चात् हमें जयदेव के गीत गोविंदम् में सर्वप्रथम गीतकाव्य का उन्नत एवं परिष्कृत रूप दिखाई देता है। यह ग्रंथ विद्यापति की पदवल्लरी और सूरदास एवं कृष्णकाव्यधारा के कवियों और भक्तों का प्रेरक बना। यही नहीं, वर्तमान में जो स्त्री विमर्श मुख्यधारा का साहित्य बना हुआ है, उसका उत्स भी इस ग्रंथ में पूर्ण काव्यत्व और लालित्य के साथ दृष्टव्य है

कनकनिकषरुचिशुचिवसनेन ।

साहित्यिक शोध में समय, समाज और संस्कृति

श्वसिति न सा परिजनहसनेन ॥

सखि या रमिता वनमालिना ॥७-६॥

सोनें सौ पीतांबर हरि कौ मुरली तानें दै रइ।

पिय के संग संभोग खों सुनकें सखियां तानें दै रइं ।

तानें और मसखरी सुन कें आली तौउ हरस रइ।

बनमाली के संगै रैकें का हम घाड़ तरस रइं।।

मुझे विश्वास है कि इस कृति के परंपरागत गीत और संगीत की लहरियों में कविर्मनीषी न केवल भावनिमग्न होंगे, अपितु वे इसे समसामयिक साहित्यिक स्थापनाओं और विमर्शों के आलोक में भी परखेंगे ।

Pothi.com पर 'बुंदेली गीत गोविंद' प्रकाशित ebook isbn 9788190891240 का प्राक्कथन

## सृजनधर्मी- बाबूलाल द्विवेदी

भौतिकवादी संस्कृति की चकाचौंध के बीच साहित्य में रमना जितनी बड़ी साधना है, उससे बड़ी साधना लोक-भाषा के साहित्य की साधना करना है, क्योंकि इसमें व्यापक ख्याति मिलना अत्यंत दुर्लभ होता है। साहित्यकार को एक छोटे से दायरे में सीमित रह जाने का क्षोभ रहता है, अतिसीमित संसाधनों में रहकर इसका प्रकाशन विरल होता है, क्योंकि क्षेत्रीय भाषा में गंभीर पाठकों का अभाव जो होता है। बुंदेली लोक भाषा में जो साहित्य रचा जा रहा है, उसके प्रोत्साहन और साहित्यकारों का उत्साहवर्धन करने वाले व्यक्ति और संस्थाएं इस अंचल में कार्य कर रही हैं। बुंदेलखंड का पिछड़ापन देश भर में सर्वत्र जाना जाता है। मीडिया के माध्यम से इस अंचल के पिछड़ेपन की विभीषिका के चर्चे देश के कोने-कोने तक हो चुकी है। इस परिप्रेक्ष्य में निरासक्त भाव से यहां का साहित्यकार अपनी साहित्य-साधना में संलीन है। उदारीकरण के दौर में जहां पाठ और पाठक का संबंध दरक रहा है। पाठक अब उपभोक्ता हो गया है, जिसे तरह-तरह के भोगवादी व्यंजन लुभाए जा रहे हैं। पाठ भी अब उयार आधुनिकता के दौर से निकलकर प्रवृत्तिगत अस्पष्टता के कारण दी जा रही संज्ञा 'उयारोयार आधुनिकता' तक आ पहुंचा है। 'पाठ' नाम की संज्ञा को छिन्न-भिन्न करके छोड़ दिया गया है।

राजनीतिक रूप से देश के दो बड़े प्रांतों में विभक्त, किंतु सांस्कृतिक इकाई के रूप में चिर-परिचित बुंदेलखंड की संस्कृति और समाज पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव अभी भी उतना नहीं पड़ सका है, जितना अन्य बोली-क्षेत्रों के समाजों पर। कदाचित् विकास के आधुनिक पैमानों पर खरा न उतरने के कारण ही इस क्षेत्र को पिछड़ा माना जाता है, अन्यथा बुंदेलखंड में पंजाब का-सा शौर्य, राजस्थान का-सा पुरातत्व और महाराष्ट्र की-सी कला-संस्कृति की समृद्धि दिखाई देती है। इस समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के साहित्यिक पक्ष को अपने मूल रूप में संरक्षित और जीवंत करने का कार्य यहां के लोक अध्येता बिना प्रलोभन कर रहे हैं, जिनमें से एक बाबूलाल द्विवेदी हैं। लोक अध्येता होने की बुनियादी शर्त है कि वह लोक में रमण करे, बिना इसके उसका लोक अध्ययन वायवी और एकांगी होगा, उसमें प्रामाणिकता और अनुभूति की सघनता नहीं होगी। लोक का मूल स्वरूप आज भी गांव में ही देखा जा सकता है और एक जुलाई छियालीस को जन्मे श्री द्विवेदी शहरों में निवसित अपने पुत्र-पुत्रियों और उनके परिवारों के साथ न रहकर ललितपुर जनपद के लघु ग्राम छिल्ला (बानपुर) में रहकर ही साहित्य-साधना में लीन हैं। शायद ऐसे लोक अध्येताओं के लिए आधारभूत सामग्री के स्रोत आज भी ये गांव ही हैं। श्री द्विवेदी साहित्य के साथ-साथ कर्मकांड, दर्शन-आध्यात्म, पुराण-उपनिषद और आयुर्वेद चिकित्सा के भी मर्मज्ञ हैं। आपकी मनीषा नाना पुराण, निगमागम और

स्वांतः सुखाय की तुलसी परंपरा की सतत प्रवाही है। आयुर्वेद से संबंधित आलेख धन्वंतरि इत्यादि पत्रिकाओं में तो बुंदेली और हिंदी भाषा के आलेख मनन, चिंतामणि, तुलसी साहित्य-साधना, सुधानिधि, कल्याण और उसके विशेषांकों में प्रकाशित हुए हैं। क्योंकि आपका प्रमुख कर्मक्षेत्र शुद्ध, सात्विक और संतोषी स्वभाव का पौरोहित्य है, पौरोहित्य में कोई अनुष्ठान और विधि क्यों संपन्न की जाती है, इसकी सचेष्टता के कारण आपने इस क्षेत्र में भी नई उद्भावनाएं की हैं। इसलिए संस्कृत भाषा का संस्कार स्वाभाविक रूप में आपकी भाषा-शैली में परिलक्षित होता है। उच्च शिक्षा की विभिन्न उपाधियों से आप वंचित रहे, पर स्वाध्याय और सत्संग से ज्ञान, वक्तृता, शोध और अनुभूतियों की जिन ऊंचाइयों को आपने उपलब्ध किया, उसे देखकर अच्छे पारखी और विद्वान आपकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का लोहा मानते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक के आप पिता हैं। यों, हो हर पुत्र को अपने पिता पर गर्व होता है या होना चाहिए, यह स्वाभाविक है किंतु मैं अपने को विशेष सौभाग्यशाली मानता हूं, क्योंकि शिक्षा उपाधि संपन्न होने के बावजूद अद्यावधि मैं सर्वदा आपके दिए मार्गदर्शन से लाभान्वित होता रहता हूं। संस्कृत और उर्दू भाषा का जो तनिक संस्कार और हिंदी का किंचित् परिष्कार मेरे अंदर मौजूद है, उसमें सर्वप्रमुख योगदान आपका ही है।

आपके बुंदेली साहित्य, इतिहास एवं संस्कृति से संबंधित विविध लोक विषयों पर लिखे गए आलेख और कविताएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, अभिनंदन ग्रंथों में और आदिवासी लोककला अकादमी भोपाल से प्रकाशित हुए हैं। कविताएं और वार्ताएं दूरदर्शन केंद्र भोपाल और आकाशवाणी छतरपुर से प्रसारित हुई हैं। पराशर संहिता का संस्कृत से हिंदी में किया गया आपका अनुवाद हिंदी में अप्राप्त साहित्य को उपलब्ध कराने की दृष्टि से स्तुत्य है। यह प्रकाशित भी हो चुका है।

गीतगोविंद का बुंदेली पद्यानुवाद का प्रकाशनाधीन कार्य अभी हाल में ही आपने संपन्न किया है। बुंदेली में गीतगोविंद अभी तक आया नहीं था, जिसकी लहरी में विद्यापति, सूरदास और अष्टछाप के मूर्धन्य साहित्यकारों का अभ्युदय हुआ। हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग माने गए भक्तिकाल का एक बड़ा हिस्सा गीतगोविंद की भावभूमि पर ही अवलंबित है। गीतगोविंद में श्रंगार और भक्ति का जो मणिकांचन संयोग हुआ है, उसे किसी अन्य बोली या भाषा में उतारना कवि के लिए अत्यंत दुष्कर है। भक्ति के विविध प्रकार हैं। भक्ति श्रंगार की ही अन्य रूप है और इसीलिए गीतगोविंद मुख्य रूप से श्रंगारी रचना है। इसमें श्रंगार रस के जिन संचारी भावों का वर्णन हुआ है, उसे किसी व्यक्ति द्वारा अभिव्यक्त करना भी लोकरीति के अनुकूल नहीं समझा जाता। गीतगोविंद के कवि जयदेव ने सैकड़ों-हजारों वर्ष पूर्व अपने इष्ट राधा-कृष्ण के रास-रूप के अंग-प्रत्यंग, भाव-अनुभाव को जो वाणी दी, उसे आज का समाज प्रचलित लोकरीति के कारण व्यक्त नहीं करता। अनुवादक ने इस लोकरीति का निर्वाह अपने उपास्य-उपासक भाव में रहते हुए मर्यादापूर्ण शब्दों में व्यक्त करते हुए किया है। जहां यदि रचना के मूल भाव को संरक्षित करने की

विवशता के चलते कहीं शब्दों में खुलापन आया भी है तो उसमें उपास्य-उपासक भाव की प्रतिष्ठा पूर्णरूपेण सुरक्षित बनी हुई है। इसका एक पद यहां उल्लिखित करना अनुपयुक्त न होगा-

मलयाचल चंदन के पेड़न से भुजंग जो लिपड़े रत।

ताती संासें लगी सपरवे बरफ कुदाऊं पवन भगत।।

हलत आम के मौर हवा से मौलसिरी के झाँर हलत।

देख कोयलें हाली फूलीं मीठे सुर में गाउत फिरत।।

ठंडी हवा सुगंधी कौ सुख सब लै रए प्यारे प्यारी।

मोहित सखियन के समूह में 'मधुप' खेल रए बनवारी।।

1857 के स्वतंत्रता संग्राम की 150वीं वर्षगांठ के अवसर पर जानकी प्रकाशन से प्रकाशित 250 पृष्ठीय पुस्तक 'बानपुर विविधा' के आप प्रधान संपादक हैं। यह पुस्तक आपकी संपादन प्रतिभा का अप्रतिम दस्तावेज़ है, जिसमें जनपद ललितपुर के जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़े और ऐतिहासिक गांव बानपुर पर प्रकाशित-प्रसारित लेखों-वार्ताओं का समाहार तो किया ही गया है, बानपुर के बाइस भुजी नृत्यरत गणपति तथा जैन मंदिरों और स्थापत्य के संबंध में जानकारी परक आलेख संग्रहीत हैं। यह आलेख प्रतिष्ठित और अधिकारी विद्वानों के हैं। आपकी संपादन प्रतिभा पर विद्वान लेखकों ने भरोसा करके अपने आलेख प्रकाशित करने हेतु लिखे। पुस्तक में वर्ण्य स्थान के बहाने जनपद की ऐतिहासिक-राजनीतिक घटनाओं को सिलसिलेवार अभिव्यक्त करता हुआ प्रधान संपादक का एक विस्तृत आलेख जनपद के इतिहास और राजनीति की मौलिक और विरल जानकारी प्रदान करता है। 1857ई से कहीं पूर्व 1842 में इस जनपद में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का सूत्रपात हुआ था, ऐसी अनेक महत्वपूर्ण शोधपरक जानकारी से समृद्ध यह पुस्तक स्थानीय अध्ययन को समग्र बनाती है।

वर्ष 2011 में जानकी प्रकाशन से ही प्रकाशित और अर्पित प्रिंटोग्राफर्स दिल्ली से मुद्रित 'भइया अपने गांव में' बुंदेली बोली में इसी अंचल के बारे में श्री द्विवेदी द्वारा रचित मुक्तकों का संग्रह है। इन मुक्तकों में बुंदेलखंड की विलुप्त होती लोकरीति का सुंदर गुम्फन हुआ है। ऐसे समय में जहां आधुनिकता और उसकी उत्तरोत्तरता में परंपरा और संस्कृति के अवशेष मात्र बचे हैं, बुंदेली के इन पदों को पढ़कर हम पाते हैं कि हम इस दौर से कितना आगे निकल आए हैं। किसी संस्कृति के मूल स्वरूप का दर्शन आधुनिक समाज में दुष्कर हो गया है। समय परिवर्तनशील है, किंतु समाज उससे भी अधिक वेग से प्रतिपल बदलता जा रहा है। पल भर को भरपूर जी लेने की आकांक्षा मनुष्य में बलवती

हो गई है। मनुष्य पुरातन से विच्छिन्न हो रहा है, आधुनिक पीढ़ी का एक वर्ग अपनी धरोहर को संजोने को अवांछित-सा मानने लगा है। ऐसे में इन पदों से गुजरते हुए पाठक को बरबस अपने जिए हुए समय का स्मरण हो आता है।

यह पद बुंदेलखंड के गांवों की संस्कृति को कुछ चुने हुए रूपों के साथ तो प्रस्तुत करते ही हैं, बुंदेली बोली के माधुर्य और अप्रचलित शब्दों का सुमधुर पाठ भी हमारे सम्मुख रखते हैं। भारत प्रमुखतः गांवों का देश है, अतः यहां के गांवों की समृद्धि होने पर ही देश की खुशहाली संभव है। बोली का मूल प्रयोग गांवों में हुआ है। भाषा के स्तर पर जो बोली जितनी अधिक संपन्न है और उसमें जितना अधिक साहित्य-सृजन हुआ हो, उससे हमारी राष्ट्रीय भाषाएं उतनी ही समुन्नत होती हैं। यह विदित है कि आधुनिकता के बढ़ते दबाव के बीच बोलियां समाप्त हो रहीं हैं। जिस बोली में व्यक्ति लिखना-पढ़ना बंद कर देते हैं, बोलने के स्तर पर वह बहुत अधिक समय तक ज़िंदा नहीं रह सकती। बोली का वाचिक रूप उसके लिखित रूप से संरक्षित और सुरक्षित रहता है, अन्यथा वह बोली अनेक दबावों के चलते अप्रचलित हो जाती है। आदिवासियों की भाषाओं के विलुप्तीकरण का यह प्रमुख कारण है। वर्तमान में पठनशीलता का पतन हो गया है। पुस्तक और पत्रिकाओं का मात्रात्मक प्रकाशन तो बढ़ा है, किंतु यह सर्वमान्य है कि गंभीर पाठक अब बहुत थोड़े ही रह गए हैं। आज की भाग-दौड़ भरी ज़िंदगी में जो आंखों के सामने से क्षणिक रूप में गुजरा, उसी पर दृष्टिपात कर पाठक संतृप्त हो रहा है। पढ़ने के तौर-तरीके बदल रहे हैं, अब फेसबुक, ट्विटर और अन्य सोशल नेटवर्किंग वेबसाइट भी पढ़ने के प्रभावी और उपलब्ध माध्यम बन गए हैं। इनसे जुड़ा पाठक तकनीकी की सीमाओं और सुविधाओं तथा सूचनाओं के अंबार के चलते थोड़े समय में ही अधिक पा लेने की चाह में है। इसलिए लिखना और अपनी प्रतिक्रिया देना भी अब त्वरित हो गया है, क्योंकि इन माध्यमों पर उसका भी अवसर सुलभ है। क्षण-प्रतिक्षण आ रहीं सूचनाओं के बीच मूल्यों और संवेदनाओं का ठहराव नहीं हो पा रहा है। कुछ लोगों का मानना है कि यह ठीक ही है, जो अच्छा होगा, वही टिकेगा; किंतु वास्तव में कुछ जम नहीं रहा है तो क्या इसका अर्थ है कि कुछ अच्छा नहीं लिखा जा रहा है। बात वास्तव में ऐसी नहीं है, अच्छे को देखने की हमारी आदतें छीन ली गई हैं। हमें उपभोक्ता बना दिया गया है। यह विज्ञापन युग है और विज्ञापन का लक्ष्य है कि उपभोक्ता की जेब से पैसे निकालना है, चाहे विधि कोई हो। इसीलिए जब विज्ञापन मोहक अंदाज में किसी उत्पाद की ऐसी विशेषता बताता है जो उसमें है ही नहीं तो भी उपभोक्ता उसके झांसे में आ जाता है। कोई क्रीम किस तरह काले को गोरा कर सकती है, इसे विज्ञापन ही संभव बनाता है। इस तरह के विज्ञापन और विज्ञापनवाद से पार जाने की चुनौती संवेदनशील मनुष्य के लिए बनी हुई है। मनुष्य को संवेदनशील बनाने में साहित्य का महती योगदान होता है।

साहित्य का प्रभाव तब पड़े जब उसमें लेखन और पठन होता रहे, किंतु पठनीयता का बढ़ता अभाव इस दौर का एक अलग संकट है और यह ऐसा संकट है जो कई तरह की समस्याओं को जन्म देता है। पाठक अब महाकाव्यों और उपन्यासों को भारी भरकम मानता है, रिमोट संस्कृति जो चल पड़ी है। रिमोट के बटन को दबाने के क्रम में जो

दर्शक को मिल जाता है, उसी में संतुष्ट होने की विवशता हो गई है। तुरा यह कि टेलीविजन के नियंता और प्रसारक दुहाई देते हैं कि जो दर्शक को पसंद है, वही दिखाया जा रहा है। यह वैसे ही है, जैसे सरकारें कहती हैं कि हमें पांच साल के लिए जनता ने चुन के भेजा है अतः हम जो करेंगे वही जनता के लिए आवश्यक और उत्तम है, जिसके परिणाम में महंगाई और भ्रष्टाचार बढ़ता ही जा रहा है; किंतु इन सबसे अलग, इस संग्रह के मुक्तक पाठक को रमाते हैं लेकिन रिमोट की तरह इसका आनंद क्षणिक नहीं होता। यह मुक्तक पढ़कर पाठक सोचने को अभिमुख होता है कि हमारी संस्कृति में बहुत कुछ था, जो पूरी तरह संजोने योग्य है। संग्रह सबके लिए बोधगम्य बने, इसके लिए कुछ अपरिचित-से सात सौ चालीस शब्दों का प्रसंगानुसार अर्थ दे दिया गया है, प्रयास यह किया गया है कि इस त्वरा-युग में पाठक को शब्दकोष का सहारा न लेना पड़े।

इस संग्रह के पदों को उनमें वर्णित सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकृत किया गया है, फिर भी पाठक किसी भी मुक्तक को पढ़कर उसके साथ जुड़ा हुआ पाता है। इससे बुंदेलीतर पाठक के मन में बुंदेली बोली और साहित्य के प्रति ही लगाव उत्पन्न नहीं होगा, अपितु उसे अपने अंचल और आंचलिकता के प्रति भी आकर्षण और गरिमा बोध उत्पन्न होगा। इन पदों में बुंदेली लोक गाथाओं, इतिहास, टहूका, लोकदेवता, कहावतों और लोकोक्तियों, दर्शन-रहस्य, अहाने-अटका, किस्सा-कहानियों का वर्णन-स्मरण हुआ है, जिनके सहारे बुंदेली वर्तन, कृषि संपदा, वाद्य यंत्र, खाद्य पदार्थ, आभूषण इत्यादि की अप्रचलित शब्दावली का लालित्य-दर्शन हो गया है। मनुष्यों की भाँति शब्दों का भी अपना जन्म-स्थान तथा इतिहास होता है। शब्दों की यात्रा देश-विदेश में परस्पर होती रहती है। इस यात्रा में उनका स्वरूप परिवर्तित होना स्वाभाविक है। हिंदी में कितने ही विदेशी शब्दों की स्वीकृति हो गई है, इसी तरह अंग्रेजी में भी हिंदी सहित अन्य भाषाओं के अनेक शब्द मान्य हो चुके हैं। शासन और शासक अपना प्रभाव किसी भाषा पर छोड़ते ही हैं। ऐसे में, कदाचित्, जो भाषा की समझ कम रखते हैं, उनकी तरफ से यह कहा जा सकता है कि बुंदेली या किसी बोली के अप्रचलित शब्दों को आज के पाठक के सामने लाने का क्या तुक है? किंतु अधिकांश विद्वानों की भाँति मेरा मानना है कि हिंदी के पाठकों और श्रोताओं के बीच अपनी बोलियों के शब्दों, उनके बदलते अर्थ, रस, गुण और उसके मूल आशय से संबंधित जितनी जानकारी बढ़ेगी, उतना ही वे जीवन और कला के रस को खींचेंगे। साथ ही हमारी राष्ट्रभाषाएं संपन्नतर होती चलेगी। आज की अनर्गल, अटपटी हिंगलिश या क़िताबी हिंदी के व्यवहार से दैनंदिन कामकाज भले चल जाए, किंतु ज्ञान-विज्ञान की भाषा बनने के लिए किसी भाषा को परिचित और विपुल शब्द भण्डार जुटाना होगा।

हम जानते हैं कि भारतीय भाषाएं अपनी-अपनी उपभाषाओं अर्थात् बोलियों के अपरिमित भण्डार और संप्रेषणीयता के कारण रसपूर्ण एवं क्षमता संपन्न हैं, किंतु हमारी त्वरा और आलस्य ने उसे अभी तक पाठकों के सम्मुख पूरी तरह प्रस्तुत करने का काम नहीं किया है। प्राचीन भाषा-शास्त्री शाकटायन जब कहते हैं कि 'सर्वाणि

नामानि आख्यातजानि’ अर्थात् हर शब्द के भीतर उसके जन्म की कहानी छिपी होती है। शब्द का मर्म और इतिहास खोजने के लिए उसका क्रियारूप जानना आवश्यक होता है। अर्थ के सभी स्तरों को समझे बिना क्रियारूप नहीं समझा जा सकता है। शब्दों का क्रियारूप जानने की दृष्टि से बोलियां और उनका साहित्य सर्वाधिक स्रोतपूर्ण माध्यम है। एक उदाहरण से बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। रोटी चाहे बेलकर कर बनाएं या हाथ से थपकाकर, मानक हिंदी में दोनों के लिए ‘रोटी बनाना’ कहा जाता है, किंतु बंुदेली में हाथ से रोटी बनाने की क्रिया को अलग से ‘पै/पड़’ कहा जाता है। इस संग्रह के एक पद की पंक्ति है-

‘जितै परोसन की बउएं मिल कैं रोटीं पै रड़।’

समझने में मुश्किल तब और बढ़ जाती है, जब इस प्रकार के शब्द हिंदी और बंुदेली शब्दकाशों में उपलब्ध नहीं होते। यह शब्द संस्कृत चर्पटी (हाथों से थपकाकर आकार पाने वाली) शब्द का ही विकसित रूप है।

स्वाभाविक तौर पर किसी रचना में रचनाकार का आत्मवृत्त झाँकता है। इस संग्रह में भी कवि ने अपने बारे में यत्र-तत्र संकेत किए हैं। पारदर्शी ईमानदारी के साथ अपनी सीमाओं, अपने संदेहों, अपनी व्यथा और अपनी निष्ठा को कवि ने ध्वनित किया है-‘नौनी-बुरड़ मांग, मांगबे में जौ मन मैलो भओ’ । और ‘पैलउं पुरखन नै कै दड़ फिर ‘मधुप’ बेड़ पछयावं में।’

कवि के वाग्वैदग्ध्य ने वर्णनों की भावुकता और कविताई के बोझ को रचना में फटकने नहीं दिया है-

‘चैते चुका दियौ उदार को नुंगरौ हमें उठा दो।

मुंस की छाती एक बार जे कै रड़ं बेउ पटा दो’ ॥

संग्रह में हास-परिहास तो है, लेकिन कलात्मक गंभीरता एवं उद्देश्य परकता के कारण उसने फूहड़ता और अश्लीलता का स्पर्श भी नहीं किया है, जो बोलियों पर एक आम-प्रचलित आरोप है। एकाध जगह चटू, दारी, छिनरा, छाकड़ जैसी गालियों का प्रसंगानुकूल प्रयोग है। दहेज समस्या, पर्यावरण प्रदूषण आदि की समस्या का रोचक प्रस्तुतीकरण हुआ है। मनुष्य के संघर्षशील जीवन में कैसी-कैसी क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं संघटित होती हैं, उनका चित्रण इस संग्रह में पढ़ते ही बनता है। एक बानगी देखिए-

‘एक ब्याव में न्यौतें गए देखो दोउ समदी लर रए।

मोें माँगे कल्दार गिना लए कौठा तोउ न भर रए॥



मड़वा तरें बाप बिटिया कौ दो-दो अँसुवन रो रओ।

जित्ती हती हैसियत उततौ काइ दायजौ धर दओ।।

लरका वारौ आँखें काइँ उचकत नाक फुलाव में।’

इन पदों को पढ़कर हम यह भी कह सकते हैं कि रचयिता ने सजग प्रहरी की भाँति मनुष्य के हृदय को मानवता के प्रति आस्थावान बनाए रखने में अपना योगदान किया है। रचना की प्रतिध्वनि है कि उदारीकरण के इस दौर में गांव और शहर का भेद समाप्त हो रहा है, शहर में शामिल होने या शहरी जैसा होने में गांव और गांव वाले धन्यता समझने लगे हैं, लेकिन शहरों की भयावहता को देखकर गांव में ही देश का भविष्य सुरक्षित नज़र आता है। इसे कुछ आलोचक नॉस्टेल्लिया मान सकते हैं, पर आखिर इसके सिवा कोई चारा भी तो नहीं दिखता।

‘भड़या अपने गांव में’ में गांव की विशेषताएं अपने यथार्थ स्वरूप में बिना लाग-लपेट के रखी गई हैं। गांव में ऐसा भी होता है-

‘ऊपर सें मौ मीठी बातें मन में राखें मैल खों।

अगल-बगल में पाछें जोतें पैलउं जोतें गैल खों’ ।।

ग्रामीण अपनी बात को ठेठ अंदाज में कहने के आदी होते हैं। इसीलिए गांव की बोली और उसके मुहावरे की अपनी पहचान हुआ करती है, बाद के दिनों में गांवों में आधुनिकता का संक्रमण जिस तरह हुआ, उसका चित्रण भी इस संग्रह में दृष्टव्य है। यही नहीं दबे-कुचले वर्ग द्वारा विद्रोह के स्वर भी स्पष्ट रूप से इन मुक्तकों में दिखे हैं, जो रचयिता के युग-बोध का परिचायक है।

गांव में लोक बसता है। लोकमानस चीजों को समग्रता से देखता है। वह किसी की परवाह नहीं करता, उसमें बड़े से बड़े सम्राटों को सिखाने की क्षमता होती है। लोक प्रकृति और जीवन से निरंतर जुड़ा रहता है, वह अनुभव से सीखता है। लोक द्वारा रचित साहित्य ज्ञान की वाचिक परंपरा है। लोक में श्रद्धाभाव का साक्षात्कार होता है। जो विद्वान लोक को अनगढ़, अशिष्ट, असभ्य, अर्द्धसभ्य, जंगली, आदिवासी, मूढ़, अपढ़, गंवार या अज्ञानी मानते हैं, वे वास्तविकता से दूर हैं। यह स्थापित है कि सभ्यता का मूल स्रोत लोक ही है, शास्त्र ने उसका विकास किया है। शास्त्र ने अपना विकसित रूप फिर लोक को दिया तथा लोक में वह फिर आगे बढ़ा। गांव में जो लोक बसता है, वह व्यक्ति के

मन को बाँधता है; संस्कारित करता है और उसे सामाजिक बनाता है। इस संग्रह में आई लोक की उक्तियां व्यक्ति के मन को दुलारती हैं, डाँटती हैं, फटकारती हैं, व्यंग्य-वाणों का प्रहार भी करती हैं तो समझाती भी हैं। व्यक्ति का मार्गदर्शन करने वाले, उचित और अनुचित,, पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ, सही और ग़लत के विवेक की प्रतिष्ठा इस संग्रह के पदों के केंद्र में आए 'लोक' द्वारा संभव हुई है। इसीलिए इन पदों को पढ़कर पाठक भावित होता है, क्योंकि लोक उसके भीतर भी बैठा है। उल्लेखनीय है कि लोग शब्द की व्युत्पत्ति 'लोक' से ही हुई है। आधुनिक और उत्तर आधुनिक व्यक्ति में भी अपने परिवेश और परंपरा के योग से युगों के संस्कार बसे होते हैं और जैसे धरती में छिपे हुए बीज अनुकूल ऋतु आने पर अंकुरित हो जाते हैं, वैसे ही आधुनिक मानस में भी वे मूल संस्कार ऐसी रचनाओं को पढ़कर जाग जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति अपनी परंपरा से कट ही नहीं सकता, वरना वह 'लोग' कैसे रहेगा।

'भइया अपने गांव में' बुंदेली बोली में इसी अंचल के बारे में रचित मुक्तकों का संग्रह है। इन मुक्तकों में बुंदेलखंड की विलुप्त होती लोकरीति का सुंदर संगुम्फन हुआ है। ऐसे समय में जहां आधुनिकता और उसकी उत्तरोत्तरता में परंपरा और संस्कृति के अवशेष मात्र बचे हैं, बुंदेली के इन पदों को पढ़कर हम पाते हैं कि हम इस दौर से कितना आगे निकल आए हैं। किसी संस्कृति के मूल स्वरूप का दर्शन आधुनिक समाज में दुष्कर हो गया है। समय परिवर्तनशील है, किंतु समाज उससे भी अधिक वेग से प्रतिपल बदलता जा रहा है। पल भर को भरपूर जी लेने की आकांक्षा मनुष्य में बलवती हो गई है। मनुष्य पुरातन से विच्छिन्न हो रहा है, आधुनिक पीढ़ी का एक वर्ग अपनी धरोहर को संजोने को अवांछित-सा मानने लगा है। ऐसे में इन पदों से गुजरते हुए पाठक को बरबस अपने जिए हुए समय का स्मरण हो आता है।

यह पद बुंदेलखंड के गांवों की संस्कृति को कुछ चुने हुए रूपों के साथ तो प्रस्तुत करते ही है, बुंदेली बोली के माधुर्य और अप्रचलित शब्दों का सुमधुर पाठ भी हमारे सम्मुख रखते हैं। भारत प्रमुखतः गांवों का देश है, अतः यहां के गांवों की समृद्धि होने पर ही देश की खुशहाली संभव है। बोली का मूल प्रयोग गांवों में हुआ है। भाषा के स्तर पर जो बोली जितनी अधिक संपन्न है और उसमें जितना अधिक साहित्य-सृजन हुआ हो, उससे हमारी राष्ट्रीय भाषाएं उतनी ही समुन्नत होती हैं। यह विदित है कि आधुनिकता के बढ़ते दबाव के बीच बोलियां समाप्त हो रहीं हैं। जिस बोली में व्यक्ति लिखना-पढ़ना बंद कर देते हैं, बोलने के स्तर पर वह बहुत अधिक समय तक ज़िंदा नहीं रह सकती। बोली का वाचिक रूप उसके लिखित रूप से संरक्षित और सुरक्षित रहता है, अन्यथा वह बोली अनेक दबावों के चलते अप्रचलित हो जाती है। आदिवासियों की भाषाओं के विलुप्तीकरण का यह प्रमुख कारण है। वर्तमान में पठनशीलता का पतन हो गया है। पुस्तक और पत्रिकाओं का मात्रात्मक प्रकाशन तो बढ़ा है, किंतु यह सर्वमान्य है कि गंभीर पाठक अब बहुत थोड़े ही रह गए हैं। आज की भाग-दौड़ भरी ज़िंदगी में जो आंखों के सामने से क्षणिक रूप में गुजरा, उसी पर दृष्टिपात

कर पाठक संतुष्ट हो रहा है। पढ़ने के तौर-तरीके बदल रहे हैं, अब फेसबुक, ट्विटर और अन्य सोशल नेटवर्किंग वेबसाइट भी पढ़ने के प्रभावी और उपलब्ध माध्यम बन गए हैं। इनसे जुड़ा पाठक तकनीकी की सीमाओं और सुविधाओं तथा सूचनाओं के अंबार के चलते थोड़े समय में ही अधिक पा लेने की चाह में है। इसलिए लिखना और अपनी प्रतिक्रिया देना भी अब त्वरित हो गया है, क्योंकि इन माध्यमों पर उसका भी अवसर सुलभ है। क्षण-प्रतिक्रिया आ रही सूचनाओं के बीच मूल्यों और संवेदनाओं का ठहराव नहीं हो पा रहा है। कुछ लोगों का मानना है कि यह ठीक ही है, जो अच्छा होगा, वही टिकेगा; किंतु वास्तव में कुछ जम नहीं रहा है तो क्या इसका अर्थ है कि कुछ अच्छा नहीं लिखा जा रहा है। बात वास्तव में ऐसी नहीं है, अच्छे को देखने की हमारी आदतें छीन ली गई हैं। हमें उपभोक्ता बना दिया गया है। यह विज्ञापन युग है और विज्ञापन का लक्ष्य है कि उपभोक्ता की जेब से पैसे निकालना है, चाहे विधि कोई हो। इसीलिए जब विज्ञापन मोहक अंदाज में किसी उत्पाद की ऐसी विशेषता बताता है जो उसमें है ही नहीं तो भी उपभोक्ता उसके झांसे में आ जाता है। कोई क्रीम किस तरह काले को गोरा कर सकती है, इसे विज्ञापन ही संभव बनाता है। इस तरह के विज्ञापन और विज्ञापनवाद से पार जाने की चुनौती संवेदनशील मनुष्य के लिए बनी हुई है। मनुष्य को संवेदनशील बनाने में साहित्य का महती योगदान होता है।

साहित्य का प्रभाव तब पड़े जब उसमें लेखन और पठन होता रहे, किंतु पठनीयता का बढ़ता अभाव इस दौर का एक अलग संकट है और यह ऐसा संकट है जो कई तरह की समस्याओं को जन्म देता है। पाठक अब महाकाव्यों और उपन्यासों को भारी भरकम मानता है, रिमोट संस्कृति जो चल पड़ी है। रिमोट के बटन को दबाने के क्रम में जो दर्शक को मिल जाता है, उसी में संतुष्ट होने की विवशता हो गई है। तुरा यह कि टेलीविजन के नियंत्रता और प्रसारक दुहाई देते हैं कि जो दर्शक को पसंद है, वही दिखाया जा रहा है। यह वैसे ही है, जैसे सरकारें कहती हैं कि हमें पांच साल के लिए जनता ने चुन के भेजा है अतः हम जो करेंगे वही जनता के लिए आवश्यक और उत्तम है, जिसके परिणाम में महंगाई और भ्रष्टाचार बढ़ता ही जा रहा है; किंतु इन सबसे अलग, इस संग्रह के मुक्तक पाठक को रमाते हैं लेकिन रिमोट की तरह इसका आनंद क्षणिक नहीं होता। यह मुक्तक पढ़कर पाठक सोचने को अभिमुख होता है कि हमारी संस्कृति में बहुत कुछ था, जो पूरी तरह संजोने योग्य है। संग्रह सबके लिए बोधगम्य बने, इसके लिए कुछ अपरिचित-से सात सौ चालीस शब्दों का प्रसंगानुसार अर्थ दे दिया गया है, प्रयास यह किया गया है कि इस त्वरा-युग में पाठक को शब्दकोष का सहारा न लेना पड़े।

इस संग्रह के पदों को उनमें वर्णित सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकृत किया गया है, फिर भी पाठक किसी भी मुक्तक को पढ़कर उसके साथ जुड़ा हुआ पाता है। इससे बुंदेलीतर पाठक के मन में बुंदेली बोली और साहित्य के प्रति ही लगाव उत्पन्न नहीं होगा, अपितु उसे अपने अंचल और आंचलिकता के प्रति भी आकर्षण और गरिमा बोध उत्पन्न होगा। इन पदों में बुंदेली लोक गाथाओं, इतिहास, टहूका, लोकदेवता, कहावतों और लोकोक्तियों,

दर्शन-रहस्य, अहाने-अटका, किस्सा-कहानियों का वर्णन-स्मरण हुआ है, जिनके सहारे बुंदेली वर्तन, कृषि संपदा, वाद्य यंत्र, खाद्य पदार्थ, आभूषण इत्यादि की अप्रचलित शब्दावली का लालित्य-दर्शन हो गया है। मनुष्यों की भाँति शब्दों का भी अपना जन्म-स्थान तथा इतिहास होता है। शब्दों की यात्रा देश-विदेश में परस्पर होती रहती है। इस यात्रा में उनका स्वरूप परिवर्तित होना स्वाभाविक है। हिंदी में कितने ही विदेशी शब्दों की स्वीकृति हो गई है, इसी तरह अंग्रेजी में भी हिंदी सहित अन्य भाषाओं के अनेक शब्द मान्य हो चुके हैं। शासन और शासक अपना प्रभाव किसी भाषा पर छोड़ते ही हैं। ऐसे में, कदाचित्; जो भाषा की समझ कम रखते हैं, उनकी तरफ से यह कहा जा सकता है कि बुंदेली या किसी बोली के अप्रचलित शब्दों को आज के पाठक के सामने लाने का क्या तुक है? किंतु अधिकांश विद्वानों की भाँति मेरा मानना है कि हिंदी के पाठकों और श्रोताओं के बीच अपनी बोलियों के शब्दों, उनके बदलते अर्थ, रस, गुण और उसके मूल आशय से संबंधित जितनी जानकारी बढ़ेगी, उतना ही वे जीवन और कला के रस को खींचेंगे। साथ ही हमारी राष्ट्रभाषाएं संपन्नतर होती चलेगी। आज की अनर्गल, अटपटी हिंगलिश या किताबी हिंदी के व्यवहार से दैनंदिन कामकाज भले चल जाए, किंतु ज्ञान-विज्ञान की भाषा बनने के लिए किसी भाषा को परिचित और विपुल शब्द भण्डार जुटाना होगा।

हम जानते हैं कि भारतीय भाषाएं अपनी-अपनी उपभाषाओं अर्थात् बोलियों के अपरिमित भण्डार और संप्रेषणीयता के कारण रसपूर्ण एवं क्षमता संपन्न हैं, किंतु हमारी त्वरा और आलस्य ने उसे अभी तक पाठकों के सम्मुख पूरी तरह प्रस्तुत करने का काम नहीं किया है। प्राचीन भाषा-शास्त्री शाकटायन जब कहते हैं कि 'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' अर्थात् हर शब्द के भीतर उसके जन्म की कहानी छिपी होती है। शब्द का मर्म और इतिहास खोजने के लिए उसका क्रियारूप जानना आवश्यक होता है। अर्थ के सभी स्तरों को समझे बिना क्रियारूप नहीं समझा जा सकता है। शब्दों का क्रियारूप जानने की दृष्टि से बोलियां और उनका साहित्य सर्वाधिक स्रोतपूर्ण माध्यम हैं। एक उदाहरण से बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। रोटी चाहे बेलकर कर बनाएं या हाथ से थपकाकर, मानक हिंदी में दोनों के लिए 'रोटी बनाना' कहा जाता है, किंतु बुंदेली में हाथ से रोटी बनाने की क्रिया को अलग से 'पै/पड़' कहा जाता है। इस संग्रह के एक पद की पंक्ति है-

'जितै परोसन की बउएं मिल कैं रोटीं पै रड़।'

समझने में मुश्किल तब और बढ़ जाती है, जब इस प्रकार के शब्द हिंदी और बुंदेली शब्दकाशों में उपलब्ध नहीं होते। यह शब्द संस्कृत चर्पटी (हाथों से थपकाकर आकार पाने वाली) शब्द का ही विकसित रूप है।

स्वाभाविक तौर पर किसी रचना में रचनाकार का आत्मवृत्त झाँकता है। इस संग्रह में भी कवि ने अपने बारे में यत्र-तत्र संकेत किए हैं। पारदर्शी ईमानदारी के साथ अपनी सीमाओं, अपने संदेहों, अपनी व्यथा और अपनी निष्ठा

को कवि ने ध्वनित किया है-‘नौनी-बुरड़ मांग, मांगबे में जौ मन मैलो भओ’ । और ‘पैलउं पुरखन नै कै दइं फिर ‘मधुप’ बेइ पछयावं में।’

कवि के वाग्वैदग्ध्य ने वर्णनों की भावुकता और कविताई के बोझ को रचना में फटकने नहीं दिया है-

‘चैते चुका दियौ उदार को नुंगरौ हमें उठा दो।

मुंस की छाती एक बार जे कै रइं बेउ पटा दो’ ॥

संग्रह में हास-परिहास तो है, लेकिन कलात्मक गंभीरता एवं उद्देश्य परकता के कारण उसने फूहड़ता और अश्लीलता का स्पर्श भी नहीं किया है, जो बोलियों पर एक आम-प्रचलित आरोप है। एकाध जगह चटू, दारी, छिनरा, छाकड़ जैसी गालियों का प्रसंगानुकूल प्रयोग है। दहेज समस्या, पर्यावरण प्रदूषण आदि की समस्या का रोचक प्रस्तुतीकरण हुआ है। मनुष्य के संघर्षशील जीवन में कैसी-कैसी क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं संघटित होती हैं, उनका चित्रण इस संग्रह में पढ़ते ही बनता है। एक बानगी देखिए-

‘एक ब्याव में न्यौतें गए देखो दोउ समदी लर रए।

मोें माँगे कल्दार गिना लए कौंठा तोउ न भर रए॥

मइवा तरें बाप बिटिया कौ दो-दो अँसुवन रो रओ।

जित्ती हती हैसियत उत्तौ काइ दायजौ धर दओ॥

लरका वारौ आँखें काइँ उचकत नाक फुलाव में।’

इन पदों को पढ़कर हम यह भी कह सकते हैं कि रचयिता ने सजग प्रहरी की भाँति मनुष्य के हृदय को मानवता के प्रति आस्थावान बनाए रखने में अपना योगदान किया है। रचना की प्रतिध्वनि है कि उदारीकरण के इस दौर में गांव और शहर का भेद समाप्त हो रहा है, शहर में शामिल होने या शहरी जैसा होने में गांव और गांव वाले धन्यता समझने लगे हैं, लेकिन शहरों की भयावहता को देखकर गांव में ही देश का भविष्य सुरक्षित नज़र आता है। इसे कुछ आलोचक नॉस्टेल्लिजिया मान सकते हैं, पर आखिर इसके सिवा कोई चारा भी तो नहीं दिखता।

‘भइया अपने गांव में’ में गांव की विशेषताएं अपने यथार्थ स्वरूप में बिना लाग-लपेट के रखी गई हैं। गांव में ऐसा भी होता है-

‘ऊपर से मौ मीठी बातें मन में राखें मैल खों।

अगल-बगल में पाछें जोतें पैलउं जोतें गैल खों’ ॥

ग्रामीण अपनी बात को ठेठ अंदाज में कहने के आदी होते हैं। इसीलिए गांव की बोली और उसके मुहावरे की अपनी पहचान हुआ करती है, बाद के दिनों में गांवों में आधुनिकता का संक्रमण जिस तरह हुआ, उसका चित्रण भी इस संग्रह में दृष्टव्य है। यही नहीं दबे-कुचले वर्ग द्वारा विद्रोह के स्वर भी स्पष्ट रूप से इन मुक्तकों में दिखे हैं, जो रचयिता के युग-बोध का परिचायक है।

गांव में लोक बसता है। लोकमानस चीजों को समग्रता से देखता है। वह किसी की परवाह नहीं करता, उसमें बड़े से बड़े सम्राटों को सिखाने की क्षमता होती है। लोक प्रकृति और जीवन से निरंतर जुड़ा रहता है, वह अनुभव से सीखता है। लोक द्वारा रचित साहित्य ज्ञान की वाचिक परंपरा है। लोक में श्रद्धाभाव का साक्षात्कार होता है। जो विद्वान लोक को अनगढ़, अशिष्ट, असभ्य, अर्द्धसभ्य, जंगली, आदिवासी, मूढ़, अपढ़, गंवार या अज्ञानी मानते हैं, वे वास्तविकता से दूर हैं। यह स्थापित है कि सभ्यता का मूल स्रोत लोक ही है, शास्त्र ने उसका विकास किया है। शास्त्र ने अपना विकसित रूप फिर लोक को दिया तथा लोक में वह फिर आगे बढ़ा। गांव में जो लोक बसता है, वह व्यक्ति के मन को बाँधता है; संस्कारित करता है और उसे सामाजिक बनाता है। इस संग्रह में आई लोक की उक्तियां व्यक्ति के मन को दुलारती हैं, डाँटती हैं, फटकारती हैं, व्यंग्य-वाणों का प्रहार भी करती हैं तो समझाती भी हैं। व्यक्ति का मार्गदर्शन करने वाले, उचित और अनुचित,, पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ, सही और गलत के विवेक की प्रतिष्ठा इस संग्रह के पदों के केंद्र में आए ‘लोक’ द्वारा संभव हुई है। इसीलिए इन पदों को पढ़कर पाठक भावित होता है, क्योंकि लोक उसके भीतर भी बैठा है। उल्लेखनीय है कि लोग शब्द की व्युत्पत्ति ‘लोक’ से ही हुई है। आधुनिक और उत्तर आधुनिक व्यक्ति में भी अपने परिवेश और परंपरा के योग से युगों के संस्कार बसे होते हैं और जैसे धरती में छिपे हुए बीज अनुकूल ऋतु आने पर अंकुरित हो जाते हैं, वैसे ही आधुनिक मानस में भी वे मूल संस्कार ऐसी रचनाओं को पढ़कर जाग जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति अपनी परंपरा से कट ही नहीं सकता, वरना वह ‘लोग’ कैसे रहेगा।

व्यक्ति का मूल और आदिगृह गांव ही है, शेष बाहरी और बाद के हैं। शेष तो वैसा ही है, जैसे किसी शरीर पर पहने हुए वस्त्र। गांव संस्कृत 'ग्राम' का तद्भव शब्द है। ग्राम का वैयाकरणिक अर्थ 'समूह' होता है। घरों के समूह को गांव कहा गया। गांव सभ्यता की प्रारंभिक इकाई है। सर्वप्रथम गांव अकृत्रिम रूप से अस्तित्व में आए, किंतु अब 'राही' ग्वालियरी के शब्दों में यदि कहें- 'गांव गुम शहर की ज़मीनों में, आदमी खो गए मशीनों में। हर तरफ आग ही आग लगी क्यूं है, देश के सावनी महीनां में। आपका ये सफर ना तै होगा, बैठकर कागज़ी सफ़ीनों में। आज पत्थर तलाशता हूं, कल ये गिने जाएंगे नगीनों में।'

फिर भी, गांव में आज भी अपनापा है; सौजन्य है; सौम्यता है; सरलता और सादगी है; सहयोग है; सहकार है; संवेदनशीलता है; संस्कार हैं। दुरभिसंधियां भी हैं, किंतु गांव से जुड़कर व्यक्ति बाहरी विशिष्टताओं के आवरण को उतार देता है और अपने को धरातल से संलग्न महसूस करता है। गांव से मृत्यु-पर्यंत जुड़े रहे बाबा नागार्जुन को अपनी छोटी सी कविता 'सिंदूर तिलकित भाल' में जब अपने तरउनी गांव के एक-एक उपादान की याद आती है तो पाठक भी अपने 'तरउनी' से जुड़े बिना नहीं रह पाता; क्योंकि नागार्जुन की पीड़ा है कि अन्यत्र जीवन भर रह लेने के बाद भी लोग प्रवासी ही कहेंगे। 'गांव' और 'लोक' शब्द दो हैं, किंतु इनकी अंतर्ध्वनि एक ही है। लोक जहां अपने मूल में बसता है, वह गांव ही है। किसी राष्ट्र को चलाने और दिशा निर्धारण के लिए लोक-स्वीकृति अनिवार्य है। इसीलिए अपने देश में लोकसभा और लोकतंत्र जैसे शब्द और व्यवस्था स्वीकृत हैं। भाषाशास्त्री पतंजलि ने भाषा संबंधी विवेचन में लोक को अंतिम प्रमाण माना है। धर्मशास्त्र में लोकविरुद्ध कार्य को अस्वीकार्य कहा गया- "यद्यपि सिद्धं लोकविरुद्धं नाकरणीयम् नाचरणीयम्" । प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि जो शास्त्र को जानता है; लोक को नहीं जानता, वह मूर्खतुल्य है "शास्त्रज्ञोऽप्यलोकज्ञो भवेन्मूर्खतुल्यः" ।

लोक में अनेकता और वैविध्य है, फिर भी उसकी अंतर्धारा एकता और समानता की है। विजित और विजेता दोनों का ज्ञान और संस्कृति लोक की व्यापकता में अंतर्भुक्त हो जाती है। यहां तक कि अभिजात चेतना जिसको कहा जाता है, वह भी लोक में मिलकर धन्यता का अनुभव करती है।

प्रस्तुत संग्रह में आए अनसुने-से शब्दों के दिए गए क्रियापरक अर्थ यथासंभव उनकी व्युत्पत्ति से जोड़ते हुए किए गए हैं, जिससे पाठक रचनाकार की भावभूमि से ही काव्य का आस्वाद ग्रहण कर सके। वर्तमान में हिंदी में यों भी सृजनशीलता घट गई है, हिंदी की बोलियों के सामने तो उनके अस्तित्व का संकट मंडरा रहा है। बोलियों के साहित्य में सामान्य पाठक तक सहजता से पहुँच सकने वाली ऐसी बोधगम्य भावपूर्ण क़िताबों की कमी है, जो अपने समय और समाज का यथार्थ एवं वास्तविक चित्रण करते हुए साहित्य की श्रीवृद्धि करें। यह संग्रह हिंदी साहित्य में इस अभाव की

पूर्ति में किया जाने वाला एक सत्प्रयास सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। सब मिलाकर यह एक पठनीय बूंदेली काव्य है जिसके बारे में श्री वीरेंद्र केशव साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पं. हरिविष्णु अवस्थी ने कहा है- 'लंबी कविताएं लिखने का एक इतिहास रहा है, कुछ समय से लंबी कविताओं के स्थान पर छोटी-छोटी कविताएं लिखने का चलन चल पड़ा था। 'भइया अपने गांव में' शीर्षक रचना इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में बूंदेली बोली में रची प्रथम लंबी रचना है। वस्तुतः कवि की इस लंबी काव्य रचना का उद्देश्य दूरस्थ अंचल में स्थित ग्राम्य जीवन की सजीव एवं नयनाभिराम झांकी उनकी ही बोली-वानी (ग्रामीण बूंदेली) में प्रस्तुत करना प्रतीत होता है। कवि को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।' साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त बांगला-हिंदी अनुवादक वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. रामशंकर द्विवेदी का कहना है- 'किसी भी साहित्यिक भाषा में जीवंतता के अनुपात का माप उसमें प्रयुक्त होने वाली शब्दावली है। इस प्रकार देखा जाए तो बूंदेली की ठेठ शब्दावली की रक्षा की इधर बहुत बड़ी जरूरत हो गई है। इस शब्दावली को बचाने का एकमात्र उपाय उसे रचना की भाषा बनाना है। इस दृष्टि से पं० बाबूलाल द्विवेदी 'मधुप' जी का यह प्रयास स्तुत्य और सराहनीय है।' वहीं बूंदेली शब्दकोशकार एवं लोक साहित्यकार डॉ. कैलाश बिहारी द्विवेदी के अनुसार 'पूर्वावस्था से तुलना के कारण कवि के भावुक मन में यह प्रश्न बार-बार उठता है कि 'कितै हिरा गए बे नौने दिन.....।' कहीं-कहीं इस भाव-यात्रा में कुछ इतिहास आदि की बातें भी आ जाती हैं, जो विषय की दृष्टि से अप्रासंगिक और बेमेल सी लगती हैं; परंतु उन्हें परिस्थितियों से खिन्न एवं उदास मन के उच्छ्वास मानना चाहिए।' हिंदी और बूंदेली के साहित्यकार डॉ. दुर्गेश दीक्षित का आकलन है 'ई हैरानगती में जो थोरौ-भौत लिखत-पड़त हैं सो भौत बड़ी बात है। कछू दिना से ें बूंदेली में भौत काम होत दिखा रओ। पद्य तो आल्हखंड, ईसुरी सें लेकें आजनों खूब लिखो गओ। और तो और इतैं के विश्वविद्यालयन में बूंदेली पड़ाई जान लगी है। आकासवानी उर दूरदरसन के केंद्रन सें ईकौ प्रसारन होन लगो है। निबंध, नाटक, कहानी उर उपन्यास नौ बूंदेली में लिखे जान लगे। कैउ पत्रिकां सुद्ध बूंदेली में छपी जान लगीं। अब बताओ ऐसे में हमाए पं० बाबूलाल जू दुवेदी कैसैं पाछें रैं सकत ते। संस्कृत के भौत बड़े पंडित होबे के संगे बूंदेली साहित्य उर संस्कृति में जे खूब रचे-बसे हैं। मां बूंदेली की तो उनके ऊपर पूरी किरपा हैइ। भासा, छंद उर ब्यंजना की उनें पकड़ है। छिल्ला जैसे हलके से गांव में रैंकें इततौ अछौं गं्रथ लिखबौ कछू हंसी खेल नइयां। सांसी कइ जाय तो जौ उनकी एकांत साधना कौ सुफल है।' उपन्यासकार सुरेंद्र नायक ने कहा है 'इसमें कवि का वह स्वप्निल स्मृति लोक समाहित है, जिसको कवि ने स्वयं जिया है। कविताएं अतीतजीवी होते हुए भी यदा-कदा वर्तमान में संक्रमण करती हैं, जहां कवि प्रकारांतर से वर्तमान के तनावपूर्ण एवं जटिल परिवेश के प्रति अपना आक्रोश, प्रतिरोध एवं क्षोभ व्यक्त करता है।' भास्कर सिंह 'माणिक्य' 'युगकवि' कहते हैं 'यह संग्रह विविधता से परिपूर्ण है। इन कविताओं में हर स्थान पर बूंदेली लोक जीवन प्रतिध्वनित हो रहा है।' बूंदेली कवि रामरूप स्वर्णकार 'पंकज' कहते हैं 'आपकी एक-एक लाइन अपुन कों बूंदेलखंड की धरती की जानकारी करा रई जैसैं इतैं के रीति-रिवाजन, परंपराओं, तीज-त्योहारन, चाल-चलन की बात बता रई।'



व्यक्ति का मूल और आदिगृह गांव ही है, शेष बाहरी और बाद के हैं। शेष तो वैसा ही है, जैसे किसी शरीर पर पहने हुए वस्त्र। गांव संस्कृत 'ग्राम' का तद्भव शब्द है। ग्राम का वैयाकरणिक अर्थ 'समूह' होता है। घरों के समूह को गांव कहा गया। गांव सभ्यता की प्रारंभिक इकाई है। सर्वप्रथम गांव अकृत्रिम रूप से अस्तित्व में आए, किंतु अब 'राही' ग्वालियरी के शब्दों में यदि कहें- 'गांव गुम शहर की ज़मीनों में, आदमी खो गए मशीनों में। हर तरफ आग ही आग लगी क्यूं है, देश के सावनी महीनां में। आपका ये सफर ना तै होगा, बैठकर कागज़ी सफ़ीनों में। आज पत्थर तलाशता हूं, कल ये गिने जाएंगे नगीनों में।'

फिर भी, गांव में आज भी अपनापा है; सौजन्य है; सौम्यता है; सरलता और सादगी है; सहयोग है; सहकार है; संवेदनशीलता है; संस्कार हैं। दुरभिसंधियां भी हैं, किंतु गांव से जुड़कर व्यक्ति बाहरी विशिष्टताओं के आवरण को उतार देता है और अपने को धरातल से संलग्न महसूस करता है। गांव से मृत्यु-पर्यंत जुड़े रहे बाबा नागार्जुन को अपनी छोटी सी कविता 'सिंदूर तिलकित भाल' में जब अपने तरउनी गांव के एक-एक उपादान की याद आती है तो पाठक भी अपने 'तरउनी' से जुड़े बिना नहीं रह पाता; क्योंकि नागार्जुन की पीड़ा है कि अन्यत्र जीवन भर रह लेने के बाद भी लोग प्रवासी ही कहेंगे। 'गांव' और 'लोक' शब्द दो हैं, किंतु इनकी अंतर्ध्वनि एक ही है। लोक जहां अपने मूल में बसता है, वह गांव ही है। किसी राष्ट्र को चलाने और दिशा निर्धारण के लिए लोक-स्वीकृति अनिवार्य है। इसीलिए अपने देश में लोकसभा और लोकतंत्र जैसे शब्द और व्यवस्था स्वीकृत हैं। भाषाशास्त्री पतंजलि ने भाषा संबंधी विवेचन में लोक को अंतिम प्रमाण माना है। धर्मशास्त्र में लोकविरुद्ध कार्य को अस्वीकार्य कहा गया- "यद्यपि सिद्धं लोकविरुद्धं नाकरणीयम् नाचरणीयम्" । प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि जो शास्त्र को जानता है; लोक को नहीं जानता, वह मूर्खतुल्य है "शास्त्रज्ञोऽप्यलोकज्ञो भवेन्मूर्खतुल्यः" ।

लोक में अनेकता और वैविध्य है, फिर भी उसकी अंतर्धारा एकता और समानता की है। विजित और विजेता दोनों का ज्ञान और संस्कृति लोक की व्यापकता में अंतर्भुक्त हो जाती है। यहां तक कि अभिजात चेतना जिसको कहा जाता है, वह भी लोक में मिलकर धन्यता का अनुभव करती है।

प्रस्तुत संग्रह में आए अनसुने-से शब्दों के दिए गए क्रियापरक अर्थ यथासंभव उनकी व्युत्पत्ति से जोड़ते हुए किए गए हैं, जिससे पाठक रचनाकार की भावभूमि से ही काव्य का आस्वाद ग्रहण कर सके। वर्तमान में हिंदी में यों भी सृजनशीलता घट गई है, हिंदी की बोलियों के सामने तो उनके अस्तित्व का संकट मंडरा रहा है। बोलियों के साहित्य में सामान्य पाठक तक सहजता से पहुँच सकने वाली ऐसी बोधगम्य भावपूर्ण क़िताबों की कमी है, जो अपने समय और समाज का यथार्थ एवं वास्तविक चित्रण करते हुए साहित्य की श्रीवृद्धि करें। यह संग्रह हिंदी साहित्य में इस अभाव की

पूर्ति में किया जाने वाला एक सत्प्रयास सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। सब मिलाकर यह एक पठनीय बूंदेली काव्य है जिसके बारे में श्री वीरेंद्र केशव साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पं. हरिविष्णु अवस्थी ने कहा है- 'लंबी कविताएं लिखने का एक इतिहास रहा है, कुछ समय से लंबी कविताओं के स्थान पर छोटी-छोटी कविताएं लिखने का चलन चल पड़ा था। 'भइया अपने गांव में' शीर्षक रचना इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में बूंदेली बोली में रची प्रथम लंबी रचना है। वस्तुतः कवि की इस लंबी काव्य रचना का उद्देश्य दूरस्थ अंचल में स्थित ग्राम्य जीवन की सजीव एवं नयनाभिराम झांकी उनकी ही बोली-वानी (ग्रामीण बूंदेली) में प्रस्तुत करना प्रतीत होता है। कवि को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।' साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त बांगला-हिंदी अनुवादक वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. रामशंकर द्विवेदी का कहना है- 'किसी भी साहित्यिक भाषा में जीवंतता के अनुपात का माप उसमें प्रयुक्त होने वाली शब्दावली है। इस प्रकार देखा जाए तो बूंदेली की ठेठ शब्दावली की रक्षा की इधर बहुत बड़ी जरूरत हो गई है। इस शब्दावली को बचाने का एकमात्र उपाय उसे रचना की भाषा बनाना है। इस दृष्टि से पं० बाबूलाल द्विवेदी 'मधुप' जी का यह प्रयास स्तुत्य और सराहनीय है।' वहीं बूंदेली शब्दकोशकार एवं लोक साहित्यकार डॉ. कैलाश बिहारी द्विवेदी के अनुसार 'पूर्वावस्था से तुलना के कारण कवि के भावुक मन में यह प्रश्न बार-बार उठता है कि 'कितै हिरा गए बे नौने दिन.....।' कहीं-कहीं इस भाव-यात्रा में कुछ इतिहास आदि की बातें भी आ जाती हैं, जो विषय की दृष्टि से अप्रासंगिक और बेमेल सी लगती हैं; परंतु उन्हें परिस्थितियों से खिन्न एवं उदास मन के उच्छ्वास मानना चाहिए।' हिंदी और बूंदेली के साहित्यकार डॉ. दुर्गेश दीक्षित का आकलन है 'ई हैरानगती में जो थोरौ-भौत लिखत-पड़त हैं सो भौत बड़ी बात है। कछू दिना से ें बूंदेली में भौत काम होत दिखा रओ। पद्य तो आल्हखंड, ईसुरी सें लेकें आजनों खूब लिखो गओ। और तो और इतैं के विश्वविद्यालयन में बूंदेली पड़ाई जान लगी है। आकासवानी उर दूरदरसन के केंद्रन सें ईकौ प्रसारन होन लगो है। निबंध, नाटक, कहानी उर उपन्यास नौ बूंदेली में लिखे जान लगे। कैउ पत्रिकां सुद्ध बूंदेली में छपी जान लगीं। अब बताओ ऐसे में हमाए पं० बाबूलाल जू दुवेदी कैसैं पाछें रैं सकत ते। संस्कृत के भौत बड़े पंडित होबे के संगे बूंदेली साहित्य उर संस्कृति में जे खूब रचे-बसे हैं। मां बूंदेली की तो उनके ऊपर पूरी किरपा हैइ। भासा, छंद उर ब्यंजना की उनें पकड़ है। छिल्ला जैसे हलके से गांव में रैंकें इतौं अछौं गं्रथ लिखबौ कछू हंसी खेल नइयां। सांसी कइ जाय तो जौ उनकी एकांत साधना कौ सुफल है।' उपन्यासकार सुरेंद्र नायक ने कहा है 'इसमें कवि का वह स्वप्निल स्मृति लोक समाहित है, जिसको कवि ने स्वयं जिया है। कविताएं अतीतजीवी होते हुए भी यदा-कदा वर्तमान में संक्रमण करती हैं, जहां कवि प्रकारांतर से वर्तमान के तनावपूर्ण एवं जटिल परिवेश के प्रति अपना आक्रोश, प्रतिरोध एवं क्षोभ व्यक्त करता है।' भास्कर सिंह 'माणिक्य' 'युगकवि' कहते हैं 'यह संग्रह विविधता से परिपूर्ण है। इन कविताओं में हर स्थान पर बूंदेली लोक जीवन प्रतिध्वनित हो रहा है।' बूंदेली कवि रामरूप स्वर्णकार 'पंकज' कहते हैं 'आपकी एक-एक लाइन अपुन कों बूंदेलखंड की धरती की जानकारी करा रई जैसैं इतैं के रीति-रिवाजन, परंपराओं, तीज-त्योहारन, चाल-चलन की बात बता रई।'

इस प्रकार श्री द्विवेदी और उनके कृतित्व का यह परिचय उनके व्यक्तित्व की विराटता को देखते हुए और कृतित्व के विविध आयामों को अनावृत करने की दृष्टि से लघु ही है, किंतु यह बुंदेली लोक और उसके मानस को किंचित् अछूते पक्षों के साथ और व्यक्त पहलुओं को परिपुष्ट करने के रूप में देखने के लिए उपयोगी होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

चौमासा 91 वर्ष 30 मार्च-जून 2013 issn 22495479 से साभार

## दलित विमर्श: स्वरूप निर्वचन

सामान्यतः 'दलित विमर्श' से तीन प्रकार के भाव प्रकट होते हैं। पहला, दलितों द्वारा लेखन; दूसरा, दलितों के लिए लेखन तथा तीसरा, दलितों के बारे में लेखन। दुर्भाग्यवश, वर्तमान में दलितों द्वारा दलितों के बारे में दलितों के लिए लेखन को ही 'दलित विमर्श' की संज्ञा दी जा रही है अर्थात् इन तीन अलग-अलग भावों को एक साथ जोड़कर देखा जा रहा है। यद्यपि हिन्दी साहित्य में इन तीनों को अलग-अलग समुचित स्थान एवं सम्मान दिया गया है।

दलित विमर्श को इस स्वरूप में मानने का आधार यह माना जाता है कि दलितों द्वारा भोगे गये अछूतपन एवं अन्य यातनाओं के दंश को एक दलित ही सही और प्रामाणिक ढंग से अभिव्यक्त कर सकता है। कोई अन्य साहित्यकार देख-सुनकर करुणा, कल्पना एवं सहानुभूतियुक्त लेखन ही कर सकता है। और ऐसा करके वस्तुतः वह साहित्यकार दलित को बेचारा बनाने से अधिक कुछ नहीं कर रहा होता है इस रूप में दलित विमर्श का एक आधार यह भी है कि दलितों की परम्परागत बुराइयों और यंत्रणाओं से मुक्ति दिलाकर उनका सभी तरह का पिछड़ापन दूर किया जाये और उन्हें समाज की मुख्यधारा में उनकी जनसंख्या के अनुपात के सापेक्ष लाया जाये। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस प्रकार का लेखन साहित्यिक मानदण्डों को धता बताकर एक आन्दोलन तथा नारे जैसा बन जाता है।

साधारणीकरण और रस परिपाक की अवधारणा को इस विमर्श ने कोसों पीछे धकेल दिया है। यह एक सामान्य सी बात है कि चित्र को उकेरने के लिए एक चित्रकार की आवश्यकता होती है, मंच पर किसी पात्र के चरित्र-चित्रण हेतु एक अभिनेता की आवश्यकता होती है तब फिर दलित सौन्दर्यशास्त्र के निरूपण हेतु क्या दलित होना अपरिहार्य है? इस प्रकार के पूर्वाग्रहों का ही परिणाम है कि दलित विमर्श में एक जैसी संवेदनाओं की शिथिल अभिव्यक्ति एवं अपरिपक्व शिल्प में पुनर्पुनरावृत्ति होती जा रही है जिससे उसमें मौलिक लेखन का अभाव समीक्षकों द्वारा रेखांकित किया जा रहा है।

मध्यकाल में जहाँ एक ओर निर्गुण संत कवि रैदास दलित विमर्शकों की अग्नि परीक्षा में खरे उतरकर उनके आदि कवि के पद पर समासीन हो गये, वहीं उसी मध्यकाल के संत कवि गोस्वामी तुलसीदास को हमारे दलित मित्रों ने अपनी चेतना के सन्दर्भों से हटकर समझा है जबकि तुलसी के राम को प्रसिद्ध समालोचक डॉ विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में 'असहाय, अभागे, गुनहीन, गरीब, दीन-अकुलीन, पंगु-अंधे, भूखे, निराधार लोग ही याद आते हैं। तुलसी के काव्य में राम इन्हीं दीनों के बन्धु हैं' (लोकवादी तुलसीदास)। वस्तुतः एक युगचेता साहित्यकार अपनी लेखनी का आधार पीड़ा या अभाव जैसा जो कुछ है उसे बनाते हैं। आदि कवि का गान भी वियोग से फूटा था। कबीर जैसे संत कवियों ने वंचित वर्ग की पीड़ा पर ही अपनी 'विद्रोही' अभिव्यक्ति दी है। पर उन्हीं कबीर के रहस्यवाद को दलित

विमर्ष में कोई स्थान नहीं। आधुनिक कवियों में निराला, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, धूमिल, केदारनाथ अग्रवाल, केदारनाथ सिंह इत्यादि अनेक कवियों की अनुभूतियाँ किसी मूर्धन्यतम दलित कवि की तुलना में 20 ही हैं। प्रसंगवश यहाँ ओमप्रकाश बाल्मीकि और धूमिल की कविताओं के अंश देना अनुपयुक्त न होगा। ओमप्रकाश बाल्मीकि अपनी 'सदियों का संताप' कविता में कहते हैं -

जब तक रामेसरी के हाथ में

खंगाड़-खांग घिसटती लौह गाड़ी है

मेरे देश का लोकतंत्र

एक गाली है।

धूमिल का 'मोचीराम' कहता है - और बाबूजी! असल बात तो यह है कि जिन्दा रहने के पीछे

अगर सही तर्क नहीं है

तो रामनामी बेचकर या रण्डियों की

दलाली करके रोजी रोटी कमाने में

कोई फर्क नहीं है।

एक अन्य कविता में धूमिल कहते हैं - एक आदमी रोटी बेलता है

एक आदमी रोटी खाता है

एक तीसरा आदमी भी है

जो न रोटी बेलता है न रोटी खाता है

वह सिर्फ रोटी से खेलता है

में पूछता हूँ यह तीसरा आदमी कौन है

मेरे देश की संसद मौन है।

दलित विमर्शकार डा० नगीना सिंह ने अपने साथ हुयी एक घटना का उल्लेख कुछ इस प्रकार किया है 'एक बार मैंने एक महाविद्यालय में प्राध्यापक पद के लिए आवेदन किया था। मेरी योग्यता और दावेदारी सुनिश्चित होते हुए भी मेरा चयन नहीं हो पाया था। मैं परेशान होकर एक महाविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो० शुक्ला के पास गया। उन्होंने घटना सुनकर मुझे सलाह दी कि यदि सामने रखे दूध के गिलास को तुम पी न सको तो उसमें लात

मारकर खिंडा दो। और मैं उस मामले को गवर्नर तक ले गया तथा उस चयनित उम्मीदवार का चयन निरस्त करवा दिया। दरअसल यह एक प्र० शुक्ला का ही चरित्र नहीं है, ब्राह्मण मात्र का चरित्र है.....।' 1 यहाँ न्यायार्थ दी गयी सलाह पर लेखक सवाल खड़े करता है। ऐसे सवाल स्वयं लेखक के चरित्र पर सन्देह प्रकट करते हैं।

‘दलित विमर्श’ के सम्बन्ध में स्मरणीय है कि ‘दलित’ शब्द को यहाँ एक ऐसी संवेदना और विचार के तौर पर देखा गया है जिसमें दलित का अर्थ ‘दबाया गया’ से है ‘दबा हुआ’ नहीं। इसी कारण दलितों ने इस शब्द को अपनाया और महात्मा गाँधी द्वारा दिये गये शब्द ‘हरिजन’ को अस्वीकृत कर दिया। आशय यह कि दलितों द्वारा भोगी गयी जो यातनायें हैं उसके लिए ये एक वर्ग विशेष को जिम्मेदार मानते हैं और इसके प्रति अपने आक्रोश का इजहार अपमानजनक टिप्पणियों द्वारा किया करते हैं।

डा० भीमराव अम्बेडकर द्वारा उद्बुद्ध चेतना के परिणामस्वरूप मराठी में विपुल दलित साहित्य लिखा गया है। वहाँ यह मुख्यधारा में आ गया है। हिन्दी में मराठी साहित्यकारों एवं हिन्दी क्षेत्र के एक राजनैतिक दल से अनुप्रेरित होकर अनेक दलित कथाकारों का उदय हुआ है। हिन्दी कथा साहित्य में दलित विमर्श की धारा की सशक्तता का अनुमान उसके विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की नैट परीक्षा के पाठ्यक्रम का अंग बन जाने से सहज ही लगाया जा सकता है।

तथापि बड़े अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि जिन उपन्यास-कहानी सम्राट मुंशी प्रेमचन्द ने ‘ठाकुर का कुआँ’ जैसी कहानी लिखकर हिन्दी कथा साहित्य में पहली बार भारतीय समाज में सभी तरह के अत्याचारों व यातनाओं का नरक भोगते दलित को अपनी कहानियों का विषय बनाया, उन्हीं के एक उपन्यास की प्रतियाँ दलित भाईयों द्वारा आग के हवाले कर दी गयीं। जिन राष्ट्रपिता बापू ने दलित बस्तियों में रहकर जागरूकता व स्वच्छता कार्यक्रम चलाये उन्हीं बापू के प्रति ऐसे लोगों के मन में निरादर व्याप्त हो गया है।

हमारे दलित मित्रों को यह मानना होगा कि लोकतंत्र और भूमण्डलीकरण के इस युग में पुराने घटनाक्रमों को विस्मृत करें और याद रखें कि यदि ‘औरंगजेब’ ने जुल्म ढाये थे तो क्या सारी बिरादरी विशेष को दण्ड दिया जायेगा? आज के सभी परिप्रेक्ष्यों में ‘दलित’ का आशय होना चाहिए वह जिसका ‘दलन’ हो रहा हो, जो शोषित और अधिकार विहीन हो, जो सताया जा रहा हो; दलित है। इस शब्द से किसी जाति या वर्ग विशेष को ही संबद्ध नहीं कर दिया जाना चाहिए। यह ध्यान में रखकर हमारे नीति निर्माताओं को अपनी योजनाओं और कानून बनाने की ओर बढ़ना होगा।

संदर्भ- 1. डा० एन० सिंह, मेरा दलित चिंतन, कंचन प्रकाशन दिल्ली 2002, पृ०96

प्रकाशित ‘शोधधारा’ (संपादक डॉ राजेश चंद्र पांडेय) अर्धवार्षिक दिसंबर 2005 आइएसएसएन 09753664

## राही के उपन्यासों में अभिव्यक्त स्वातंत्र्योत्तर काल का समाज

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज का निर्माण व्यक्तियों के समूह के बिना नहीं हो सकता। मनुष्य जो कुछ विचार करता है; कहता है अथवा लिखता है, वह मात्र अपने लिए ही नहीं होता। वह समाज के अन्य व्यक्तियों से संबंधित होता है। वह समाज से प्रभावित होता है। साहित्य, मनुष्यकृत होने के कारण, में सामाजिक समस्याओं, भावनाओं एवं विचारों का अंकन होता है इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। साहित्य और समाज का संबंध अनादिकाल से चला आ रहा है। साहित्य मनुष्य का और इसीलिए समाज का प्रतिनिधित्व करता है। वह गुरु के समान मार्गदर्शन करने वाला, मित्र के समान उपदेशक और सहायक तथा कान्ता के समान मनोमुग्धकारी होता है। साहित्यकार सामाजिक चेतना से अनुप्राणित रहता है। प्रेमचन्द ने भी कहा है 'पुराने ज़माने में समाज की लगाम मज़हब के हाथों में थी। अब साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है।' 1 साहित्य के सही उद्देश्य के संबंध में उनके विचार हैं 'हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो; जो हममें गति और संघर्ष पैदा करे, सुलाए नहीं।' 2 वह समाज के विभिन्न रूपों में किसी न किसी सूत्र से बँधा रहता है, किन्तु साहित्यकार एक उदग्रमना, चिन्तनशील और व्यापक दृष्टि रखने वाला होता है। उसकी दृष्टि सदैव सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की ओर उन्मुख रहती है। जो कुछ भी समाज में घटित होता है; उसका प्रभाव उसके मन पर अवश्य पड़ता है। चतुर्दिक घटने वाली घटनाएँ उसके मन को मथती रहती हैं और फिर साहित्यकार द्वारा उस परिवेश से संस्कारबद्ध स्वरूप स्रोतधारा के रूप में रचना सृष्टि होती है। मनुष्य की इस संस्कारबद्धता की ओर संकेत करते हुए प्रख्यात सामाजिक दार्शनिक रूसो ने कहा है 'मनुष्य जन्मना स्वतंत्र है पर हर जगह वह बंधनयुक्त दिखाई देता है।' 3

समाज का अस्तित्व, पोषण और विकास मानव समाज से ही अपेक्षित है। समाज की इकाई परिवार है और परिवार मनुष्य निर्मित होते हैं। समाज की प्रतिबद्धता अपने राष्ट्र के प्रति भी होती है। इन सबके मूल में एक मनुष्य ही होता है। अतः वह स्वतंत्र रहते हुए भी अपने उत्तरदायित्व, कर्तव्य पालन एवं मर्यादा स्थापन के कारण सर्वत्र बंधन में जकड़ा दिखाई देता है। इस प्रकार समाजीकरण की इस प्रक्रिया में व्यक्ति सामाजिक आत्मनियंत्रण, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा संतुलित व्यक्तित्व का अनुभव करता है।

भारतीय समाज स्वातंत्र्य पूर्व सामंती समाज था। संयुक्त परिवार थे। कई-कई परिवार मिलकर एक साथ निवास करते थे। स्वाधीनता प्राप्त होने के बाद देश विभाजित हुआ। जिन कारणों से यह विभाजन हुआ, उनसे सांप्रदायिकता और जातिवाद में वृद्धि हुई। चुनाव की दोषपूर्ण प्रक्रिया ने इसको और बढ़ावा दिया। देश के अनेक शहरों में सांप्रदायिक दंगे हुए, जिसकी आग में राजनेताओं ने अपनी रोटियां सेंकने का काम किया।

डॉ राही मासूम रज़ा ने इन्हीं परिस्थितियों में अपनी रचना सृष्टि प्रारंभ की थी। वह 1992 तक अपनी मृत्यु पर्यन्त निरंतर साहित्य की अनेक विधाओं, दूरदर्शन धारावाहिकों व फिल्मों तथा मीडिया के माध्यम से जनता को अपने विचारों से अवगत कराते रहे। राही जी स्वयं सामंती समाज से ही आए थे। उनका जन्म शिया मुसलमान के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था, किन्तु उन्होंने सामंतों के शोषणवादी दृष्टिकोण का कभी समर्थन नहीं किया अपितु वह अपनी रचनाओं के माध्यम से सामंतों के खोखलेपन, कृत्रिमता और उनके निस्सार जीवन को उभारते रहे। राही ऐसे समाज से आए जिसमें बहुपत्नीवाद की प्रथा का प्रचलन था तथा तलाक देने का अनाचार बहुत अधिक फैला हुआ था। राही इस प्रवृत्ति को ग़लत माना और इसको परिस्थिति सापेक्ष कहा। वर्तमान में तथाकथित आधुनिकता के प्रभाव से विश्वासों और जड़ परंपराओं को समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है। मानव जीवन से सुख शान्ति अगरबत्ती की सुगंध की भाँति विलुप्त होती जा रही है। पूंजीपति वर्ग वंचितों और गरीबों का बहुविध शोषण कर रहा है।

आज का युग लोकतंत्र का युग है। इसमें जनता अपना प्रतिनिधि मत [वोट] देकर चुनती है। परिणामतः वोट का महत्व बढ़ गया जिससे अनेक खोट पैदा हो गए परिवार विघटित हो रहे हैं। वोट पाने वाले नेतागण अने स्वार्थ के लिए तरह-तरह के उपाय सोचते हैं तथा धन के लोभ से हर स्थिति में सफल होने की चेष्टा करते हैं। इससे मानव मूल्य और मान्यताएँ टूटने लगी हैं। मनोवृत्तियाँ बदलने लगी हैं। दिखावटी संस्कृति से मानव पूजा जैसी भयानक संक्रामकता उत्पन्न हो गई है।

सामाजिक कुरीतियों में दहेज जैसी कुप्रथा, जो देश के लिए अभिशाप सिद्ध हो चुकी है, अपना फलक विस्तृत करती जा रही है। अनेक नव विवाहिताएँ दहेज की बलि वेदी न्यौछावर हो जाती हैं। आधुनिक समाज पर पाश्चात्य शिक्षा और रीति-रिवाजों का भी कुप्रभाव पड़ रहा है। कहने का अभिप्राय यह कि आज का सामाजिक परिवेश अपने मूल्यों के साथ बदलता प्रतीत हो रहा है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में ही शाहबानो प्रकरण घटित हुआ था। जिसमें शाहबानो के पति द्वारा तलाक़ दिए जाने पर सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवस्था दी थी कि शाहबानो को उसके भरण-पोषण का खर्च उसके पति द्वारा वहन किया जाए, किन्तु तथाकथित धार्मिक ठेकेदारों द्वारा इसका जोरदार विरोध हुआ और न्यायालय का निर्णय भी अमल में नहीं लाया जा सका। राही ऐसे ठेकेदारों की खबर लेते हुए कहते हैं 'अब इन शहाबुद्दीनों को देखिए! तलाक़ पा जाने वाली औरत भी हमारे समाज का हिस्सा है। इन लोगों को उसकी फिक्र नहीं। वह मरती है तो इनकी बला से। यह तो शौहर के उन अधिकारों के लिए भी लड़ रहे हैं जो कुरान और हदीस ने उन्हें दिए भी नहीं हैं।' 4 इसीलिए राही का कहना था कि 'मुसलमान होने की पहली शर्त यह है कि उसे अच्छा आदमी होना चाहिए और अच्छा आदमी होने की शर्त यह है कि उसे अच्छा नागरिक होना चाहिए और अच्छे नागरिक की पहचान यह है कि वह कानून और दूसरों के अधिकारों का आदर करे।' 5



स्वातंत्र्य पूर्व का हमारा जड़बद्ध समाज स्वातंत्र्योत्तर काल में नई परंपराओं को स्थिर करने के प्रयास में पतनशील होता जा रहा है। परिणामतः समाज में भेड़चाल जैसी स्थिति हो गई है। समाज में धर्म के ठेकेदार पैदा होकर सांप्रदायिकता और जातीय विद्वेष फैला रहे हैं। दिखावटी और बनावटी जिन्दगी, कथनी-करनी का अंतर, व्यक्ति पूजा, खोखले और निस्सार जीवन समाज के लिए नासूर बन गया है। समाज में फैले इस प्रदूषण के कारण अनेक भयानक और दुःखदायी स्थितियां उत्पन्न हो गई हैं। राही 'हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई' के नारे से चिढ़ते हुए लिखते हैं 'मुझे इस नारे से नफरत है क्योंकि मैं हर रोज सबेरे की चाय पीने से पहले अपने भाईयों को याद नहीं दिलाता कि हम भाई-भाई हैं। यह बात हम चारों भाईयों को मालूम है।' 6 इसीलिए वह हिन्दू मुसलमान की एकता की बात नहीं करते क्योंकि यह एकताएँ तो बँटवारे की एकताएँ हैं। 7 राही जी भारतीय समाज को किसी धर्म की जागीर नहीं समझते थे।

डॉ राही मासूम रज़ा ने अपने उपन्यास साहित्य में जिस समाज का चित्रण किया है, वह स्वतंत्रता पूर्व से लेकर 20वीं शताब्दी के अंतिम चरण तक फैला है। यह समाज भारत विभाजन की विभीषिका भी सहता है और इसे आधुनिक युग की अंधी में भी सम्मिलित होना पड़ता है। ग्राम्य एवं शहरी दोनों प्रकार के समाजों का वर्णन राही जी ने अपने औपन्यासिक साहित्य में अपने परिकल्पित पात्रों के माध्यम से किया है। राही जी समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अधिक बल देते हैं। वे उस व्यवस्था को नकारते हैं, जिसमें व्यक्ति का अपना कोई निजी अस्तित्व न हो और वह अपनी इच्छानुसार कोई कार्य न कर सके। 'आधा गाँव' में मोहरम मात्र मुसलमानों का पर्व नहीं है। मोहरम के ताजिया के साथ अहीरों का लड्डुबंद गिरोह चलता था, जो उलतियां गिराकर रास्ता बनाया करता था। एक विधवा ब्राह्मणी की उलती को बिना गिराए बड़ा ताजिया आगे बढ़ जाता है, तो वह आने वाली मुसीबत के भय से कॉप उठती है "जरूर कोई मुसीबत आने वाली है; नहीं तो भला ऐसा हो सकता था कि बड़ा ताजिया उसकी उलती गिराए बिना चला जाता।" 8

हिन्दुओं के अनेक देवी-देवता मुसलमानों में भी प्रचलित हो गए थे। 'टोपी शुक्ला' में इफ्फन की दादी नमाज़-रोज़े की पाबंद थी। जब इकलौते बेटे को चेचक तो वे चारपाई के पास एक टांग पर खड़ी होकर हिन्दू स्त्रियों के से विश्वास से कहती हैं "माता मेरे बच्चे को माफ कर दो।" 9 राही के उपन्यासों में मुसलमानों के पीर-फकीर हिन्दुओं के श्रद्धास्पद थे तो इमाम साहब से हिन्दू स्त्रियां भी मनौती मानती थीं। 'ओस की बूँद' में वजीर हसन कुएं से बड़ी कठिनाई से शंख निकालकर सुबह की नमाज़ अता करने के बाद आदरपूर्वक शंख बजाता है।

भारत में एक ओर असांप्रदायिक आस्तिकता का यह भाव है तो दूसरी तरफ सांप्रदायिक कट्टरता का भयावह विष भी फैला हुआ है। यहां कट्टर लोगों के अपने-अपने भगवान या खुदा निश्चित हो गए। ऐसे लोगों के कारण धर्म और धार्मिक पर्व मेल-जोल के बजाय द्वेष और हिंसा के आलंबन बन गए। इसीलिए 'ओस की बूँद' में बीवी के कटरे में बने मंदिर में उसका शंख फेंक दिए जाने से उपजे सांप्रदायिक दंगे को मुसलमान अपने पूर्वजों को वास्ता देते हैं तो

दूसरी तरफ वज़ीर हसन के लंगोटिया यार दीनदयाल को भी अपने मित्र और वतन से बढ़कर धर्म दिखाई देने लगता है।

सांप्रदायिकता की मनोवृत्ति मानवीय मूल्य एवं धर्मनिरपेक्षता के विपरीत पड़ती है। सांप्रदायिक शक्तियां अपने निहित स्वार्थों के लिए जन-साधारण के आपसी सद्भाव, मेल-जोल एवं सहकार भाव को दांव पर लगा देती हैं। 'आधा गाँव' में मुस्लिम सांप्रदायिकता हिन्दुओं की "सिसियारिटी को मशकूक" 10 मानती है। हिन्दू सांप्रदायिकता के पास सबसे बड़ा उदाहरण औरंगज़ेब का है, जिसने बहुत से मंदिरों को ढहा दिया था। जिसके लिए राही ने सवाल पूछा है कि यदि एक औरंगज़ेब गुनहगार तो क्या सारी मुस्लिम बिरादरी इसके लिए दोषी है? 'आधा गाँव' का निरक्षर छिकुरिया इस सब पर विश्वास नहीं कर पाता क्योंकि गंगौली में तो मुसलमान जमींदार न केवल दशहरे का चंदा देते थे, बल्कि मठ के बाबा को भी जमींदारों ने कुछ बीघों की माफ़ी दे रखी थी। वह मास्टर साहब की बात नहीं मानता। 'रहा औरंगज़ेब, वह जरूर कोई बदमाश होगा' ।

सांप्रदायिकता की समस्या को राही के उपन्यासों में कुछ इस तरह उभारा गया है कि यदि ग़लती कोलकाता के मुसलमानों ने की है तो उसका दण्ड गंगौली या अन्य जगहों के मुसलमानों को क्यों? या पूर्वजों ने गुनाह किए हैं तो आज के मुसलमान को उनकी सजा क्यों दी जाए? जिन मुसलमान बच्चियों ने छुटपन में उनकी गोद में पेशाब किया है, उनके साथ जिनायत-व्यभिचार क्यों और कैसे की जाए? उन मुल्ला जी को कोई कैसे मारे, जो नमाज़ पढ़कर मस्जिद से निकलते हैं तो हिन्दू-मुसलमान सभी को फूंकते हैं। धर्म के आधार पर परस्पर लड़ने की बात राही जी के सदाशयी पात्र नहीं जानते। 'आधा गाँव' का छिकुरिया उस समूचे जनसाधारण का प्रतिनिधि है; जो धर्म एवं संप्रदाय की दीवारों को जानता है। वह जानता है कि कुछ तथाकथित पढ़े-लिखे लोग कोंच-कोंच कर लोगों को एक-दूसरे से घृणा करने के लिए तैयार करते हैं। व्यक्तियों के माध्यम से यह दो तरह के मूल्यों का जबर्दस्त संघर्ष है। एक ओर मास्टर साहब, फारूक आधा गाँव आदि प्रतिक्रियावादी व्यक्ति हैं जो क्रौम का वास्ता देकर स्वजातीय बंधुओं को उकसाते हैं तो दूसरी ओर सर्वपंथ समादर, राष्ट्र शक्ति और परस्पर आत्मीयता जैसे मानव मूल्यों के संवाहक छिकुरिया, फुन्नन मियां, तन्नू आधा गाँव; वज़ीर हसन, वहशत अंसारी आस की बूँद आदि भारतीयता के प्रतिनिधि चरित्र हैं जो आदमी-आदमी को लड़ाने वाले हर षडयंत्र के घोर विरोधी हैं।

राही जी की दृष्टि में भारतीय संस्कृति के कई अनावृत पहलुओं की ओर गई है। उन्होंने अपने साहित्य के शोध का विषय भी इसी प्रकार का रखा था। जिसमें मुसलमानों में प्रचलित कहानियों में भारतीय संस्कृति का वर्णन आया है। स्वाभाविक है कि उनके उपन्यासों में इसकी प्रतिध्वनि दिखाई देगी। दो धुरवांतों पर खड़ी मानी जाने वाली संस्कृति की एकता एवं समन्वय को राही के खोजपूर्ण उदाहरणों द्वारा प्रोत्साहन मिलना चाहिए। 'असन्तोष के दिन' के उस मर्सिये की वह पंक्ति उद्धरणीय है, जिसमें गाया जाता है "फूल वह जो महेसर चढ़े" । राही ने अपने औपन्यासिक पात्रों की धार्मिक एकता पर यह कहते हुए बल दिया है कि यहां के मुसलमानों के पूर्वज हिन्दू ही थे। ज़रीक़लम सैयद

अली अहमद जौनपुरी ॐअसन्तोष के दिनॐ नाम से मुसलमान थे। इनके पुरखे मराठे और धर्म कट्टर हिन्दू था। वजीर हसन ॐओस की बूँदॐ के पुरखों ने भी इस्लाम स्वीकार किया था।

उपन्यासकार अपने पात्रों के माध्यम से उनके समन्वय एवं एकता को अनेक घटनाओं एवं स्थितियों द्वारा प्रस्तुत करता है। 'आधा गाँव में पड़ोस के गाँव के एक जमींदार ठाकुर जैपाल सिंह अतिवादी हिन्दुओं से बफाती चा नामक कुंजड़े मुस्लिम को एक हमले में बचाते हैं। वह गाँव की समस्त मुस्लिम प्रजा को संरक्षण प्रदान करते हैं जैपाल सिंह हिन्दुओं की उत्तेजित भीड़ को ललकारते हुए कहते हैं "बड़ बहादुर हच्चा लाग। अउर हिन्दू मरियादा के ढेर ख्याल बाए तुहरे लोगन के, कलकत्ते-लौहउर जाए के चाही।' ' 11 इसी प्रकार सैयदा ॐअसन्तोष के दिनॐ हिन्दुओं को गाली देती है, पर अपने हिन्दू नौकर राममोहन से अपने परिवार को उसकी झोपड़ पट्टी से उठा लाने को कहती है। वह अपने हिन्दू मित्र गोपीनाथ की भी मौत पर रोती है।12

राही जी ने उज्ज्वल चरित्रों के पात्रों को उभारने के लिए अपने उपन्यासों में कुछ पात्रों को धार्मिक ढकोसलापन, अलगाववाद, ऊँच-नीच के भेद-भाव को मानने वाले, झूठ-फरेव और चोरी इत्यादि अधार्मिक-अनुचित प्रवृत्तियों से भी संपृक्त किया है राही के पात्रों की धार्मिक चेतना में बाह्याचारों की अतिशय व्याप्ति है। इनका मूल अज्ञान और अशिक्षा में है। धर्म के नाम का ढकोसलापन अधिक है। धार्मिक मठ-मंदिर बाह्याचार, व्यभिचार, जादू-टोने और जड़ता के अड्डे बन चुके हैं। राही के पात्र एक ओर अपनी कुलीनता और रक्त शुद्धता का आडंबर रचते हैं तो दूसरी ओर 'कलमी औलादें' पैदा करते नहीं थकते। विवाह में रंडी नचवाने वालों पर ताने कसते हैं और घर हरामज़ादी संतानों से भरते रहते हैं। शिया और सैयद होने का घमण्ड करते हैं और मुसलमानों में ही सुन्नियों को हेय मानते हैं। ज़रा सी बात पर आपस में फौजदारी करते हैं; कचहरी में झूठे मुकदमे बनाते हैं। धर्म के नाम पर साल में ढाई माह तक हंसना भी गुनाह मानते हैं, परंतु अनुसूचित जाति के एक निर्दोष व्यक्ति कोमिला को झूठे मुकदमें में फंसाकर फांसी की सज़ा दिलाते हैं।

शियाओं की उपर्युक्त धार्मिक कट्टरता का परिहास और विडंबनाजनक स्थिति पर डॉ इन्दु प्रकाश पाण्डेय लिखते हैं वे 'एक ओर तो तेरह सौ साल पहले हुए क़त्ल का विरोध करते हैं और दूसरी ओर केवल अपनी दक्षिण पट्टी के ताजिए की शोहरत के लिए एक ब्राह्मण विधवा के जवान पुत्र का कानूनन क़त्ल करवाते हैं। चमार औरत को घर में पत्नी के रूप में रखते हैं, बच्चे पैदा करते हैं; परंतु उसके हाथ का बनाया खाना तक नहीं खाते। इस प्रकार कथावाचक ने बड़ी निर्ममता से अपने समाज की झूठी एवं खोखली धार्मिकता का पर्दाफाश करते हुए उसके अंधविश्वास, अशिक्षा एवं अज्ञान को विस्तार से चित्रित किया है।'

'आधा गाँव' में सर्वत्र शियाओं का सर्वप्रमुख एवं दुनिया का एकमात्र शोकपर्व मोहर्रम के छाए रहने पर आलोचक सुरेन्द्रनाथ तिवारी कहते हैं "आधा गाँव' पढ़ने के बाद याद रहता है मोहर्रम; जो कामू के 'प्लेग' की तरह व्याप्त है।' श्री तिवारी ने इस उपन्यास में मोहर्रम की कथा की प्रमुखता देखते हुए मोहर्रम को उपन्यास का नायक माना

है।<sup>13</sup> आधा गाँव की कुछ इसी प्रकार की कमियों की ओर डॉ इन्दु प्रकाश पाण्डेय ने संकेत किया है। उन्होंने लिखा है 'इस मोहरम की भीड़ में कथावाचक ने लगभग 100 पात्र गंगौली की दक्षिण और उत्तर पट्टी में एकत्र कर दिए हैं, जो या तो साधारण नित्य-प्रति की घरेलू समस्याओं में व्यस्त हैं या मोहरम की बैठकों में मातम कर रहे होते हैं। कुछ पात्र तो केवल नाममात्र हैं, जिनके अस्तित्व का कोई भी रूप प्रकट नहीं होता है और कुछ जो मोटी रेखाओं में व्यक्त भी हुए हैं, वे कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति करके भीड़ में खो जाते हैं' यहाँ तक कि प्रारंभिक कथा का वाचाल एवं उत्साही कथावाचक मासूम भी गायब हो जाता है। लगभग एक ही प्रकार के विचार वाले पात्रों की भीड़ में से 'नौहा' के स्वरो में रोने-सिसकने की आर्द्रता तो बहती दिखाई देती है लेकिन स्वतंत्र पात्रों के रूप में भीड़ से ऊपर उठने वाले पात्रों की संख्या स्वल्प ही है।'<sup>14</sup> यहाँ कहना होगा कि आंचलिक वर्णनों में पात्रों की ऐसी भीड़ का होना स्वाभाविक हो जाता है। फिर, उपन्यासों में कुछ पात्रों का तृण-पत्रवत् अस्तित्व भी रहा करता है, जो उपन्यास में कथा का मात्र उपकरण बने होते हैं। मोहरम वर्णन की अतिषयता के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि राही को धार्मिकता के बाह्याडंबरों और ढकोसलों को दिखाना था जिससे उन्हें शिया मुसलमानों के इस सर्वोच्च पर्व को माध्यम बनाया। उपन्यासों में उनका विद्रोही और बेबाक तेवर मुखरित हुआ है क्योंकि उन्होंने अपने ही समाज और धर्म और उसके लोगों के अतिचारों का बड़ी निर्ममता से पोस्टमार्टम किया।

राही की धार्मिक सजगता एवं तेवर में ढली सर्वधर्म ग्राह्यता उनके घनिष्ठ मित्र डॉ धर्मवीर भारती द्वारा दिए गए इस प्रसंग में देखी जा सकती है। जब राही से 'दुनिया का सबसे ज्यादा आदरणीय महाकाव्य' महाभारत के बारे में यह पूछा गया कि उन्हें मुसलमान होने के बावजूद महाभारत लिखना कैसा लग रहा है। उनका उत्तर था कि जैसे मुसलमान होने की वजह से हिन्दुस्तानी विरासत पर मेरा कोई हक ही न रह गया हो। जैसे कि मैं भी कोई मंदिर गिराकर उसकी जगह पर बनाई हुई कोई मस्जिद हूँ। इन बातों से मुझे दुख पहुंचा है।<sup>15</sup>

राही जी की सजग एवं प्रगतिशील धार्मिक चेतना के फलस्वरूप 'आधा गाँव' में पाकिस्तान निर्माण के प्रस्ताव को गंगौली के कुछ शिया मुसलमान पात्रों द्वारा विरोध किया जाता है। राही के अनुसार शियाओं के पूर्वज इमाम हुसैन ने स्वयं हिन्दुस्तान जाने की इच्छा प्रकट की थी। हुसैन के सच्चे अनुयायी होने के नाते धार्मिक दृष्टि से भी शिया मुसलमान पात्र हिन्दुस्तान विरोधी कोई प्रस्ताव स्वीकृत नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान का पक्ष लेती हुई सितारा शियाओं की ओर से कहती है "और यह मुआ जिन्ना कैसा शिया है कि हिन्दुस्तान के खिलाफ है।"<sup>16</sup> 'आधा गाँव' के ऐसे कथ्य को दृष्टिगत रखते हुए डॉ जगदीश नारायण श्रीवास्तव ने राही जी की इस बहुचर्चित कृति को यशपाल के 'झूठा सच' के बाद हिन्दुस्तान के सांप्रदायिक विभाजन की कांटेदार खेती को बेबाक ढंग से रखता हुआ माना है।<sup>17</sup>

राही जी की भारतीयता और साहसी अन्दाज को देखकर ही हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध समालोचक डॉ. नामवर सिंह ने कहा था 'डॉ0 राही मासूम रज़ा का नाम हिम्मत गाज़ीपुरी होना चाहिए था बतर्ज 'हिम्मत जौनपुरी'। लेकिन इस

समय (राही के देहावसान पर) मेरे जेहन में राही का वह नाविल नहीं, 'गंगा और महादेव' शीर्षक कविता का यह टुकड़ा है

मेरा नाम मुसलमानों जैसा है

मुझको कत्ल करो और मेरे घर में आग लगा दो

लेकिन मेरी रग-रग में गंगा का पानी दौड़ रहा है।

हर-हर महादेव का नारा लगाकर हमला बोलने वालों को इस तरह ललकारना हिम्मत का काम है और कबीर के बाद ऐसी हिम्मत मुझे सिर्फ राही में दिखाई पड़ी। राही में यह हिम्मत इसलिए है कि वे इसी तरह 'अल्लाह हो अकबर' के नारेबाज जेहादियों को भी चुनौती देते हैं; एकदम कबीर की तरह' 118

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राही जी धर्म के बाह्य आडंबरों तथा उनसे उत्पन्न सामाजिक कुरीतियों तथा ऊँच-नीच के प्रबल विरोधी थे। राही ने भारत के स्वातन्त्र्योत्तर काल के विभिन्न सामाजिक वर्गों की सांस्कृतिक रुचि तथा धार्मिक चेतनागत दृष्टिकोण के अंतर को पहचान कर साहित्य में अपने पात्रों का परिकल्पन किया है।

संदर्भ-

1 प्रेमचन्द, साहित्य का उद्देश्य, पृ0 5

2 प्रेमचन्द, साहित्य शिक्षा, पृ0 22

3 जे. जे. रूसो, सोशल कान्ट्रेक्ट [सामाजिक पोषण] अनुवादक घुलचक, पृ0 3

4 डॉ राही मासूम रज़ा, खुदा हाफिज कहने का मोड़ संकलित डॉ कुँवरपाल सिंह, पृ0 143

5 वही, पृ0 142-143

6 वही, पृ0 135

7 डॉ राही मासूम रज़ा, लगता है बेकार गए हम संकलित डॉ कुँवरपाल सिंह, पृ0 33

8 डॉ राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृ0 66

9 डॉ राही मासूम रज़ा, टोपी शुक्ला, पृ0 35

साहित्यिक शोध में समय, समाज और संस्कृति

10 डॉ राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृ0 155

11 वही, पृ0 282-283

12 डॉ राही मासूम रज़ा, असन्तोष के दिन, पृ0 28

13 संचेतना [बसंतांक 1968], पृ0 55 | सुरेन्द्र नाथ तिवारी का लेख 'समीक्षात्मक कोण पर आधा गाँव

14 डॉ इन्दु प्रकाश पाण्डेय, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में जीवन-सत्य, पृ0 247

15 डॉ धर्मवीर भारती, कुछ चेहरे: कुछ चिंतन, पृ0 185

16 डॉ राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृ0 53

17 डॉ जगदीश नारायण श्रीवास्तव, उपन्यास की शर्त, पृ0 252

18 डॉ भगवान सिंह - जिसकी रग-रग में गंगा का पानी था [पुण्य स्मृति] इण्डिया टुडे, 15 अप्रैल 1992

विवेकानंद ग्रामोद्योग महाविद्यालय दिबियापुर-औरैया में दिनांक 13 एवं 14 मार्च 2012 को आयोजित सेमिनार 'स्वातंत्र्योत्तर जनतांत्रिक समाज एवं साहित्य-सृजन' में प्रस्तुत

## ‘घर, घरवालियां, सेक्स’ : स्त्री विमर्श का उत्तर या उत्तर का स्त्री विमर्श

समसामयिक अकादमिक बहसों के केंद्र में सबसे प्रमुख मुद्दा स्त्री विमर्श बना हुआ है। स्त्री रचनाकारों ने अपने सौंदर्यशास्त्र के प्रतिमानीकरण की प्रक्रिया चला रखी है। ‘हंस’ इत्यादि नामी पत्र-पत्रिकायें इसके लिये अनुकूल वातावरण एवं मंच प्रदान कर रहीं हैं। वर्तमान दौर की हर छोटी-बड़ी पत्रिका में इस मुद्दे पर चर्चा छिड़ी हुयी है। भारतीय समाज और राजनीति में भी स्त्रियों से जुड़ी समस्याओं और चुनौतियों पर खुले रूप में मंथन चल रहा है। यह मुद्दा इसलिये और भी महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि दुनिया की यह आधी आबादी अशिक्षा, गरीबी, जनसंख्या वृद्धि, स्त्री-पुरुष का बिगड़ता अनुपात जैसी समस्याओं से सीधे तौर पर जुड़ी है।

स्त्रीवादी लेखन के इस प्रचलित दौर में एक जर्मन स्त्री लेखिका मार्गिट श्राइनर का उपन्यास ‘हाउस, फ्राउएन, सेक्स’ हिंदी में अमृत मेहता द्वारा अनूदित होकर ‘घर, घरवालियां, सेक्स’ आया है। यह पुस्तक इतिहास बोध प्रकाशन इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित है, जिसका प्रथम संस्करण जनवरी 2004 में निकला, मई 2006 में इसका पुनर्मुद्रण हुआ।

यह रचना पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि किसी स्त्री लेखिका का पति इसका सृजन कर रहा है। यह रचना पाठक को चौंकाती है कि हमारे देश में जहां स्त्रियों के पक्ष में तर्क रखने वाले लोग अपने को प्रगतिशील और धन्य हुआ मानते हैं, वहीं पश्चिम में इस स्थिति में परिवर्तन के संकेत दिखने लगे हैं। यह रचना इसलिये और भी सोचने को विवश करती है कि एक स्त्री लेखिका पुरुष की ऐसी पीड़ा को आत्मकथात्मक शैली में व्यक्त कर रही है, जो एक पुरुष भी अभी तक नहीं कह पाया है। स्त्री द्वारा स्त्री के विषय में स्त्री के लिये किये जा रहे लेखन की प्रचलित स्त्रीवादी लेखन-कसौटी पर यह उपन्यास अनुभूति की प्रामाणिकता को लेकर हल्का सा सवाल भी खड़ा कर सकता है, किंतु नये भाव बोध के साथ आयी इस रचना की चर्चा अकादमिक मंचों से अवश्य होनी चाहिये। किसी रचना-सौंदर्य का अंतिम और प्रामाणिक प्रमापक पाठक ही होता है और पाठकों ने इस रचना पर अपनी दृष्टि रमायी है।

1953 ई में लिंत्स (आस्ट्रिया) में जन्मी मार्गिट श्राइनर ने टोकियो, पेरिस, रोम, बर्लिन जैसे महानगरों में अनेक वर्ष बिताये हैं। यह आस्ट्रिया के प्रमुख रचनाकारों में से एक हैं। इनकी रचनायें अनेक यूरोपीय भाषाओं में तो

अनूदित हुरीं ही हैं, कई साहित्यिक पुरस्कारों से भी आप नवाज़ी जा चुकी हैं। आलोच्य उपन्यास उनकी हिंदी में पहली अनूदित रचना है। इस प्रकार लेखिका अपनी भाषा एवं साहित्य की एक सिद्धहस्त एवं प्रतिष्ठित रचनाकार हैं।

इस उपन्यास के अनुवादक अमृत मेहता जर्मन भाषा और साहित्य में डाक्टर की उपाधि प्राप्त हैं। यह वायस ऑफ जर्मनी (रेडियो दोयछेवेल्ले) में हिंदी की सेवा कर चुके हैं। श्री मेहता जर्मन लेखक संघ के एकमात्र गैर जर्मन भाषी सदस्य हैं। आप 'सार संसार' नाम की एक त्रैमासिक पत्रिका के संपादक एवं प्रकाशक हैं, जिसका जनवरी-मार्च 2010 में 55वां अंक प्रकाशित हुआ। यह पत्रिका विदेशी भाषाओं के साहित्य को हिंदी में अनूदित रूप में उपलब्ध कराती है। मेहता जी की साहित्यिक अनुवादों के अतिरिक्त अनुवाद विज्ञान पर भी अनेक पुस्तकें हैं।

अनुवादक ने इस रचना चयन का कारण बिना खास वजह के मध्य यूरोप में हो रहे तलाक, पति-पत्नी में झगड़े, मन-मुटाव आदि को माना है। उपन्यास को पढ़कर यह समझा जा सकता है कि रचना की कथा-भूमि भले ही मध्य यूरोप से संबंधित है, पर इसके भावबोध का बदला हुआ मिज़ाज़ और सरोकार बिल्कुल नये हैं। यह उपन्यास समसामयिक रचना भूमियों की मुख्यधारा से भिन्न है।

उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र मारी थैरेज़े (पुकार नाम रेज़ी) एक सुपर मार्केट में खजांची का काम करती है। उसने अपनी शादी के बीस वर्ष बाद अपने पति फ्रांत्स को तलाक लेकर छोड़ दिया है। रेज़ी ने फ्रांत्स से उसकी नौकरी जाने के बाद तलाक लिया, फ्रांत्स का घर, पैसा, बच्चा सब कुछ पत्नी से बिछुड़ने के बाद समाप्त हो जाता है। फ्रांत्स अकेलेपन की त्रासदी को भुगतता है। वह रेज़ी पर अत्यंत क्रोधित है, इस आक्रोश में वह शराब पीना शुरू कर देता है। निजी पीड़ा के बहाने फ्रांत्स समूची स्त्री जाति के प्रति अपने उद्गार व्यक्त करता है-

फ्रांत्स स्त्री को परनिर्भर, चतुर, स्वतंत्र एवं महत्वाकांक्षी मानता है। वह मानता है कि कोई स्त्री बिना पुरुष की सहायता के अपना काम नहीं कर सकती, स्त्रियों में कल्पनाशीलता की कमी होती है। फ्रांत्स सोचता है कि पुरुष को मशीन की भांति काम करने के लिये स्त्रियों द्वारा ही उत्प्रेरित किया जाता है। लालसा, और-और हो, यह हो वह हो के कारण स्त्री पुरुष को चैन नहीं लेने देती है। पुरुष को अपने परिवार की इच्छायें पूरी करने के लिये रात-दिन एक करना पड़ता है। 'पापड़' बेलने पड़ते हैं। पुरुष स्त्री से प्यार पाने का चिर आकांक्षी रहता है, पर यह स्त्रियों द्वारा कभी पूरी नहीं की जाती है। पुरुष के प्रति स्त्रियों द्वारा रूखापन और उदासीनता बरती जाती है। स्त्रियों द्वारा पुरुषों को उनकी राय से एकमत होने के लिये बाध्य किया जाता है। पुरुष कहता है "सारे भारी काम तो हम करते हैं; खोदना, गोड़ना,



लीपना-पोतना, दुरुस्त करना और मरम्मत करना, जो तुम लोग बिल्कुल नहीं कर सकती, अगर चाहो तो भी।’ ’ 1 कथानायक एक समर्पित, उदार एवं निष्ठावान व्यक्ति के रूप में इस उपन्यास में चित्रित हुआ है। वह स्त्री के पास ठीक-ठाक पैसा, नौकरी न होने के बावजूद उसे वरण करता है। स्त्री के आत्मसम्मान का ध्यान रखता है। स्त्री को क्या कहना और क्या नहीं कहना का लिहाज करता है। स्त्री को सदैव आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है और उसके सोये हुये आत्मविश्वास को जगाता है। पुरुष कहता है “मैं हमेशा तुमसे कहा करता था छोड़ दे सुपर मार्केट की यह फ्रजूल सी नौकरी और घर में रह। तब तुम्हें कुछ नये ख्याल आयेंगे, और तुम कुछ ऐसा कर सकोगी, जिसमें सुपर मार्केट से ज्यादा कमायी होगी। कुछ ऐसा जिसमें तुम्हें खुशी मिलती हो, संतोष मिलता हो, आनंद मिलता हो, क्योंकि उसमें मुझे भी खुशी मिलेगी।’ ’ 2

क्लब की स्त्रियां फ्रांत्स पर ताने कसतीं। फ्रांत्स के अनुसार “साफ नजर आ रहा है कि कौन किसका शोषण कर रहा है। तुम लोग हमें चूसती हो, पैसे को भी आदमी को भी। जब तक हम कमाते हैं तुम लेती हो और जब हम बेरोजगार हो जाते हैं तो हमें छोड़ जाती हो।’ ’ 3 स्त्री-पुरुष के बिछुड़ने के बाद बच्चों को सर्वाधिक परेशानी उठानी पड़ती है। मां अकेली है तो उसे घर का खर्च पूरा करने के लिये काम पर जाना ही होगा, जिससे मां के पास बच्चे के लिये समय नहीं होता। पिता की अनुपस्थिति में संतुलन और नियंत्रण का अभाव होता है। बच्चे एकाकी होकर नशाड़ी, बदचलन, आवारा एवं हिंसक हो जाते हैं। कथानायक के शब्दों में इन बच्चों का “कोई परिवार नहीं, कोई घर नहीं, सुरक्षा की भावना नहीं, जीवन का अर्थ नहीं। युवा लोग हर चीज से उदासीन हैं। कोई आदर्श नहीं, घर में पिता नहीं, सब बरबाद हो चुका है। मां-बाप का तलाक़ हो चुका है। बाप बदचलन और शराबी बन चुके हैं, मांएं काम करती हैं और उनके पास टाइम नहीं है, प्रोत्साहन नहीं है। और तब ऐसे नौजवान का दिमाग़ खराब हो जाता है।’ ’ 4

एक स्त्री रचनाकार इस उपन्यास में लिखती है कि आदमी जिम्मेदारी उठाता है और हमेशा सिर्फ़ दूसरों के हक़ में फैसले करता है। मार्गिट श्राइजर लिखती हैं जिस बेटे को बाप की कमी होती है, उसे एक आदर्श की कमी होती है। तलाक़ हुयी जिंदगी में बच्चा किसका अनुसरण करेगा? तलाक़ के बाद बच्चे अपने पिता के पास रहते नहीं, इसलिये उनमें जिम्मेदारी का भाव नहीं आ पाता। कहा जाता है कि छोटा बच्चा इसलिये अपनी मां पर निर्भर होता है, क्योंकि पिता उसकी उतनी परवाह नहीं करता। मारी थैरेज़े का पति इस मान्यता को झुठलाता है। वह मानता है कि मां के दूध के अलावा वह सब कुछ पिता के पास भी होता है, जो एक मां के पास होता है। उस पर तुरा यह कि यदि आदमी पालन-पोषण के मामले में अपनी राय कभी दे तो उसे टेढ़ी आंखों से देखा जाता है। जबकि मांएं अत्यधिक लाड़-प्यार से बच्चों को बिगाड़ देती हैं। उपन्यास के पुरुष की पीड़ा है, जब लोग फ़ब्तियां कसते हैं “कोई न कोई वजह तो होगी कि उसकी बीवी अपने बच्चे समेत उसे छोड़ गयी है। ऐसे ही तो कोई बीवी बच्चों समेत मियां को नहीं छोड़ देती। कितनी अच्छी औरत है बेचारी, कहा जाता है, और तुम जितना चाहो हमें धोखा देती रहो। क्योंकि लोग अगर

किसी बात पर यकीन करना चाहते तो नहीं करेंगे। आदमी के बारे में तुरंत यकीन कर लेंगे कि वह अपनी बीवी को धोखा देता है, शायद किसी कम उम्र वाली ज्यादा खूबसूरत औरत के चक्कर में, या वे यकीन करना चाहते हैं कि वह शराबी है। औरत के बारे में ऐसी बात पर कोई यकीन नहीं करता।' ' 5

कथानायक की पीड़ा है कि स्त्री विमर्श के पैरोकार लेखकों, तलाक़ा का फैसला करने वाले न्यायाधीशों, परिवार परामर्शदाताओं के यहां हमेशा औरत की चलती है। डाक्टर के यहां पति-पत्नी के एक साथ जाने पर पति से रूखा एवं अपमानजनक व्यवहार किया जाता है। पुरुष तर्क रखता है कि बेबी को अपनी मां का पर्याप्त दूध नहीं मिलने के कारण ही वह अपनी मां से बुरी तरह चिपका रहता है। और जितना ही वह मां से चिपकता है, उतना ही वह पिता से दूर होता जाता है। उपन्यास में दिये गये किस्सों से विदित है कि इन देशों में परस्त्रीगमन आम है। उपन्यास का पुरुष कई बार सोचता है कि वह महिलाओं से प्यार, खुशी और सुरक्षा को पाने के लिये अपना दिमाग, वक्रत और आज़ादी को कुर्बान करता है, किंतु औरत के अंगों में मादक सपने तो हैं, पर वह अवास्तविक हैं। पुरुष इसके मोहपाश में अपना सर्वस्व लुटा देता है, जबकि पुरुष की कामुकता को भी स्त्री अपनी ओर से उद्दीप्त नहीं करती। बिस्तर पर स्त्री की उदासीनता का वर्णन उपन्यास में खूब हुआ है। पुरुष का मानना है कि अधिकतर मामलों में स्त्री ही सबसे पहले तलाक़ मांगती है। स्त्रियां पुरुषों से अधिक चतुर होती हैं, आदमी कोई ज़रा सा भी ग़लत क़दम उठा ले तो भांप लेती हैं। कार्यालय में भी स्त्रियों को वरीयता दी जाती है। उपन्यास में कामजनित समस्याओं के अनेक पहलू चित्रित हुये हैं। पुरुष के पौरुष की कमी का उपहास तो स्त्रियां उड़ाती हैं, पर यह नहीं देखतीं कि उसकी वजह क्या है? स्त्रियां द्वारा पिटना उनकी स्वयं की पसंद होता है। स्त्रियां द्वारा सच्चाई को स्वीकार करने से पहले का यह उपक्रम होता है। इसका परिणाम तलाक़ होता है, जिसमें स्त्रियों का बाल भी बांका नहीं होता और पुरुष शराब पी-पीकर बरबाद हो जाते हैं। इसीलिये कथानायक फ़्रांत्स के अनुसार स्त्रियां पुरुषों से औसतन पांच साल अधिक जीतीं हैं।

पुरुष को राक्षस रूप में बताना उपन्यास की महिलाओं की चारित्रिक विशेषता है। उपन्यास में स्त्री यदि पुरुष का दोष निकालती और यह सही होता तो पुरुष अपनी ग़लती स्वीकार कर लेता, पर विडंबना कि स्त्रियां ऐसा नहीं करतीं। स्त्री और बच्चों के लिये पुरुष रात-दिन मेहनत करके मकान बनवाता है, उनकी हर ज़रूरत का ध्यान रखता है, किंतु पुरुष को सदैव दंभी ही माना जाता है। तलाक़ के बाद के खर्च को पुरुष पर डाल दिया जाता है। इस स्थिति पर पुरुष कहता है “आजकल सभी जज औरतों की हिमायत करते हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि नहीं तो उन्हें पुरुषों का पक्षपाती समझा जायेगा और स्वाभाविक तौर पर इसलिये भी कि बाल-कल्याण दफ़्तरों में फैसला देने वाले पदों पर सब जगह औरतों का कब्ज़ा है। औरतों की आज़ादी की हिमायती इन औरतों ने जजों के हाथ बांध रखे हैं, वे निर्णय देने में स्वतंत्र नहीं हैं। इसी तरह जन कल्याण संस्थाओं में, परिवारों को परामर्श देने वाले दफ़्तरों में, अखबारों में

.....आजकला किसमें हिम्मत है कि ईमानदारी से और खुलकर कह सके कि हम मर्दों के साथ कैसा बर्ताव हो रहा है।' ' 6

उपन्यास का कथानायक फ्रांत्स पिताओं के हालात पर भी सोचने की आकांक्षा रखता है। स्त्री-पुरुष के बीच जिसे लोग समान अधिकार कहते हैं, उन्हें फ्रांत्स आदमी का लहू चूसना मानता है। फ्रांत्स का मानना है कि मात्र काम-क्रीड़ाओं के अलावा स्त्रियों ने अभी तक ठीक से कोई नारी आंदोलन भी नहीं चला पाया है। कोई महान उपन्यास, संगीत, चित्रकला में भी उनका योगदान नगण्य है।

फ्रांत्स के अनुसार स्त्रियां अपनी ज़रा सी आलोचना को अपने पूरे अस्तित्व का प्रश्न बना लेती हैं, वे अपने बचपन की कहानियां सुनाने लगतीं, किंतु आदमी औरत के मुकाबले अधिक समझदार होते हैं। आदमी किसी मुद्दे पर खुलकर बात करना पसंद करते हैं। आदमी ईमानदारी चाहता है। इसमें अगर कोई चूक हो जाती है तो उस पर कोई प्रतिक्रिया करता। औरतें हमेशा ताना मारती हैं, उसके अनुसार कोई प्रश्न ऐसा नहीं पूछा जाना चाहिये, जिसका जवाब सहने की हिम्मत न हो। सिर्फ बेवकूफ आदमी ही हवा में सवाल फेंकता है। कथावर्णन के अनुसार फ्रांत्स और रेज़ी के झगड़े में रेज़ी की ओर से मारने के लिये फ्रांत्स पर हाथ उठाया जाता है, इस पर फ्रांत्स हल्का सा बल प्रहार जब करता है तो रेज़ी डर के कारण शायद जानबूझकर गिर जाती है। रेज़ी पर फ्रांत्स अपनी भड़ास पूरे उपन्यास में निकालता है। फ्रांत्स समूची स्त्री जाति से ही घृणा करने लगता है। फ्रांत्स का सामाजिक दायरा व्यापक है, किंतु रेज़ी का संपर्क नारी मुक्ति आंदोलन से जुड़ी स्त्रियों के अलावा कहीं नहीं है। फ्रांत्स को बीस साल बाद उसकी पत्नी रेज़ी एक पत्र में लिखती है कि फ्रांत्स घर का काम करे, या बेटे का लालन-पालन करे अन्यथा घर से निकल जाये। फ्रांत्स का यह दर्द बार-बार उपन्यास में आता है कि तलाक के बाद स्त्रियों को क्षतिपूर्ति के रूप में धन मिलने लगता है और आदमी दर-दर की ठोकरें खाने को विवश हो जाता है। उसके अनुसार स्त्रियां जो दिमाग में आता है, उगल देती हैं, जिससे उनका बोझ हल्का हो जाये पर यह नहीं देखती कि अगले पर क्या बीत रही है।

उपन्यास के अनुसार आदमी को दूसरों की बीवी यदि अच्छी लगे तो औरत को आदमी से चिढ़ हो जाती है किंतु यदि बीवी आदमी के साथ-साथ औरों को अच्छी लगे तो आदमी को खुशी होती है। जबकि बच्चा पैदा होने के बाद स्त्री-पुरुष का प्यार समाप्त हो जाता है। बच्चा जनने के बाद उसे सुरक्षा प्राप्त हो जाती है। स्त्री चाहती है कि आदमी की दिलचस्पी उसमें अब न रहे, दूसरी औरतों में भी न रहे। स्त्री आदमी को कई तरह से परेशान करेगी, उसे शराबी बना देगी, और फिर कहेगी मुझे शराबी के साथ रहना पसंद नहीं। यह स्थिति सालों तक चलती रहती है, जिससे

आदमी ढीला बन जाता है। स्त्री आदमी के खुलेपन को दबा देती है। स्त्रियां सोचती हैं कि पुरुष यह नहीं जानते कि बुनियादी तौर पर वे पुरुषों से अधिक कामुक होती हैं। स्त्रियां को या तो बिल्कुल नहीं चाहिये या फिर हमेशा चाहिये।

उपन्यास में एक फिल्म “इम राइष देअर जिन्ने” (इंद्रियों का साम्राज्य - अनुवादक) का हवाला दिया गया है, जिसमें एक औरत एक मर्द को कमरे में बंद कर देती है, ताकि वह बाहर न जा सके। और फिर वे करते हैं, जब तक थक कर चूर नहीं हो जाते। अंत में वह उसका गला दबाकर मार देती है और उसका वंश काट डालती है।’ ’ 7

स्त्री को जो अच्छा लगता है, उसे वह प्राप्त कर लेती है। इस बात को स्पष्ट करते हुये उपन्यास में बाइबिल का उदाहरण दिया गया है, जिसमें अक्षतयोनि मारिया को कुंवारे में बेटा पैदा हुआ था। उपन्यास के अनुसार गिरजाघरों के पादरी क्या-क्या मिथ्याचार नहीं करते। ईश्वर ने यदि वासना को अपने स्तर से हेय समझा होता तो इसे मनुष्यों में संचरित नहीं किया जाता। कथानायक कहता है पाप तभी होगा, जब मनुष्य को उसमें लिप्त होने की स्वतंत्रता होगी और यह भी कि कामुकता का अस्तित्व इसीलिये है कि मनुष्य उसका दमन करे। गिरजाघरों में पाप-स्वीकरण के समय की वासनात्मक अंतर्कथायें उपन्यास में वर्णित हुयी हैं। उपन्यास के कामुकतायुक्त प्रसंगों में फ्रांत्स ने अपनी पत्नी से अधिक अन्य स्त्रियों की सराहना की है, किंतु अन्यत्र फ्रांत्स ने स्त्रियों को सदैव दोगम दर्जे की मान्यता ही दी है।

फ्रांत्स समझता है कि मनुष्य इसीलिये एक सामाजिक प्राणी है कि वह दूसरों की चिंता भी करता है, अपने नजदीकी लोगों की। कभी-कभी उसे कड़वा घँूट पीकर वह भी करना पड़ता है, जिसे करने में उसकी कोई विशेष इच्छा नहीं है। उसका मानना है कि स्त्रियां हर चीज में शुरू से ही प्रवीण रहना चाहती हैं, वे पूरी निपुण होना चाहती हैं। लेकिन जीवन का रहस्य यही है कि पूरा निपुण कोई नहीं होता। जो करता है, उससे गलतियां भी होती हैं और जो नहीं करता वह सीखता भी नहीं है। फ्रांत्स स्त्रियों को प्रतिक्रियावादी मानता है। दूसरों के किये पर प्रतिक्रिया दिखाना ही स्त्रियों को आता है। कुछ करने से यह ज़्यादा आसान होता है। वह कहता है चुप रहना हमेशा आसान होता है। रेज़ी को संबोधित करते हुये फ्रांत्स कहता है तुम लोग हमेशा या तो अतीत की बात करती हो या भविष्य की। वर्तमान की कभी नहीं। फ्रांत्स याद दिलाता है कि पुरुषों के योगदान के बिना महिलाओं को मताधिकार तथा आरक्षण नहीं मिल पाता। स्त्री और पुरुष के बीच के संबंध गहरे और नाजुक होते हैं। फ्रांत्स मानता है आदमी तबाह करता है, लेकिन औरत बरबाद करती है। उसके अनुसार जो कुछ तबाह हो जाता है, उसे फिर से बनाया जा सकता है; घर, कलाकृतियां, पूरी सभ्यतायें। लेकिन जो बरबाद हुआ, वह खत्म। फ्रांत्स के अनुसार स्त्रियों द्वारा आदमी को छोड़ने की कानूनी व्यवस्था बनाने का श्रेय भी आदमी को ही है।

फ्रांत्स विचार करता है कि “हम सब हर तरह से सक्षम नहीं हैं। हम सब सिर्फ़ इंसान हैं। हर कोई कभी न कभी ग़लती करता है, बोलने के ढंग में ग़लती कर जाता है। सामान्य स्वर से लेकर ऊँचे तक। बीमारी खुद में बंद हो जाने में है, आलोचना को न समझने के इरादे में, इस पागलपन में कि तुम कोई ग़लती नहीं कर सकते, इस घमंड में, दूसरों को न सुन सकने में, दूसरों से हमदर्दी न रखने में, दूसरे जो महसूस करते हैं, उसकी कल्पना न कर सकने में।” 8 कथानायक फ्रांत्स दुखी है इसलिये वह अपनी पत्नी को हैट टांगने वाला खूटीदार खंभा कह देता है। वह दुखी है क्योंकि तलाक़शुदा आदमी पर कोई भरोसा नहीं करता, जबकि स्त्री से सबकी सहानुभूति होती है। उपन्यास में फ्रांत्स अपने जीवन के चिट्ठे को क्रमबद्ध पढ़ रहा है। वह अपनी पत्नी से कहता है यदि “मैं तुम्हें तलाक़ देने से मना कर देता! क्या रह जाता तुम्हारे पास अलावा इसके कि तुम तलाक़ की अर्ज़ी दे देती। जानती हो इसका क्या मतलब होता? इसका मतलब होता; जांच, सबूत जुटाना, प्रमाण-पत्र, अदालत के सामने घर की गंदगी धोना।” 9 फ्रांत्स व्यथित है क्योंकि बीस साल बाद जब उसने अपने बच्चे को पाला-पोसा, बड़ा किया और जब नौकरी से बर्खास्त हो गया, कमायी नहीं आयी तो उसके पत्नी ने उसे तलाक़ देकर अकेला छोड़ दिया।

उपन्यास में वर्णनों की पुनरावृत्ति कहीं-कहीं एकरसता पैदा कर देती है। इस कथा के मुख्य पात्र फ्रांत्स और रेज़ी ही हैं, अन्य पात्रों में स्त्री चरित्र ही हैं। उपन्यास में कथोपकथन या संवाद का अभाव है। पूरा उपन्यास फ्रांत्स द्वारा रेज़ी के प्रति निकाली गयी भड़ास में एकालाप रूप में चलता है, जिससे यह फ्रांत्स की आत्मकथा जैसा भी प्रतीत होता है। अनुवादक की पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण अनुवाद में उर्दू शब्दों का समावेश प्रचुरता में हुआ है। कुछ अरबी शब्दों जैसे ‘हामिला’ तो कहीं-कहीं संस्कृत शब्दों ‘समावेशन’, ‘नीरोगण’ आदि का प्रयोग उपन्यास में हुआ है। इसके अलावा उपन्यास में कहीं-कहीं विरोधाभासी वर्णन हैं, जैसे एक जगह फ्रांत्स कहता है “कोठे से मुझे कुछ नहीं मिलता, क्योंकि सिर्फ़ देह का मिलन मेरे लिये काफी नहीं है। लेकिन आज एक बात मुझे साफ़ समझ में आ रही है। अगर बिस्तर में संतुष्टि नहीं है तो समझो कि शादी खत्म हो गयी। अगर बिस्तर में संतुष्टि है तो समझो कि वैसे भी संतुष्टि है।” 10 उपन्यास में रेज़ी मुख्य भूमिका में है, किंतु उसके द्वारा कोई कथन उपन्यासकार ने नहीं कहलवाया है।

जर्मन लेखक देअर शपीगल, हैंबर्ग इस उपन्यास के बारे में सम्मति पृष्ठ पर लिखते हैं “धमाल भरे 200 पृष्ठ, पुरुष अपने पीड़ित भाइयों के प्रति भाईचारे की भावना प्रकट करते हैं, स्त्रियां दुहाई देती हैं “दोष इसका अपना है” और “जो हुआ इसके साथ सही हुआ” - जब तक दोनों पक्षों को इसकी जानकारी नहीं होती कि इस निरंकुश गद्य की रचना एक स्त्री ने की है।” वहीं ज्यूरिख के साहित्यकार नोये त्स्युर्षरत्साइंटुंग ने लिखा है कि यह एक कुशल

चातुर्यपूर्ण गद्य है, जिसमें अपनी पत्नी द्वारा त्याग दिये जाने के बाद पति अपना मरदाना बकवादी चेहरा दिखाता है- दांपत्य जीवन में बरबादी से लेकर मरदाने अक्खड़पन के कीचड़ से सराबोर रचना।

हिंदी की सुपरिचित ब्लॉगर एवं दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कालेज में प्राध्यापिका डॉ नीलिमा चौहान का कहना है कि यह उपन्यास पढ़कर समाज की मुख्य बुनियाद विवाह और परिवार पर ही अनेक शक पैदा होते हैं। वह लिखती हैं “स्त्री और पुरुष के संबंध विवाह के बाहर और भीतर दोनों ही जगह शोषक-शोषित और मालिक-मजदूर के हैं। सामाजिक विकास के चरणों में कबीलायी समाज की मूल प्रवृत्तियां नहीं बदल सकीं।” 11

इस उपन्यास में सेक्स और उससे जुड़े ऐसे मुद्दों को खुलकर चित्रित किया गया है, जिन्हें भारतीय भाषाओं के साहित्य में इस रूप में पाना अभी तक संभव नहीं हुआ है, जबकि यह समस्याएँ और चुनौतियाँ चोरी छिपे रूप में जन-जन में व्याप्त हैं। यह सही है कि भारतीय समाज में पश्चिमी तौर-तरीके पूरी तौर पर आमेलित नहीं हो सकते, क्योंकि हर देश की अपनी स्थानीयता और रंगत होती है, जो उसके काल और वातावरण से संपृक्त रहती है। स्थानीयता की यह संस्कृति रातों-रात नहीं घटित होती, वरन् सभ्यताओं के अनेक चरणों का इसमें योगदान रहता है, किंतु विदेशी कथा-भूमि पर अवलंबित होने के बावजूद यह उपन्यास अपनी भाव-भूमि के विस्तार के कारण भारत में भी स्थान बनाने योग्य है। पुनः वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में विदेशी और देशी की सीमा रेखा क्षीण पड़ चुकी है। अतः अकादमिक चर्चाओं में इस तरह की रचनाओं का नोटिस अवश्य लिया जाना चाहिये। सबसे बढ़कर हमें यह ध्यान रखना है कि यह रचना एक स्त्री लेखिका द्वारा नये भावबोध और मरदाने अक्खड़पन के साथ की गयी है, जिसे पढ़कर कहा जा सकता है कि यह एक पुरुषवादी रचनाकार की पौरुषपूर्ण कृति है। इस तरह की रचना कोई भावुकतावादी एवं नैतिकतावादी पुरुष भी नहीं कर सकता था। यह रचना एक स्त्री द्वारा स्त्री के विषय में रचित होने के कारण स्त्री विमर्श है, किंतु स्त्रीवादी लेखन के प्रचलित प्रतिमानों के विरुद्ध इसमें पुरुष व्यथा का निदर्शन हुआ है। अतः कहीं यह स्त्रीवादी लेखन का जवाब तो नहीं? स्त्रीवादी लेखन के एकरेखीय प्रवाह के बाद संतुलित दृष्टिकोण रखते हुये रचनायें आयेंगी ही, अतः इसे उत्तर अर्थात् बाद का स्त्रीवादी लेखन भी कहा जा सकता है। स्त्रीवादी लेखन की गति और दिशा को देखते हुये यह कहना समीचीन लगता है कि यह रचना स्त्री विमर्श का उत्तर ही नहीं, उत्तर का स्त्री विमर्श भी है।

संदर्भ स्रोत-

1. घर, घरवालियां, सेक्स (मार्गिट श्राइनर के हाउस, फ्राउएन, सेक्स उपन्यास का मूल जर्मन से अनुवाद) अनुवादक अमृत मेहता, इतिहास बोध प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण जनवरी 2004 पुनर्मुद्रण मई 2006, पृ0 14
2. वही, पृष्ठ 16
3. वही, पृष्ठ 20
4. वही, पृष्ठ 25
5. वही, पृष्ठ 32
6. वही, पृष्ठ 59
7. वही, पृष्ठ 85-86
8. वही, पृष्ठ 113
9. वही, पृष्ठ 116
10. वही, पृष्ठ 93
11. दिनांक 2.8.10 को देखे गये ब्लॉग <http://vadsamvaad.blogspot.com> पर डॉ नीलिमा चौहान की 25 अगस्त 2009 की पोस्ट से

‘नूतन वाग्धारा’ अर्धवार्षिक अक्टूबर 2011-मार्च 2012 issn 0976092x में प्रकाशित

## हिन्दी साहित्य: कल, आज और कल

साहित्य का 'हित' भाव उसका प्राणतत्व है। हितकारिता ही 'उचित उपदेश' है, उससे पूर्व साहित्य का 'कर्म' मनोरंजन भी माना गया है। साहित्य को एक ऐसा उपदेश कहा गया है जो 'कान्तासम्मित' हो, जिसका प्रत्यारोपण हो पर दिखाई न दे। साथ-साथ वह यश व अर्थकारी, व्यवहार ज्ञान कराने वाला तथा किंकर्तव्यविमूढावस्था से निवारने वाला भी होता है। साहित्य का आधार भाव, विचार, कल्पना एवं शैली हैं। इन आधार तत्वों पर ही साहित्य की प्राणवत्ता निर्भर करती है। इन तत्वों एवं प्रयोजनों की पूर्ति होने पर ही साहित्य की शोभा सर्वत्र बिखरती है चाहे वह कहीं भी 'उपजा' हो। इसीलिए साहित्य में सबको साथ ले चलने की क्षमता होती है।

इतने पर यदि समसामयिक परिदृश्य को देखते हुए विचार किया जाये तो क्या साहित्य उल्लिखित प्राणभूत तत्वों एवं मानकों को पूरा कर रहा है? वर्तमान साहित्य चतुर्दिक हो रहे संस्कृतिगत हमलों से स्वाभाविक रूप से प्रभावित हो रहा है। साहित्य का आस्वाद बदल गया है। इस बदले हुए आस्वाद को विद्वान 'उत्तर आधुनिक' संज्ञा दे रहे हैं। उत्तर आधुनिकता को हम बाज़ारवाद या उपभोक्तावाद से जोड़कर देख सकते हैं। जहाँ व्यक्ति की अस्मिता और उसके सांस्कृतिक मूल्य क्षरित हो चुके हैं। 21वीं सदी में बाजार प्रधान हो गया है। इस बाजार में क्षण-प्रतिक्षण चीजें बदल रही हैं जो चीज कल थी, वह आज उसी रूप में नहीं है, उसका स्वरूप बदल रहा है। कहीं पर कल्पना ठहर ही नहीं रही है। पारम्परिक प्रतिमान 'कूच' कर चुके हैं, 'उपमान मैले हो गये हैं' यद्यपि प्रतिमानों के परिवर्तन से नये प्रतिमान गढ़ने का प्रयत्न साहित्यकारों द्वारा हो रहा है किन्तु उन प्रतिमानों की कोई गारण्टी/वारण्टी नहीं रह गयी है। हिन्दी साहित्य में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के समय तक जहाँ विषयों का अकाल समझा जाता था, जिससे अनेक प्रतिपाद्य विषयों की ओर आचार्य द्वारा संकेत किया गया। वहीं मुक्तिबोध के आने तक 'विषयों का आधिक्य हो गया, क्योंकि अब 'प्रत्येक वाणी में महाकाव्य पीड़ा' दृष्टिगत होने लग गयी। नया कुछ अच्छा नहीं आ रहा है, पुरातन बासी समझा जाने लगा। फिर जनमानस को मोबाइल, वॉशिंग मशीन, रेफ्रिजरेटर, कम्प्यूटर, लैपटॉप से फुर्सत मिले तब तो साहित्य, संगीत और ललित कलाओं के प्रति अभिमुख हुआ जाये। जब इन माध्यमों पर एक पढ़ा लिखा नवयुवक आ ठहरता है तो उसे सांस्कृतिक तत्वों को जानने की जिज्ञासा एवं आवश्यकता कहां रह जाती है। इनमें से कम्प्यूटर पर पोर्नोग्राफी देखकर ही आत्ममुग्ध हो रहे होते हैं। जो वर्ग इन तथाकथित सुविधाओं से वंचित है वह इस आधुनिकता की आँधी में कूद पड़ा है साहित्य की चिन्ता फिर किसे हो? पददलित और असहाय लोगों को दो जून की रोटी जुटाने के अतिरिक्त आसरा ही क्या है। धनाढ्य वर्ग तथाकथित उच्च मानसिकता से ग्रस्त है, उसे शेष लोगों के प्रति सोचकर अपना 'मूड' नहीं खराब करना है। साहित्य में प्रबन्ध काव्य आ नहीं रहे हैं। कविता कवि सम्मेलनी चुटकुलों में सिमट कर रह गयी है। ऐसे में आयोजक और उनके चाहने वाले भी 'कवि' बन गये हैं।



‘कवि बनना सहज सम्भाव्य’ हो गया है। इन कारणों से आलोचकों ने ‘कविता का अंत’ घोषित कर दिया है। कहानियों के लेखन एवं उद्देश्य की दिशा बदल गयी है, एकांकी और नाटक अब फिल्म उद्योग की सम्पत्ति हो गये हैं, उनकी फूहड़ता, भौंडापन अश्लीलता उबकायी कराती है, कुछ वही उपन्यास यदा-कदा चर्चित हो पाते हैं जिनको स्थापित संस्थायें पुरस्कार तथा सम्मान प्रदान करते हैं इसी कारण सम्मानों की चाह प्रबल हो उठी है, बिना प्रतिष्ठा के या कहना चाहिये बिना बाजार के अब कोई वस्तु फिर भला वह साहित्य अथवा उसकी कोई भी विधा क्यों न हो कैसे चल पायेगी? जिस कृति या साहित्यकार का जितना बड़ा बाजार, पूँजी, तंत्र या प्रकाशन है उसकी उतनी ही ख्याति।

पहले जहाँ ‘स्वान्तः सुखाय’ रहकर कवि नहीं होने की स्पष्ट उद्घोषणा रचनाकार करते थे क्योंकि उनको ‘सीकरी’ से कोई काम नहीं था। चाहे ‘कोउ नृप हो’ कवि अपने नाम को रचनाकार के रूप में कदापि सम्मुख नहीं रखता था। इसी कारण हजारों पद हैं जिनके रचनाकार आज भी ज्ञात नहीं हो सके हैं। अनुसंधान की स्थिति छिपी नहीं रह गयी है। कहीं के ईंट को कहीं के रोड़े से मिलाकर भानुमती का शोधकार्य निपट रहा है। साहित्य के वर्तमान परिदृश्य और उसके पाथेय पर विचार करते हुये डॉ० विद्यानिवास मिश्र कहते हैं ‘साहित्य प्रश्न छेड़ता है कि मनुष्य के लिए अधिक काम्य कल्याण पथ क्या है। वह किसी भी दिये हुए कल्याण के मार्ग से संतुष्ट नहीं रह सकता है। आज शिवतर की चिन्ता मनुष्य को नहीं है, क्षिप्रतर लाभ की चिन्ता जरूर है।’ 1

दीर्घावधिक पत्रिकाओं का प्रकाशन ही कम हो गया है फिर उसमें भी चीन्ह-चीन्ह कर छापा जा रहा है। छपास मेनिया की बीमारी कहने से कुछ लोगों को नाराजगी हो जाती है पर यह भी है कि लोगों को एक प्रार्थना-पत्र लिखने में हाथ-पैर काँपते हैं। ऐसे लोगों के भी कविता एवं कहानी संग्रह छपे पड़े हैं।

आने वाले समय में हिन्दी साहित्य की क्या स्थिति क्या होगी इसे समझना अब कोई दुष्कर नहीं रह गया है। सूचना प्रौद्योगिकी के कारण साहित्य के प्रसार में वृद्धि हुयी है, सुलभता भी बढ़ी है। पुस्तकें मात्रात्मक स्तर पर बढ़ी हैं यद्यपि गुणात्मक स्तर पर प्रश्नचिन्ह अभी लगा हुआ है क्योंकि सूचना प्रौद्योगिकी एक ‘ज्ञानात्मक संवेदन’ मात्र है और इसका ‘संवेदनात्मक ज्ञान’ से कोई नाता नहीं जो साहित्य का प्राणतत्व है। आलोचना विधा के अन्तर्गत भले ही साहित्य का उत्तरकाण्ड लिखा जा रहा है किन्तु साहित्य के अस्तित्व एवं भविष्य को लेकर उसमें कोई प्रश्नवाचकता नहीं। अब आलोचना का क्रम अस्तित्ववाद पर ही आकर नहीं रुकता है अपितु उससे आगे संरचनावाद, शैली विज्ञान तथा विखण्डनवाद से गुजरते हुए उत्तर आधुनिकता के पड़ाव पर अब हम आ पहुँचे हैं। है अभी भी आधुनिक, किन्तु बिखराव एवं भटकाव के चलते उपयुक्त विशेषण न मिलने के कारण आधुनिक के आगे ‘उत्तर’ अव्यय लगाकर इस अस्पष्टता और असंगतिपूर्ण युग को व्याख्यायित किया जा रहा है। यह कुछ उसी प्रकार हो रहा है जैसा हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ में प्रवृत्तियों की अस्पष्टता के कारण उस युग को ‘आदिकाल’ नाम से अभिहित किया गया। इस प्रकार समीक्षा के बदलते आयामों और रचना के बदलते संदर्भों के कारण नये नये पारिभाषिक शब्द गढ़े जा रहे हैं। मीडिया इस काम को गति दे रहा है इसीलिए उसे शब्दों की क्रीड़ाभूमि कहा जाता है। फिर भी वर्तमान को पूर्णतः सॉचे में ‘फिट’ नहीं पाया जा रहा है।

फ्रांस के उत्र आधुनिक विचारक जॉक देरिदा (Jacques Derrida) वर्तमान युग की अवधारणा को विखण्डनवाद (deconstruction) से परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार मूलपाठ का केवल एक ही अर्थ नहीं होता है। मूलपाठ का जो अर्थ लेखक निकालता है, पाठक के हाथों में आकर उसका वही अर्थ नहीं होता बल्कि बदल जाता है। देरिदा की मान्यता है कि जो कुछ लिखा जाता है उसमें वस्तुनिष्ठ अर्थ का अभाव होता है। भाषा में एक ही शब्द के कई अर्थ होते हैं और एक अर्थ के लिए कई पर्यायवाची शब्द होते हैं। इनमें प्रत्येक शब्द का अपना अलग-अलग संदर्भ होता है। इसलिये शब्दों का अर्थ हमें उनके संदर्भ में खोजना चाहिए।<sup>2</sup>

उत्तर आधुनिकता की अब तक कोई सर्वसम्मत परिभाषा नहीं बन सकी है तथापि कुछ विचारकों जिम मैक गूगन (Jim Mc Guigan) ल्योतार, देरिदा, फूको (Michel Foucault) बोड्रिलार्ड (Jean Baudrillard) जेमेसन (Jameson Frederic) लिंडा निकोलसन (Linda Nicholson) नेन्सी फ्रेशर (Nancy Fraser) इत्यादि विचारकों ने इसे अलग-अलग ढंग से व्याख्यायित किया है। उत्तर आधुनिकता का एक प्रमुख विचारक ल्योतार (Jean Francois Lyotard) महान वृतान्तों को अस्वीकार करता है क्योंकि उनमें सकलता (Totality) की प्रवृत्ति है जबकि संसार बहुलवादी है। इसे किसी एक विचारधारा या सिद्धान्त द्वारा नहीं समझा जा सकता है। न किसी एक विशेष प्रणाली को सारे संसार पर लागू किया जा सकता है। महान वृतान्तों में अनुपयुक्त लगने वाली बातों को छोड़ दिया जाता है, जबकि अनुपयुक्त लगने वाली बातों के प्रति भी हमें संवेदनशील होना चाहिए। इस प्रकार ल्योतार विखण्डन अर्थात् स्थानीयता के पक्षधर हैं। जॉ बोड्रिलार्ड संचार माध्यमों की सुविधा के कारण वस्तुओं की मौलिकता को नकारकर उन्हें प्रतिकृति (Simulacrum) कहते हैं।

‘सिर्फ मूर्ख ही कह सकते हैं कि उत्तर आधुनिकता में साहित्य नहीं बचेगा। वह बचेगा लेकिन रूप बदलकर। वह संस्कृति उद्योग का हिस्सा होकर बचेगा और खूब बचेगा। साहित्य से उसकी गलतफहमी दूर कर दी जाएगी। लेखक होंगे लेकिन पेशेवर होंगे। अपने फन में माहिर लोग ही टिकेंगे। यों हर आदमी कवि हो सकेगा, क्योंकि प्रिंटिंग तकनीकी सबके पास उपलब्ध होगी। लेखक होंगे लेकिन उनके किसी किस्म की मिथकीय महानता नहीं होगी। साहित्य की जातिगत, धर्मगत यहाँ तक कि कुलगोत्रगत श्रेणियाँ होंगी। वह ‘पण्य’ बनेगा। जो स्पर्धा में टिकेगा, रह जायेगा। साहित्य का चूल्हा-चौका पवित्र न रहेगा। उसमें दलित धँस जायेंगे। लेकिन वे भी महान न बन सकेंगे। स्त्रियाँ साहित्य को तय करेंगी। वे भी महान न बन सकेंगी क्योंकि महानता के ढोंग को उन्होंने ही उतारा है। साहित्य पूर्व सत्य की तरह महान नहीं होगा। उसे हर क्षण अपनी प्रासंगिकता लानी होगी। उपादेयता सिद्ध करनी होगी।’<sup>3</sup>

वर्तमान को जिन पारिभाषिक शब्दों एवं अवधारणाओं में आबद्ध किया जा रहा है वे भी सब क्षणिक ही हैं उनकी मान्यताओं के खण्डन उन्हीं की परिभाषाओं में अन्तर्निहित हैं। जब कोई एक मत संसार का कल्याण नहीं कर सकता है तब तुम्हारा यह विशेष विचार ही क्या सारी समस्याओं का निदान करा सकेगा? उत्तर आधुनिकतावादी इन विचारकों को अभी उन्हीं के देशवासियों द्वारा अस्वीकृत किया जा रहा है। भारतवर्ष के पास वैदिक साहित्य एवं ज्ञान

सम्पदा का अपार कोष है। यद्यपि हमारे यहाँ देखा गया है कि जिस मत को दुनिया में कहीं नहीं माना जाता हो या अल्पतम क्षेत्र तक ही उसका प्रसार हो भारत में उसे सर आँखों पर बिठा लिया जाता है। अतः हमें सतर्क रहने की आवश्यकता है।

तथापि जो व्यक्ति महान साहित्य पर महनीय ढंग से अथवा कोई मौलिक कार्य करेगा उसकी महत्ता कभी कम नहीं हो सकती। फिल्मकार गुलज़ार द्वारा निर्देशित धारावाहिक 'तहरीर मुंशी प्रेमचंद की' की कलात्मकता एवं पर्दे पर उकेरा गया कथा का तत्कालीन वातावरण देखते ही बनता है। किसी साहित्य का स्वर्णयुग कोई एक ही होता है सो इस अर्थ में हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग भक्ति काल के रूप में बीत ही चुका है। यह काल ही भविष्य के खण्डहर की नींव के रूप में पुनः सिद्ध होगा जिसे गुनगुनाकर कोई भी राही अपनी क्लान्ति से विश्रान्ति पा सकता है।

संदर्भ-

1 साहित्य का खुला आकाश, डॉ० विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन दिल्ली 1998 पृ० 74

2 काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन, डॉ० अजय प्रकाश एवं अन्य, समवेत कानपुर 2005, पृ०104

3 साहित्य का उत्तर काण्ड (अप्रासंगिकों का विलाप), डॉ० सुधीश पचौरी, प्रवीण प्रकाशन नई दिल्ली 1998, पृ० 42-43

'वाग्प्रवाह' अर्धवार्षिक जन-जून 2011 आइएसएसएन 09755403 में प्रकाशित

## जनसंख्या वृद्धिगत आपदा: एक विश्लेषण

भारत में जनसंख्या वृद्धि एक आपदा के रूप में देखी जा रही है। इसके पीछे क्या कारण हैं, इसका विश्लेषण करने के लिये हमें सर्वप्रथम जनसंख्या के आधारभूत आंकड़ों से परिचित होना पड़ेगा। भारत की आबादी वर्तमान जनगणना वर्ष में अद्यतन रूप में आने वाले समय में आ पायेगी, किंतु भारत की जनगणना विभाग की आधिकारिक वेबसाइट पर वर्ष 2011 की जनसंख्या के अनुमानित आंकड़े दिये गये हैं। वर्ष 2001 की जनगणना से इनकी तुलना और परिवर्तन दर को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है-

	2001	2011	परिवर्तन
जनसंख्या (मिलियन)	1028	1192	+15.9प्रतिशत
पुरुष (मिलियन)	532	619	+ 16 प्रतिशत
स्त्री (मिलियन)	496	575	+15.9प्रतिशत
18 वर्ष से अधिक (मि)	599	772	+ 28.8 प्रति0
स्त्री पुरुष अनुपात	933	932	- 1 इकाई
जनघनत्व	313	363	+ 50
0-14 (प्रतिशत)	354	291	- 6.3
15-59 (प्रतिशत)	57.7	62.6	+ 4.9
60 वर्ष से अधिक (प्रति0)	6.9	8.3	+ 1.4
निर्भरता अनुपात	734	596	- 138

भारत में पिछले पचास वर्षों के दौरान जनसंख्या ढाई गुना बढ़ गयी है। भारत की जनसंख्या को यदि विश्व के देशों की जनसंख्या की तुलना में आंका जाये तो विकसित उत्तर यूरोप, कनाडा, अमेरिका, जापान में वृद्धि लगभग शून्य या कहीं-कहीं इससे भी कम हो गयी है। यानि ऐसे देशों में जितने लोग मरते हैं उससे कम जन्म लेते हैं। जबकि भारत चीन समेत विकासशील देशों सहित संपूर्ण एशिया में यह वृद्धि दर कहीं भी शून्य को नहीं पहुंच सकी है। विश्व की लगभग 6 अरब की जनसंख्या का एक तिहाई ही विकसित देशों में बसा है। विकासशील देशों की कुल जनसंख्या का लगभग 40 प्रतिशत चीन और भारत में रहता है। इस चालीस प्रतिशत का 55 प्रतिशत भाग चीन में तो 45 प्रतिशत भाग भारत में निवास करता है।

यहां उल्लेखनीय है कि चीन ने वृद्धि दर को नियंत्रित कर लिया है, जबकि भारत में यह अभी तक संभव नहीं हो सका है। एक और विडंबनापूर्ण तथ्य है कि जनसंख्या नियंत्रण का कार्यक्रम भारत में चीन से पहले प्रारंभ हुआ था, फिर भी हमारे देश में यह समस्या दूर नहीं हो सकी है। भारत का क्षेत्रफल चीन से कम होने के बावजूद 2025 तक भारत की जनसंख्या चीन से अधिक हो जाने की आशंका है।

यह तथ्य अधिकांश लोगों की जानकारी में है कि विश्व में जहां भारत के पास कुल भूभाग का 2.4 फीसदी ही है, वहीं विश्व की 16 प्रतिशत जनसंख्या भारत में रहती है। यही नहीं, विश्व में क्षय रोग, कोढ़, अंधता, विकलांगता के 30-40 प्रतिशत शिकार भारत में ही हैं। स्पष्ट है कि भारत की जनसंख्या न सिर्फ ज़रूरत से ज़्यादा है, बल्कि जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा अनुत्पादक भी है।

भारत की 60 प्रतिशत जनसंख्या साठ वर्ष की उम्र से कम की है, लगभग 8 प्रतिशत जनसंख्या 60 वर्ष से ऊपर की है। यहां लगभग 35 प्रतिशत जनसंख्या 13 वर्ष से कम की है। जबकि सर्वाधिक ऊर्जावान, सक्रिय और उत्पादक वर्ग (18 से 35 वर्ष) लगभग 22 प्रतिशत है। पिछले साठ सालों में भारत की जनसंख्या वृद्धि में एक बड़ा फर्क यह आया है कि आज ऐसे लोगों (एक युगल) की संख्या पहले के मुकाबले कहीं कम है, जिनके 8 से लेकर 12 बच्चे होते थे। परंतु औसत उम्र बढ़ने (1950 में 28-32 वर्ष से बढ़कर दिनांक 15 फरवरी 2011 को विकिपीडिया के आंकड़ों के अनुसार 2009 में अनुमानित स्त्री 67 वर्ष, पुरुष 72 वर्ष से अधिक) और बाल मृत्यु दर में काफी कमी आने के कारण कुल जनसंख्या बढ़ गयी है। इसमें महामारियों की व्यापक पैमाने पर अनुपस्थिति ने सहयोगी कारक की भूमिका निभायी है। अनाज उत्पादन में काफी वृद्धि के कारण 1987 शताब्दी का अकाल पड़ने के बावजूद किसी को भूख से मरने नहीं दिया गया। यद्यपि व्यापक गरीबी के कारण कुपोषण और अन्य बीमारियों से मरने वाले कम नहीं हैं।

जनसंख्या स्थिरीकरण कोष की वेबसाइट पर दिनांक 14 फरवरी 2011 को देखे गये आंकड़ों के अनुसार वर्ष 2006 तक भारत की जनसंख्या का 51 प्रतिशत भाग जनन आयु वर्ग का है। यहां प्रति परिवार दो बच्चों के जन्म लेने वाले बच्चों के कारण ही जनसंख्या में लगभग 42 प्रतिशत वृद्धि होगी। इसी वर्ष के आंकड़ों के अनुसार 1880 लाख दंपत्ति या युवक-युवतियों में से मात्र 53 प्रतिशत दंपत्ति ही गर्भनिरोधक का उपयोग कर रहे हैं। गर्भ निरोधक सेवायें उपलब्ध होने के बावजूद अधिकांश व्यक्ति उनकी जानकारी और पहुंच जैसी समस्याओं के कारण उनका उपयोग नहीं कर पाते। इस स्थिति में सुधार लाने के लिये विशेष प्रयासों की आवश्यकता है और विशेषतः उन क्षेत्रों में जहां इस दिशा में कम कार्य किया गया है।

भारत की जनसंख्या का एक और महत्वपूर्ण पहलू यह है कि अनपढ़, गरीब, देहाती और शहरी मलिन बस्तियों में जनसंख्या की वृद्धि दर कहीं अधिक है। देश की गैर ज़रूरी, अनुत्पादक और अल्प-उत्पादकता वाली जनसंख्या की वृद्धि में सर्वाधिक योगदान यही लोग करते हैं। परंतु सिर्फ इन्हीं को दोष देना ठीक नहीं है। अधिकतम लोगों द्वारा सीमित परिवार को स्वेच्छा से स्वीकार न कर पाने के कारण यह हालात बने हैं।

यों, जैसा कहा गया; जनसंख्या पर नियंत्रण पाने का काम चीन से पहले भारत में शुरू किया गया। पहली पंचवर्षीय योजना (1952-57) में मद के लिये अलग से धन रखा गया। दूसरी पंचवर्षीय योजना (1957-62) में केंद्र ने परिवार नियोजन (जिसे 1977 से परिवार कल्याण कहा जा रहा है) का अलग से विभाग खोला। भारत सरकार द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जन-स्वास्थ्य के क्षेत्र में जो कुछ किया गया, उसके परीक्षण की जिम्मेदारी औषधि नियंत्रक जी सी बोरकर को सौंपी गयी। इनके द्वारा तैयार रपट को 'बोरकर रिपोर्ट' कहते हैं। बाद में इसे भारत सरकार ने पुस्तकाकार भी छापा।

हिंदुस्तान टाइम्स के संपादक रह चुके पत्रकार स्व० दुर्गादास ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया फ्राम कर्जन टु नेहरू एंड आफ्टर' में अपनी 1960 की अमरीका यात्रा के दौरान बार-बार भारत की बढ़ती जनसंख्या की समस्या का उल्लेख किया है। भारत में इस मुद्दे पर गंभीरता का अभाव (जो आज भी जारी है) का एक बड़ा कारण भारत की लोकतंत्रिक व्यवस्था रही है। चीन में एक एकदलीय निरंकुशता के चलते वहां के शासकों को साक्षरता बढ़ाकर कम जनसंख्या की ज़रूरत जनता को समझाने और ज़रूरत पड़ने पर जबरदस्ती करने की छूट रही है, जो भारत के शासकों को नहीं मिली। बहुदलीय व्यवस्था में सत्तारूढ़ होने के लिये वोट चाहिये, जिसके लिये दलों में होड़ होती है। यद्यपि जोर जबरदस्ती के दुष्परिणाम भी चीन में देखे गये हैं।

भारत में जनसंख्या वृद्धि की दर तो पिछले कई वर्षों से गिर रही है, किंतु कुल जनसंख्या में वृद्धि दर जारी रहेगी; क्योंकि अभी भारत की कुल जनसंख्या का 58 प्रतिशत प्रजनन आयु वर्ग में है। भारत की कुल प्रजनन दर 3.0 है, परंतु केरल, हिमाचल प्रदेश, तमिलनाडु, गोवा, महाराष्ट्र, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश जैसे राज्यों में यह 2.1 से भी कम है। 3 या 3 से अधिक प्रजनन वाले राज्य जनसंख्या के 40 प्रतिशत भाग का प्रतिनिधित्व करते हैं। देश के कुछ राज्यों के 275 जिलों में आधी से ज्यादा जनसंख्या के तीन या तीन से अधिक बच्चे हैं। इन राज्यों को 2.1 की दर प्राप्त करने के लिये 18 से 45 वर्ष का समय लगेगा। प्रजनन दर एक महिला द्वारा अपने जीवन काल में जन्म दिये जाने वाले बच्चों की कुल संख्या दर्शाता है। यहां प्रतिवर्ष जनसंख्या स्थिरीकरण कोष वेबसाइट पर दिये गये वर्ष 2006 के आंकड़ों के अनुसार 26 मिलियन (2 करोड़ 60 लाख) बच्चे जन्म ले रहे हैं। वर्तमान स्तर पर भारत की जनसंख्या को स्थिर करने के लिये कई दशक लग सकते हैं। मातृत्व तथा शिशु मृत्यु संख्या स्तर, जो किसी भी देश के स्वास्थ्य को दर्शित करने वाले दो बिंदु हैं, जो भारत में बहुत उच्च स्तर पर हैं। किंतु विकसित देशों से यह अभी भी कम हैं। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण: एन एफ एच एस 3 के वर्ष 2005 के आंकड़ों के अनुसार संपूर्ण भारत में प्रति 1000 जीवित बच्चों में से औसतन 58 नवजातों की मृत्यु हो जाती है, जबकि विकसित देशों में यह संख्या 5 से भी कम है। नवजात शिशुओं में से लगभग आधे शिशुओं की मृत्यु जन्म के 48 घंटे के भीतर ही हो जाती है। हमारे देश में राज्यों के मध्य व्यापक विभिन्नतायें हैं। केरल राज्य में प्रति 1000 नवजात शिशु जन्म पर नवजात शिशु मृत्यु दर 15 है जबकि उत्तर प्रदेश में यह 73 है। नवजात शिशुओं की मृत्यु के लगभग 40 प्रतिशत भाग को साधारण व स्थानीय समाधानों से रोका जा सकता है। साक्षरता एवं जनसंख्या वृद्धि से संबंधित सभी आंकड़ों में यह अंतर देखा जाता है। वैध प्रावधानों के बावजूद भारत में 44 प्रतिशत लड़कियों का विवाह 18 वर्ष से भी कम उम्र में हो जाता है। यह विवाहितायें शीघ्र ही मातायें भी बन जाती हैं। बेटे की सशक्त इच्छा होने के कारण गर्भाधान के बीच का अंतर बढ़ाने वाली विधियों को नहीं अपनाते। बेटे के जन्म को प्राथमिकता देने से अवांछित कन्या भ्रूण गर्भपात भी हो रहा है, जिससे बालक तथा बालिकाओं की संख्या में असंतुलन पैदा हो गया है। यह जानना रोचक ही नहीं नीति निर्माताओं के लिये सोचनीय भी है कि भारतीय राज्यों की जनसंख्या कई बड़े देशों के समान है। इनमें से कुछ राज्यों की दुनिया के देशों से तुलना इस प्रकार हैं-

राज्य	जनसंख्या (मिलियन में)	देश	जनसंख्या(मि० मे०)
1. उत्तर प्रदेश	166	ब्राजील	176
2. महाराष्ट्र	97	मेक्सिको	102
3. बिहार	83	जर्मनी	82

4. पश्चिम बंगाल	80	वियतनाम	80
5. आंध्र प्रदेश	76	फिलीपींस	79
6. तमिलनाडु	62	थाइलैंड	62
7. मध्य प्रदेश	60	फ्रांस	60
8. राजस्थान	56	इटली	57
9. कर्नाटक	53	कॉंगो	51
10. गुजरात	51	यूक्रेन	49
11. उड़ीसा	37	अर्जेंटीना	38
12. केरल	32	कनाडा	31
13. झारखंड	27	पेरू	27
14. असम	27	उजबेकिस्तान	26
15. पंजाब	24	युगांडा	25
16. हरियाणा	21	रूमानिया	22
17. छत्तीसगढ़	21	घाना	20
18. दिल्ली	14	कंबोडिया	14
19. जम्मू एवं कश्मीर	10	बेल्जियम	10
20. उत्तराखंड	8	ऑस्ट्रिया	8

स्रोत: भारत की जनगणना, 2001

एक अन्य पहलू यह भी है कि गैर हिंदी भाषी दक्षिणी राज्यों के मुकाबले, हिंदी भाषी उत्तर भारतीय राज्यों में कम साक्षरता, अधिक गरीबी, अधिक पिछड़ापन के साथ अधिक जनसंख्या वृद्धि दर है। जनसंख्याशास्त्री प्रो० आशीष



बोस ने इन्हें 'बिमारू' (बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान) कहा है। राजस्थान को छोड़कर बाकी तीन राज्यों से विभाजित होकर और तीन राज्य भी इनमें जुड़ चुके हैं। जनसंख्या नियंत्रण कहें या सीमित परिवार, इसकी आवश्यकता के प्रति ज़रूरी नीति-निर्माण एवं कार्यान्वयन में राजनीतिक निष्ठा का अभाव सबसे बड़ी समस्या है। देश के पास अब एक राष्ट्रीय जनसंख्या नीति भी क्रियान्वित हो चुकी है, जिसके परिणामों की प्रतीक्षा वर्तमान में चल रही जनगणना के आने वाले निष्कर्षों से पूरी होगी।

देश में विकास के सारे लाभ बढ़ती जनसंख्या चट कर रही है। रही-सही कसर भ्रष्टाचार पूरी कर देता है। एक सौ बीस अरब की ऐसी जनसंख्या का क्या लाभ, जो निरक्षरता, गरीबी और कुपोषण में जकड़ी रहे। भारत की जनसंख्या का एक तिहाई हिस्सा 18 वर्ष से कम उम्र का है। हमारे पास विश्व की सर्वाधिक युवा जनसंख्या है, किंतु इस जनसंख्या का तब तक कोई लाभांश नहीं है, जब तक वह शिक्षित और स्वस्थ न हो। केंद्र सरकार द्वारा जनसंख्या स्थिरीकरण कोष बन चुका है, जो सीमित परिवार का उद्देश्य लोगों को समझाने की चेष्टा कर रहा है, किंतु सरकारी नीति तभी असर कारी हो पाती है, जब उसमें 'अ' सरकारी लोगों का भी योगदान हो। जनसंख्या स्थिरीकरण की नीति की सफलता तय करने के हिसाब से ही सरकार की रोजगार, विकास, निवेश-कर्ज-अनुदान आदि की नीतियां बनायी जानी चाहिये। यह कार्य जनसंख्या नियंत्रण के कुछ भागफल तय करके किया जा सकता है। भागफल आयु, शिक्षा, बुद्धि-लब्धांक (आई क्यू) वगैरह के हो सकते हैं। हमने लड़के और लड़कियों के विवाह की न्यूनतम आयु तो तय की है, पर यह तय नहीं किया कि मां-बाप बनने की न्यूनतम और अधिकतम भी उम्र क्या होनी चाहिये। विवाह की न्यूनतम उम्र के कानून का पालन इतना लचर है कि ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी अधिकतम विवाह निर्धारित उम्र से पहले ही हो जाते हैं। हर साल अकेले राजस्थान में आखा-तीज के दिन सैकड़ों ही नहीं, हजारों की संख्या के निकट बाल-विवाह होते हैं। जो लोग बाल-मजदूरी को समाप्त करना चाहते हैं, वे बाल-विवाह के मुद्दे पर चुप्पी साधे रहते हैं?

इसी में एक पेंच यह भी है कि विवाह से पहले ही अगर कोई मां बाप बन जाये तो कानून क्या कहता है? कुछ वर्ष पहले चेन्नई उच्च न्यायालय ने विवाह पूर्व ही एक लड़की को मां बनने की इजाज़त दे दी, जबकि वह 19 वर्ष से कम उम्र की थी। लिव-इन रिलेशनशिप से पैदा हुये बच्चों के अधिकार के सवाल भी खड़े हो रहे हैं। इसी तरह संतानोत्पत्ति की अधिकतम उम्र तय की जाये। बेहतर सामाजिक स्वास्थ्य का तकाजा यह है कि 35 वर्ष से ऊपर मां बनने की और 40 वर्ष से ऊपर पिता बनने पर रोक लगाई जाये। अगर कोई किसी कारण संतान चाहता है तो वह गोद ले सकते हैं।

शिक्षा का पहलू लें। साक्षरता जनसंख्या नियंत्रण में महती भूमिका निभाती है। रोहतक (हरियाणा) बालिका भ्रूण हत्या के मामले में देश में सबसे आगे है और चंडीगढ़ में स्त्री-पुरुष अनुपात सबसे अधिक असंतुलित है। जनसंख्या परिदृश्य की विदूरपता यह है कि एक ओर शिक्षा पर व्यय कम किया जाता है तो दूसरी ओर (महिलायें खासकर) अधिक बच्चे पैदा करते हैं। जो पैदा हो चुके हैं, उन्हीं को शिक्षा, स्वास्थ्य, कपड़ा, दवा, रोजगार, मकान उपलब्ध कराना टेढ़ी खीर हो गया है। इनकी प्राप्ति के लिये संघर्षरत लोगों की संख्या बढ़ाने को क्या कहा जायेगा। इसलिये जनसंख्या के मुद्दे पर भावुकता के बजाय कठोर वास्तविकता के धरातल पर सोचा जाना चाहिये।

शिक्षा, महिला साक्षरता, प्रजनन स्वास्थ्य सेवाओं का प्रावधान तथा पोषण केरल तथा तमिलनाडु में कुल प्रजनन दर भारत के लिये आदर्श है। देश के अन्य राज्यों को इनसे उदाहरण लेते हुये सबक लेने चाहिये। इसके साथ ही हमें दहेज समस्या का निदान, विवाह में हो रहीं फिजूलखर्ची की भर्त्सना, महिला स्वावलंबन एवं सशक्तीकरण, स्त्रियों की पैतृक संपत्ति में हिस्सेदारी, अन्याय एवं अनीतिपूर्वक कमा रहे/चुके लोगों का अघोषित बहिष्कार जैसे समाधानों की ओर भी बढ़ना श्रेयस्कर होगा। दहेज देना यदि प्रारंभ में नहीं रुक रहा है, लेना तो रोक सकते हैं, कितने व्यक्ति इसके लिये तैयार होेंगे। हमें अपने अंतर्मन में झांकना होगा। किसी समस्या का समाधान सबसे पहले स्वयं द्वारा की गयी पहल से ही शुरू होगा।

आपदा विश्लेषण: प्राकृतिक आपदा बनाम मानवीय प्रबंधन, संपादक डॉ वीरेंद्रसिंह यादव ओमेगा प्रकाशन 2011  
आइएसबीएन 9788184553017 में प्रकाशित

## भारतीय परंपरा और स्त्री चेतना - परिवेश 19वीं शताब्दी, परिप्रेक्ष्य

### ‘कई चांद थे सरे आसमां’

स्त्री चेतना समकालीन हिंदी लेखन की केंद्रीय विषय-वस्तु है। जबकि इस विषय पर प्रचुरता से लिखा जा रहा है, तब इसमें पिष्टपेषण न हो और नए संदर्भों में बात की जाए, ऐसी रचनाओं पर पाठकों की दृष्टि गड़ना स्वाभाविक है। यहां बात एक ऐसी ही रचना की हो रही है, जिसका प्रथम संस्करण 2010 में हिंदी में पेंगुइन बुक्स इंडिया द्वारा प्रकाशित हुआ है। उपन्यास के रूप में यह रचना शम्सुर्रहमान फ़ारुकी द्वारा उर्दू में की गई, जो नरेश ‘नदीम’ द्वारा हिंदी में रूपांतरित होकर आई है। शम्सुर्रहमान फ़ारुकी ने मूलतः यह विशालकाय उपन्यास उर्दू में लिखा, जिसे अंग्रेजी में भी उन्होंने ही ‘द मिरर आफ ब्यूटी’ के नाम से पुनर्सृजित किया। फ़ारुकीजी भारतीय डाक विभाग से अवकाश प्राप्त अधिकारी हैं। 15 जनवरी 1935 को जन्मे शम्सुर्रहमान फ़ारुकी को उर्दू साहित्य का टी एस इलियट कहा जाता है। वे उर्दू के शीर्षस्थ आलोचक हैं। आजमगढ़ के मूल निवासी फ़ारुकीजी इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम ए हैं। उन्होंने उर्दू की ‘शबखून’ मासिक पत्रिका का 40 वर्षों तक संपादन किया। उन्हें 1986 में उर्दू आलोचना के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार मिल चुका है। वह पेंसिलवेनिया विश्वविद्यालय के दक्षिण एशिया क्षेत्रीय अध्ययन केंद्र में अंशकालिक प्रोफेसर रहे। मीर तक़ी ‘मीर’ के बारे में आपकी चार भागों में प्रकाशित पुस्तक ‘शेर-ए-शोर-अंगेज़’ को 1996 में उपमहाद्वीप के सबसे बड़े साहित्यिक पुरस्कार ‘सरस्वती’ पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। पद्मश्री फ़ारुकीजी को अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से डी लिट् की मानद उपाधि प्राप्त हुई। यही नहीं आपको पाकिस्तान का तीसरा सबसे बड़ा पुरस्कार ‘सितारा-ए-इम्तियाज़’ भी प्राप्त हुआ।

फ़ारुकीजी का हिंदी रूपांतरित उपन्यास ‘कई चांद थे सरे आसमां’ 748 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। इस उपन्यास में उन्होंने भारतीय परंपरा की विविध विशेषताओं को विवरण शैली में लिपिबद्ध किया है। उन्होंने 18वीं-19वीं शताब्दी के भारत में संगीत, चित्रकारी, शिल्पकारी, बुनकरी, भाषा-विज्ञान एवं साहित्य की विविधवर्णों प्रचलित परंपराओं को सामने लाती हुई ग़ालिब, जौक़, दाग़ जैसे नामचीन शायरों की शायरी से सजी कथा को विस्तार से अपने उपन्यास में रखा है। इस उपन्यास में एक जगह फ़ारुकीजी लिखते हैं कि आज के लोग बहुत कुछ भूलते जा रहे हैं, कदाचित् इसीलिए वह विस्तार से वर्णन करते हुए उपन्यास में उपस्थित हुए हैं। इस कथा में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक चेतना का सुंदर संगुंफन हुआ है, किंतु कथा में वर्णनाधिक्य के कारण कहीं-कहीं पुनरावृत्ति हो गई है। जब वह उर्दू के ललित गद्य में हिंदी बोलियों का समाहार करते हुए लिखते हैं तो पाठक कथा

के साथ-साथ नायाब गद्य से रूबरू होता हुआ चलता है। उपन्यास में आए हिंदी-उर्दू के प्रचलित मुहावरे और प्रसंगवश आए कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति करते हुए उपन्यास की कथा बुनी गई है। उपन्यास में 50 वर्षों की कथा का क्षेत्र राजपूताना से लेकर कश्मीर, लाहौर, फ़र्रुखाबाद एवं दिल्ली तक फैला हुआ है। कथा का समय मुगल काल के पतन और ईस्ट इंडिया कंपनी के मजबूत होने के संक्रमण काल तक फैला हुआ है। यह कथा केवल काल्पनिकता की उड़ान नहीं भरती, वरन् यह समसामयिक विमर्शों में से एक स्त्रीवादी लेखन में छाए हुए स्त्री प्रश्नों को लेकर ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से पाठक के सम्मुख उपस्थित होती है। उपन्यास की कथा नायिका प्रधान है। कथा नायिका वज़ीर खानम विलक्षण सौंदर्य की धनी एवं सुरुचि साहित्य संपन्न है। उपन्यास की यह प्रधान पात्र वस्तुतः प्रसिद्ध उर्दू शायर दाग देहलवी की मां थी। वज़ीर के पूर्वज किशनगढ़ राजपूताना में रहते थे, जहां से उसके पूर्वजों में से मियां मख्सूसुल्ला बडगाम कश्मीर चले गए थे। मियां मख्सूसुल्लाह मुसलमान थे या हिंदू, कथाकार के लिए यह कहना मुश्किल था। मियां के दो पौत्र दाऊद और याकूब फ़र्रुखाबाद और दिल्ली आकर बस गए और जेवर बनाने का काम करने लगे लेकिन ये भाई मराठा फ़ौज के साथ लड़ाई में कहीं खो गए। इनका एक बेटा यूसुफ बचा रहा, जिसका विवाह अकबरी बाई की बेटी असगरी से हुआ। मुगलों का सूर्य अवसान पर था और दिल्ली में ईस्ट इंडिया कंपनी अपने पैर पसार चुकी थी, तब 1811 ई में तीसरी और सबसे छोटी बेटी के रूप में इन्हीं मुहम्मद यूसुफ नाम के सुनार के यहां वज़ीर खानम का जन्म हुआ। कथाकार इस उपन्यास को किसी कथा से अधिक इतिहासकार की भांति कथा का आरंभ करता है। फ़ारुकीजी लिखते हैं 'पर्दानशीन मुसलमान लड़की जो बज़ाहिर कहीं कस्बन (गणिका) या पेशेवर नचनी न थी, किस तरह और क्यों एक अंग्रेज के अधिकार तक पहुंची, इसके बारे किसी लिखित परंपरा या किसी चश्मदीद गवाह के बयान की बुनियाद पर तैयार किया हुआ ब्योरा नहीं मिलता।' 1 वज़ीर खानम अपने जीवन में अपनी इच्छा और शर्तों से विवाह अथवा बिना विवाह किए हुए वर्तमान में चल रहे लिवइनरिलेशनशिप की तरह चार पुरुषों के साथ रही और चारों असमय कालकवलित हो गए। सर्वप्रथम वह एक अंग्रेज अधिकारी मार्स्टन ब्लेक के साथ रही, जिससे उसके दो बच्चे हुए। 'ज़्यादा संभावना यह है कि मार्स्टन ब्लेक उनकी ज़िंदगी में पहला मर्द था और उससे वज़ीर खानम की मुलाकात देहली में हुई।' वज़ीर के पिता और बड़ी बहिन स्वतंत्र विचारों के कारण उससे रुष्ट रहते, पर वह ब्लेक के साथ जयपुर में बिना विवाह किए रहकर दो बच्चों की मां बनी। वहां महाराजा की हत्या के संदेह में भीड़ ने ब्लेक को मार दिया। बच्चों को ब्लेक की बहिन ने वज़ीर को नहीं दिया। वज़ीर जयपुर से दिल्ली आ गई। उसका दूसरा साहचर्य उर्दू के प्रतिष्ठित साहित्यकार मिर्जा ग़ालिब के निकट संबंधी नवाब शमसुद्दीन अहमद खां से हुआ। वज़ीर नवाब के साथ विवाह करते हुए रही। उपन्यासकार ने जगह-जगह कथा में पात्रों द्वारा और कथा-वर्णन में संगीत की विविध राग-रागिनियों का नामोल्लेख करते हुए श 'र और पद उद्धृत किए हैं। वह बड़ी बारीकी और विस्तार से वर्णनपरक कथा बुनते हुए कहता है 'तालीम को समझना उसे ईजाद करने से कुछ ही कम बारीकी मांगता है।' 2 फ़ारुकीजी शिक्षा को बहुआयामी बनाने पर ज़ोर देते हैं, वे कहते हैं 'तालीमनवीस को शायर, मुसव्विर, नर्तक, गायक सब कुछ होना चाहिए।' शिक्षा के विविध स्वरूप हैं, किसी भी क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है। वह एक

पात्र से कहलवाते हैं 'क्या तुम जानते हो कि जो सुन नहीं सकता, वह ज़्यादा अच्छा देख सकता है? लेकिन जो सुन नहीं सकता वह बोल नहीं सकता? और जो बोल नहीं सकता वह गा नहीं सकता, लेकिन वह नाच सकता है?'<sup>3</sup>

उपन्यास में आशा-निराशा, प्रगतिशीलता और नारी संवेदना का प्रभावशाली अंकन ललित गद्य में किया गया है। उपन्यास में दृष्टव्य है कि ऊंचे दर्जे की कारीगरी विविध क्षेत्रों में उस समय देश में होती थी और उन सबका समाज में सम्मान था। आशावाद का एक उदाहरण दृष्टव्य है 'ज़िंदगी के समंदर की लहरें हर जगह मोती बिखेरती हैं और इन आबदार मोतियों को मुट्टियों को बटोर लेने वाले हुनरमंद नक्काश भी हर जगह हैं।' निराशा - 'शायरी जितनी मीठी और सजिल, ज़िंदगी उतनी ही कड़वी और कठिन है।' उपन्यास में हिंदू और मुस्लिम संस्कृति का पार्थक्य नहीं है। सर्वत्र हिंदुस्तानी संस्कृति में पात्र रचे-बसे हैं। मुस्लिमों के साफ-सुथरे रहन-सहन से हिंदू तो हिंदुओं के देवी-देवताओं का प्रभाव मुस्लिमों पर हुआ दिखाया गया है। उपन्यास में फ़र्रुखाबाद के मुसलमान रस्मों और आदतों में हिंदुओं के बहुत करीब थे। हबीबा के एक भाई को सीतला मां अपनी गोद में चिरनिद्रा में सुला लेती है। उपन्यास में चित्रित प्रगतिशीलता याक़ूब के इस कथन में दृष्टव्य है 'इन लड़कियों पर तुम्हारा कोई हक नहीं। ये बालिग हैं और अपनी मर्ज़ी की मालिक। तुम इन्हें अपनी हवस का शिकार बनाकर कोठे पर बेचना चाहते हो तो यह हम न होने देंगे।' 4 दिल्ली में अपनी सबसे बड़ी बहिन द्वारा विवाह करने की बात पर वज़ीर कहती है '...बच्चे पैदा करें, शौहर और सास की जूतियां खाएं, चूल्हे-चक्की में जल-पिसकर वक्त से पहले बूढ़ी हो जाएं।' 5 वज़ीर की बाज़ी कहती है 'जबसे दुनिया बनी है औरतें इन्हीं कामों में लगाई गई हैं। एक शरीफ़ाना राह है, एक कमीनों की राह है।' वज़ीर जवाब देती है 'बस भी करो ये शरीफ़ों, कमीनों की बातें। मर्द कुछ भी करते फिरें, उन्हें कोई कुछ भी न कहे और हम औरतें ज़रा ऊंचे सुर में भी बोल दें तो खैला छयांसी कहलाएं।' बाज़ी द्वारा महिलाओं का शर्म, हया, ममता, कुर्बानी देने का वास्ता देने पर वज़ीर कहती है 'मेरी सूरत अच्छी है, मेरा ज़हन तेज है, मेरे हाथ-पांव सही हैं। मैं किसी मर्द से कम हूँ? जिस अल्लाह ने मुझमें ये सब बातें जमा कीं, उसको कब गवारा होगा कि मैं अपनी काबिलियत से कुछ काम न लूँ, बस चुपचाप मर्दों की हवस पर भेंट चढ़ा दी जाऊँ?'

स्त्री और पुरुष के शाश्वत संबंधों को लेकर हुई बातचीत में उपन्यासकार कई प्रश्नों को उठाता है और उनके उत्तरों को खोजने का प्रयास करता है। पुरुष के लिए स्त्री इज़ज़त है और स्त्री के लिए पुरुष वारिस, लेकिन वारिस बनाने के लिए विवाह कहां आवश्यक है। इन शाश्वत सामाजिक प्रश्नों की कथाकार ने उपेक्षा नहीं की है। वज़ीर और उसकी बाज़ी में हुए वार्तालाप में आखिरकार चिढ़ते हुए वज़ीर अपना निर्णय देती है 'मुझे जो मर्द चाहेगा उसे चखूंगी; पसंद आएगा तो रखूंगी नहीं तो निकाल बाहर करूंगी।' 6 इसके बाद वह ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारी मास्टन ब्लेक के साथ रहने लगती है। वज़ीर के एक अंग्रेज के साथ के अनुभवों का वर्णन इस प्रसंग में हुआ है। पुरुषों के बारे में आमधारणा होती है कि उन्हें अपनी इच्छा सर्वोपरि होती है, किंतु किसी स्त्री की इच्छा और सुविधा का ध्यान रखने में अंग्रेज हिंदुस्तानियों से कहीं आगे हैं। ब्लेक के साथ रहकर वज़ीर में खुलापन आ जाता है, वह ब्लेक के साथ एक ही

थाली में भोजन करती है। हिंदुस्तानी पुरुष जहां स्त्री से माफी मांगने में अपना अनादर मानते हैं, वहीं जब ब्लेक वज़ीर से अम सारे रे (आइ एम सारी) कहता तो वज़ीर को बहुत भला लगता। कथाकार ने इसी प्रसंग में कई शब्दों का अंग्रेज उच्चारण दिया है।

वज़ीर अपने बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देते हुए अपनी शर्तों पर ब्लेक का घर छोड़ देती है। जयपुर से दिल्ली आकर वह सन् 1830 में विलियम फ्रेजर के यहां एक कवि सम्मेलन में जाती है। वहां देखकर फ्रेजर वज़ीर पर आसक्त हो जाता है, किंतु वज़ीर उसके लिए उदासीन है, जिससे फ्रेजर नाराज़ हो जाता है किंतु वज़ीर को इसकी परवाह नहीं। वह कहती है 'वो अंखमुंदी और होंगी जो दो वक्त की रोटी पर आबरू बेच देती हैं।' इसी कवि सम्मेलन में मौजूद मिर्जा ग़ालिब के रिश्तेदार नवाब अहमद खां से वज़ीर विवाह कर लेती है। वज़ीर और नवाब का शायराना संवाद चलता रहता है। नज़ाकत और नफ़ासत भरे वातावरण में दोनों की ज़िंदगी बसर हो रही होती है। मुगलकालीन स्त्री की स्वतंत्रता और आत्मसम्मान का जो ध्यान इस कथा में देखा गया, वह विरल है। वज़ीर सोचती है 'मुझे जो मर्द चाहेगा कोई ज़रूरी नहीं कि मैं भी उसे चाहूं। उपन्यास में जगह-जगह सुने हुए किंतु अबूझ से शब्दों के अर्थ उपन्यासकार ने खोले हैं जैसे लनक्लॉट अंग्रेजी के लॉग कलाथ का भाषारूप है।

हिंदुस्तानी और अंग्रेजी परंपरा के अंतर को उपन्यास में रेखांकित किया गया है। अंग्रेज नज़रें झुकाकर बात करने वालों को दगाबाज़ या बेईमान समझते हैं, वहीं हिंदी तहज़ीब में बड़ों से, अजनबियों से, करीबी अज़ीज़ों से आंख मिलाकर बात करने को असभ्य कहा जाता है। अंग्रेज पुरुष-स्त्री जहां कभी-कभी स्नानागार में एक साथ स्नान कर लेते हैं लेकिन हिंदुस्तानी परंपरा में यह ऐब है। अंग्रेज अपने नौकरों का कभी शुक्रिया अदा नहीं करते, जबकि हिंदुस्तानियों में पुराने नौकरों का शुक्रिया; बल्कि उनके पूरे सम्मान की रस्म हुआ करती थी। नवाब शम्सुद्दीन और वज़ीर के हमबिस्तरी प्रसंग में कथाकार ने हिंदुस्तानियों और अंग्रेजों के तौर-तरीकों को अलग-अलग दिखाया है। फ़ारुकीजी कामक्रिया के अंग-प्रत्यंगों का बिना सनसनी पैदा किए ऐसा बारीक वर्णन करते हैं कि पाठक के सामने समूचा दृश्य चित्र उपस्थित हो उठता है। दर्शक कैमरे से निकले फोटो और वीडियो के दृश्यों को तो ओझल कर सकता है, पर इन वर्णनों को पढ़ने में पाठक तनिक भी बेखयाल नहीं होता। नवाब साहब से वज़ीर के दैहिक संबंध बनाने के बाद ही साथ रहने संबंधी भविष्य की योजनाएं तय होती हैं। वज़ीर खानम से नवाब साहब का एक पुत्र 25 मई 1831 को पैदा हुआ, जिसे नवाब मिर्जा नाम दिया गया और जो बाद में वास्तविक रूप में दाग देहलवी के नाम से प्रसिद्ध शायर हुए।

विलियम फ्रेजर वज़ीर पर बुरी निगाह रखता, वह उसे बाज़ारू औरत समझता था। इससे नाराज़ होकर नवाब ने उसका क़त्ल करा दिया। इस अपराध में नवाब को फांसी दे दी जाती है।

स्त्री जीवन की विडंबना और विवशता तथा पारंपरिक छबि के बरक्स कथाकार ने वज़ीर के रूप में उसकी मज़बूती, स्वनिर्णय और आत्मनिर्भरता में चित्रित किया है। खालिस अरबी-फारसी के शेरों का अर्थ उपन्यास में जगह-जगह दिया गया है, फिर भी अनेक शब्दों का अर्थ पाठक को खोजना पड़ता है। इसका आशय है कि पाठक को हिंदुस्तानी शब्दों से सामान्यतः परिचित होना ही चाहिए। भाषा की रवानगी उपन्यास से जाती न रहे, शायद अनुवादक नरेश 'नदीम' ने इसीलिए मूल गद्य से छेड़खानी उचित न समझी हो।

विलियम फ्रेजर की हत्या होने के प्रसंग में फ़ारुकीजी बंदूकों का वर्णन करने लगते हैं। बंदूकों की कील और पुर्जों का वर्णन वे ऐसे करते हैं जैसे कोई आयुध निर्माणी कार्यशाला से होकर आए हों। संक्षिप्ताक्षरों का विस्तार करते हैं यथा डीबीबीएल का पूरा रूप है डबल बैरल्ड ब्रीच लोडिंग। हिंदी में जिसे दोनाली, कराबीन या रिफल या दोगाड़ा कहते थे। बेधरमी इसे अंग्रेजो द्वारा भारत लाए जाने के कारण कहा गया। 'भरमारू' बंदूक में बारूद और गोली नाली की राह से भरी जाती थी। कराबीन फ्रांसीसी बंदूक थी, जिसे अंग्रेजी और फ्रेंच में कारबाइन कहा जाता है। इन हथियारों को चलाने और उनकी मारक क्षमता सहित अन्य गुण-दोषों का वर्णन कथाकार ने इस प्रसंग में किया है। जिस करीमखां से नवाब शमसुद्दीन ने विलियम फ्रेजर की हत्या करवाई, उसे अंग्रेजों ने थर्ड डिग्री दी, फिर भी करीमखां ने शमसुद्दीन का नाम नहीं लिया। यद्यपि अंग्रेजों की अदालत ने 26 वर्षीय शमसुद्दीन अहमद को फांसी की सज़ा दे दी।

वज़ीर खानम एक बार फिर विधवा हो गई। वह सोचती है यह दुनिया पुरुष की दासी और स्त्री की शत्रु है। यह ऐसा भंवरजाल है जिससे निकल पाना असंभव है। इस निराशा के बीच उसकी मंझली बाज़ी उम्दा खानम उसको शिया समुदाय के आगा मिर्जा तुराब अली के साथ रखना चाहती है। इस प्रसंग में उम्दा का वज़ीर के साथ जो संवाद चलता है, वह स्त्री चेतना को मज़बूत तर्कों के साथ पाठक के सामने लाता है। वज़ीर, मंझली बाज़ी, जहांगीरा बेगम और आगा साहब की इच्छा और शर्तों से नहीं, अपितु वह किस मिर्जाज के हैं और नवाब मिर्जा के लाड़-प्यार में कमी तो न रखेंगे की आशंकाओं को दूर कर लेना चाहती है। आगा शिया हैं और वज़ीर सुन्नी। वज़ीर आगा से होने वाली संतान को अपने रंग-ढंग से पालने की शर्त लगाती है। वज़ीर का मानना है कि दुनिया में प्यार स्त्री के लिए ही है। पुरुष चाहे जाने से अधिक उसके अहसास की दीवाने हैं। प्रेम की कसौटी स्त्री द्वारा पुरुष में चाहे जाने का अहसास पैदा करना है। उम्दा द्वारा स्त्री को पुरुष के शरीर की चादर, सर के ऊपर की छत और बुढ़ापे का सहारा बताने पर वज़ीर कहती है 'अब तक मुझे मर्दों से कौन सा सहारा मिला है कि अब मिल जाएगा।' वज़ीर अपनी बहिन, पति और रिश्तेदारों की सलाह और इच्छा से नहीं, वरन् अपने पुत्र की सुविधा और भविष्य का ध्यान रखती है, पर पुत्र की भी हिम्मत नहीं कि वज़ीर के आगामी जीवन का वह निर्णय करे, वह अपनी मां को उसके जीवन के बारे में कोई निर्णय देने में अपने को समर्थ नहीं पाता। इस तरह की राय मां से व्यक्त करने में ही एक प्रसिद्ध शायर दाग़ देहलवी चकरा जाते हैं। वज़ीर कहती है मेरी जगह यदि तुम्हारे पिता होते तो तुम क्या उन्हें सलाह देते? तुम यह निर्णय कैसे निकाल सकते हो कि मेरी समस्या का समाधान करना तुम्हारा कर्तव्य है? वज़ीर किसी दलील की मोहताज नहीं होती। अंतिम निर्णय वज़ीर का ही होता है। वज़ीर अपना पुनर्विवाह आगा से अपनी शर्तों पर करती है, जिससे 1843 में एक पुत्र का जन्म हुआ। इसके बाद

आगा मिर्जा तुराब अली सोनपुर में ठगों द्वारा मार दिए जाते हैं। ठगों में हिंदू मुस्लिम दोनों शामिल थे और सभी एक विशेष बोली 'रमासी' का प्रयोग करते। वे जय देवीमाई के भक्त थे। वज़ीर जब आगा के निधन के बाद तीसरी बार वैधव्य को प्राप्त हुई, तब कथित शरीफ घरानों की बेटियों के हिसाब से उसके विवाह की आयु निकल चुकी थी।

वज़ीर जानती है कि वह बदनाम है, लेकिन उसने अपनी स्वतंत्रता से कोई समझौता नहीं किया। वह अपने भाग्य को कोसती है कि मुझे ऊपर वाले ने क्या बच्चे पैदा करके और उनसे बिछुड़ने के लिए ही भेजा है। वह अपने शायर बेटे से कहती है 'मर्द जात समझती है कि सारी दुनिया के भेद और तमाम दिलों के छुपे कोने उस पर ज़ाहिर हैं, या अगर नहीं भी हैं तो न सही लेकिन वह सबके लिए फैसला करने का हकदार है। मर्द ख्याल करता है कि औरतें उसी ढंग और मिज़ाज की होती हैं जैसा उसने अपने दिल में, अपनी बेहतर अकल और समझ के बल पर गुमान कर रखा है...।' 7 वज़ीर का पुत्र नवाब मिर्जा शरीअत का हवाला देकर कहता है कि मर्द औरत से बरतर (श्रेष्ठ) है। वज़ीर पुरज़ोर मुखालफत करती हुई कहती है 'आपकी किताबों के लेखक सब मर्द, आपके काजी, मुफ्ती-बुजुर्ग भी कौन, सबके सब मर्द! मैं शरई हैसियत नहीं जानती, लेकिन मुझे बाबा फ़रीद साहब की बात याद है कि जब जंगल में शेर सामने आता है तो कोई यह नहीं पूछता कि शेर है या शेरनी। आखिर हज़रत राबिया बसरी भी तो औरत थीं।' 8 उपन्यास की पूरी कथा इस प्रश्न का उत्तर खोजने में बुनी गई है कि पुरुष क्या है और स्त्री क्या है। उपन्यासकार चाहता है कि स्त्रियां मजबूरी से बाहर निकलें और स्वतंत्र होकर अपने फैसले लेकर समृद्ध और सशक्त बनें। दुनिया की वास्तविकता से कथाकार बाखबर है कि 'दुनिया सँवाला वालों के आगे खुद-ब-खुद झुकती है और कमज़ोरों, खासकर वह औरतों को वह कभी माफ नहीं करती।' 9 वज़ीर भले ही बदनाम हो कि जिसने चार पैसे दिखाए उसी की हो रहीं किंतु उसका दरवाज़ा किसी के लिए खुला नहीं होता, वह एक बार ऐसा कहते हुए नवाब जियाउद्दीन अहमद को झिड़क देती है।

वज़ीर की चौथी शादी की बात मिर्जा फ़तहुल मुल्क बहादुर से चलती है तो वज़ीर डरती है कि बार-बार चार दिन की खुशी के बाद मुद्दतों रोना पड़ता है, किंतु फिर वह सोचती है कि कभी के दिन बड़े तो कभी की रात बड़ी। इस बीच नवाब मिर्जा (दाग देहलवी) भी उम्तुल फ़ातिमा से आंखें चार कर लेते हैं। वज़ीर की शर्तों के अनुसार फ़तहुल मुल्क बहादुर उर्फ़ फ़ख़रु बहादुर वज़ीर के बेटों नवाब मिर्जा और मोहम्मद आगा को अपने साथ रखने को तैयार हो जाते हैं। ज्योतिषी विवाह की तिथि तय करते हैं और जनवरी 1845 को दोनों का विवाह हो जाता है। उपन्यास में कथाकार ने स्त्री और उसके अंतर्मन को गहराई में जाकर झांका है, स्त्री संवेदना का कदाचित् कोई कोना अछूता न रहा जहां कथाकार ने दस्तक न दी हो। मिर्जा के साथ हमबिस्तर होने पर वज़ीर सोचती है कि मर्द को सिर्फ़ अपनी गरज़ से काम है। मतलब पूरा होने के बाद वह इस बात से बेताल्लुक हो जाता था कि मेरा शरीक-बिस्तर किस हाल में है। अक्टूबर 1845 को वज़ीर ने एक बेटे खुर्शीद मिर्जा को जन्म दिया, किंतु जुलाई 1856 में वज़ीर खानम के इस चौथे पति की भी स्वास्थ्य बिगड़ने से मृत्यु हो गई। वज़ीर को क़िला छोड़ना पड़ता है। क़िले से निकलते समय वज़ीर कहती है 'हक़ क्या चीज है साहिबे-आलम? सारी ज़िंदगी में हक़ की तलाश में रही हूँ। वह पहाड़ों की किसी खोह में मिलता हो



तो मिलता हो, वरना आसमान तले तो देखा नहीं गया।’ 10 यह पंक्ति इस उपन्यास की फलश्रुति मानी जा सकती है।

उपन्यास के आभार भाग में फ़ारुकीजी ने इच्छा व्यक्त की है कि इस उपन्यास को 18वीं-19वीं सदी की हिंद-इस्लामी तहज़ीब और इंसान के साहित्यिक सांस्कृतिक सरोकारों का चित्रण समझकर पढ़ा जाए, किंतु उपन्यास के आवरण पृष्ठ पर ब्रियाना ब्लास्को द्वारा बनाए चित्र में एक सुंदर स्त्री शोभायमान है, जिससे इसकी केंद्रीय विषय-वस्तु स्वतःस्पष्ट हो जाती है। उपन्यास का शीर्षक शायर अहमद मुश्ताक के इस शेर के एक मिसरे पर रखा गया है-

कई चांद थे सरे-आसमां कि चमक-चमक के पलट गए

न लहू मेरे ही जिगर में था न तुम्हारी जुल्फ सियाह थी।

उपन्यास के अंत में उर्दू-फ़ारसी और अंग्रेजी के उन दुर्लभ ग्रंथों की सूची भी दी गई है, जिनसे उपन्यासकार ने सहायता ली है। फ़ारुकीजी ने विभिन्न शब्दकोशों का उल्लेख करते हुए उनके बीच के अंतर को रेखांकित किया है। आमतौर पर उपन्यासों में ग्रंथ-सूची नहीं दी जाती है, पर कथा की विश्वसनीयता और प्रामाणिकता के लिए फ़ारुकीजी ने ऐसा करना उचित समझा होगा। प्रसिद्ध प्रकाशन द्वारा प्रकाशित इस उपन्यास में हुई कुछ मामूली वर्तनी त्रुटियां अगले संस्करण में सुधार दी जाएंगी। सात सौ अड़तालीस पृष्ठों में फैले इस महाकाव्यात्मक उपन्यास को बहत्तर शीर्षकों में बांटा गया है। हर शीर्षक अपनी कहानी कहता है किंतु शीर्षक स्वतःपूर्ण नहीं होता और यह किसी कहानी के लिए उचित भी नहीं। उपन्यास के आवरण पृष्ठ के दोनों ओर प्रसिद्ध साहित्यकारों की टिप्पणियां प्रकाशित हैं। इसे कोई विक्रय प्रोत्साहन के लिए भी कहे, पर इससे पाठक के मन में उपन्यास को जानने की उत्कंठा हो जाती है। ओरहान पामुक ने इसे ‘अद्भुत उपन्यास’ कहा तो मोहम्मद हनीफ इसे भारतीय उपन्यासों का कोहिनूर कहते हैं। असलम फरूखी कहते हैं यह इक्कीसवीं सदी की ही नहीं, उर्दू फिक्शन की बेहतरीन किताब है, वहीं इतिज़ार हुसैन देहली की मिटती हुई बादशाहत के साए में फलने-फूलने वाली इस तहज़ीब का मंज़रनामा ग़ालिब, ज़ौक, दाग़, घनश्यामलाल आसी, इमामबख़्श सहबाई, हकीम अहसनुल्लाह खां के साथ-साथ बहादुरशाह ज़फ़र, मलिका ज़ीनतमहल और नवाब शमसुद्दीन अहमद खां जैसे बहुत से वास्तविक किरदारों से भी जगमगा रहा है। इस उपन्यास को उस सदी की हिंद-इस्लामी तहज़ीब में कौमी एकजुटता, जिंदगी, मुहब्बत और फ़न की तलाश की दास्तान कहें तो सही होगा। आलोचक और कवि अशोके वाजपेयी ने कहा है कि अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों में जीवन, समाज, साहित्य, कलाओं आदि के क्षेत्रों में व्यापक रचनात्मकता, बहुत कुछ को बचाने की इच्छा और जतन, अनेक नवाचार, समाज के कई वर्गों के बीच संवाद आदि सब बहुत सक्रिय थे। उन्होंने अपनी टिप्पणी में उपन्यास में छापी स्त्री कथा को सुंदरता से व्याख्यायित किया है और ‘सुंदर अंततः बच नहीं पाता, वह बराबर वेध्य है। उसकी भंगुरता मानो उसके होने की अनिवार्य परिणति है।’ वाजपेयीजी ने इस उपन्यास को सुंदरता की विफलता की गाथा कहा है।<sup>11</sup> इंडिया टुडे हिंदी में वरिष्ठ पद पर कार्यरत पत्रकार मनीषा पांडेय ने इस उपन्यास की प्रशंसा करते हुए लिखा है ‘हिंदी में जाने

कितने बरसों बाद एक ऐसी किताब आई जो पन्ना दर पन्ना आपको चकित करती है। यह किताब इतिहास के गलियारों में ले जाती है, भाषा के चमत्कार से चकित करती है, रुलाती है, अवसाद में डुबो देती है और मुहब्बत के सबसे बीहड़ बियावानों में अकेला भटकने के लिए छोड़ देती है। इस भटकन का सुख वहीं जानते हैं जो किताबों के संग-संग भटके हैं।<sup>12</sup> वहीं वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने इस कृति पर अपनी टिप्पणी दी कि जब कोई विद्वान रचनात्मक कृति रचता है तो अपने समय के ज्ञान को कथानक में कैसे ढालता है। हिंदी में ऐसी क्षमता हजारी प्रसाद द्विवेदी में थी।<sup>13</sup>

अंत में कहा जा सकता है कि कोई बड़ा रचनाकार अपने समय के टुकड़ा-टुकड़ा विमर्शों का समाहार और अतिक्रमण अपनी विराट कृति के सम्यक् कथानक में कैसे संभव कर दिखाता है, यह उपन्यास इसका विरल उदाहरण है जिसमें वर्तमान में प्रचलित विमर्शों पर समय और उसका अवदान भारी पड़ गया है।

संदर्भ-

1 कई चांद थे सरे-आसमां, शम्सुर्रहमान फारुकी, पृ 1 पेगुइन बुक्स इंडिया द्वितीय संस्करण 2013

2 वही, पृ 62

3 वही, पृ 66

4 वही, पृ 126

5 वही, पृ 143

6 वही, पृ 144

7 वही, पृ 559

8 वही, पृ 561

9 वही, पृ 562

10 वही, पृ 738

11 जनसंवा रविवार 17 नवंबर 2013 'कभी-कभार' से

*साहित्यिक शोध में समय, समाज और संस्कृति*

12 मनीषा पांडेय की फेसबुक वॉल पर 23 अक्टूबर 2013 को प्रकाशित पोस्ट से

13 chouthiduniya.com पर पुस्तक चर्चा 'हिंद-इस्लामी तहज़ीब का ऐतिहासिक दस्तावेज़' , 26 अप्रैल 2014 को देखा

'अक्षर वार्ता' अंतर्राष्ट्रीय जर्नल वर्ष 11 अंक 1 आइएसएसएन 23497521 में प्रकाशित

## नक्सलबाड़ी: 'भूख से तनी हुयी मुठी'

हिन्दी कविता में धूमिल ने अपने सर्वथा नये शिल्प-सौन्दर्य के माध्यम से भाव-बोध की सर्जना की है। उनकी भाषा और अभिव्यक्ति कुछ शास्त्रवादियों को खटक सकती है, किन्तु धूमिल ने अपनी कविताओं द्वारा हिन्दी साहित्य को जो नया मुहावरा दिया है, वह न पहले था और न धूमिल के बाद अब तक है।

धूमिल की कविताओं का पढ़कर यह विदित होता है कि उन्होंने व्यक्ति और उसके सरोकारों की सूक्ष्म पड़ताल की है। आदमी के अन्दर एक और आदमी और उसके दोहरेपन की उन्होंने ऐसी शल्यक्रिया है कि उसे अपनी आदमीयत का बोध सर्वदा के लिये बना रहे। धूमिल की कविता को पढ़कर पाठक मनुष्यता के प्रति सतर्क होने के लिये छटपटा जाता है, वह अपने दोहरेपन का अहसास करते हुये बेचैन हो जाता है।

धूमिल की एक कविता 'नक्सलबाड़ी' है, जो 1972 ई में प्रकाशित उनके काव्य संग्रह 'संसद से सड़क तक' में दी गयी है। इस कविता का प्रारंभ सहमति के विरोध से होता है। 'सहमति' वर्तमान युग की बड़ी समस्या है। इससे भारी क्षति हो रही है। आदमी की प्रश्नाकुलता समाप्त हो गयी है, उसका समझौतों और सहमति में विश्वास टूट जाता चला गया है। असहमति और अस्वीकार जब होंगे, स्वाभाविक है कि तभी प्रश्न होंगे; लेकिन इसके लिये हौसले की आवश्यकता होती है। विरोध का रास्ता उलझन भरा होता है, जबकि सहमति और स्वीकार में सुविधा होती है।

धूमिल की कविता 'नक्सलबाड़ी' पर विचार करने से पहले इसकी पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है। पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले का कस्बा है नक्सलबाड़ी। यह नेपाल की सीमा से सटा हुआ है। 25 मई 1967 को यहां से चारु मजूमदार और कानू सान्याल ने आदिवासियों को साथ लेकर माओवादी विचारधारा के आधार पर सशस्त्र क्रांति का बिगुल फूँका था।<sup>1</sup> वर्तमान में यह कस्बा आधुनिकता की चपेट में आ गया है। नक्सलबाड़ी में कुछ वामपंथी संगठनों के विलय के बाद सीपीआई माले का गठन हुआ था, जिसकी अगुवाई में किसान आंदोलन प्रारंभ हुआ था। यह आंदोलन भूमिसंपन्न सामंतों और बड़े किसानों से भूमि छीनकर भूमिहीन किसानों को भूमि प्रदान करने के लिये प्रारंभ किया गया। इस आंदोलन को नक्सलवादी नाम मीडिया द्वारा दिया गया है। इस पर माओवादियों को घोर आपत्ति भी रही है। कानू सान्याल का कहना था कि नक्सलबाड़ी से भले ही हमने यह आंदोलन प्रारंभ किया, लेकिन उसका कोई वाद है तो वह है मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओत्सेतुंगवाद। उनके अनुसार रूसी क्रांति को तो कोई रूसीवाद नहीं कहता। नक्सलवादी नेता चीन में सशस्त्र क्रांति द्वारा स्थापित सत्ता को आदर्श मानते हैं। चारु मजूमदार की पुस्तक 'हिस्टोरिक एट डाकुमेंट्स' से नक्सलवादी बहुत प्रभावित हैं।

नक्सलवाद अपने देश में कितना फैल चुका है। यह देखने के लिये कुछ आंकड़े देना यहां अनुपयुक्त न होगा। 2009 ई तक यह भारत के 627 जिलों में से 220 जिलों में अपने पैर पसार चुका है। इस प्रकार नक्सलवाद देश के 40 प्रतिशत भौगोलिक क्षेत्र तक अपनी व्याप्ति रखता है। 92000 वर्ग किमी के भूभाग पर इनकी हुकूमत चलती है। इनके 50000 नियमित कैडेट्स जगह-जगह अपनी उपस्थिति का अहसास कराते रहते हैं।<sup>2</sup> छत्तीसगढ़, उड़ीसा, आंध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, झारखंड, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल राज्यों में इनका कमोबेश प्रसार है। 6 अप्रैल 2010 को छत्तीसगढ़ के दंतेवाड़ा में नक्सलियों ने सीआरपीएफ के एक साथ 76 जवानों को मार दिया। यह नक्सली इतिहास में सबसे बड़ा हमला है। प्रधानमंत्री डॉ मनमोहन सिंह ने 21 अप्रैल 2010 को नक्सलवाद को देश की आंतरिक सुरक्षा का सबसे बड़ा खतरा बताया है, लेकिन पंजाब के नक्सली नेता हाकाम सिंह ने बताया था कि डॉ मनमोहन सिंह को अन्य बुद्धिजीवियों की तरह पंजाब विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहते हुये नक्सलवाद का समर्थन करने के कारण किस तरह जेल जाने से बचाया गया था।<sup>3</sup> यह एक तथ्य है कि माओवादी विचारधारा के बूते ही चीन की सरकार बनी है, जो दुनिया के सबसे ताकतवर देशों में से है। नक्सलवादियों को कुचलने के काम में लगे एक पुलिस अधिकारी का मानना है कि यह आंदोलन अब पैसों का खेल बन गया है, क्योंकि कुछ लोगों ने इसे धंधा बना लिया है। जो भी हो, इस आंदोलन के उद्देश्य की लोकहितकारिता के प्रति बुद्धिजीवियों को संशय नहीं रहा है। इसीलिये आज भी अनेक बुद्धिजीवी खुलकर इस आंदोलन का समर्थन करते हैं।

धूमिल 'नक्सलबाड़ी' में एक दूसरे प्रजातंत्र की तलाश करते हैं, क्योंकि इस जनतंत्र में जिन्दा रहने के लिये घोड़े और घास को एक जैसी छूट है। जाहिर है कि घोड़ा घास को खा जाता है। इस व्यवस्था में दायां हाथ बायें हाथ के प्रति साजिश कर रहा है। धूमिल ने इस कविता में प्रतीकों और नये मुहावरों के साथ अपनी बात बढ़ायी है। बायां हाथ प्रतीक है शोषितों का, वंचितों का, श्रमिकों-कामगारों का, जो असहाय हैं। वहीं दायां हाथ पूंजीपतियों, शोषकों और सामंतों का प्रतीक है। पूंजीपति सभ्यता का बढ़ता असमान प्रसार यही दिखाता है कि लघु किसानों की जमीनों को अधिग्रहीत करते हुये किस प्रकार उनकी पीढ़ियों की आजीविका को छीना जा रहा है, जबकि इन किसानों के परिवारों के श्रमिक बनने को विवश लोगों द्वारा ही उनके मॉल एवं मल्टीप्लेक्सों को निर्मित किया जाता है। धूमिल इस कविता में लिखते हैं-

यह एक खुला सच है कि आदमी-

दायें हाथ की नैतिकता से

इस कदर मजबूर होता है

कि तमाम उम्र गुज़र जाती है मगर गाँड़

सिर्फ बायां हाथ धोता है।<sup>4</sup>

इस शोषणवादी व्यवस्था की मुखालफत का हौसला व्यक्ति क्यों नहीं जुटा पाता है। सब-के-सब इसके पक्ष में ही क्यों रहते हैं। इसकी पीड़ा धूमिल की इस कविता में दिखायी पड़ती है। धूमिल के काव्य में व्यवस्था के विरोध अनेक बार स्वर मुखरित हुये हैं। धूमिल कहते हैं व्यवस्था के विरोध में मात्र कविता है, जो व्यवस्था की गंदगी को दूर करने वाली झाड़ू है। यह बेकारी और नींद से परेशान है। कविता की आवश्यकता एवं महत्व को धूमिल अपनी अन्य कविताओं में रेखांकित करते हैं-

एक सही कविता

पहले

एक सार्थक वक्तव्य होती है। - संसद से सड़क तक

कविता कोई 'कुर्ता-पाजामा' नहीं कि अपनी-अपनी सुविधा और नाप के साथ जब जैसे चाहा, पहन लिया और उतार दिया। धूमिल के शब्दों में-

कविता-

शब्दों की अदालत में

मुजरिम के कटघरों में खड़े बेकसूर आदमी का

हलफनामा है। - मुनासिब काररवाई

कविता बनावटी नहीं होती। यह चरित्र को उज्ज्वल रखने, खाने-कमाने या व्यक्तित्व बनाने की कोई चीज नहीं।

कविता

भाषा में

आदमी होने की तमीज है। - मुनासिब काररवाई

धूमिल की कविता में जो सजगता और बेबाकी है, उसने बुद्धिजीवियों को भी नहीं छोड़ा है। धूमिल की परख से कोई बच नहीं पाया है। मगर वह निराश हैं कि जिसकी पूंछ उठायी, वही मादा निकला। वकील, वैज्ञानिक, अध्यापक, नेता, दार्शनिक, लेखक, कवि, कलाकार जैसे बुद्धिजीवियों को उन्होंने 'तिजोरियों के दुभाषिये' कहा है। बुद्धिजीवियों का यह समूह धूमिल के शब्दों में-

कानून की भाषा बोलता हुआ

अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है। - पटकथा

धूमिल की पारखी नजर से कोई बच नहीं पाया है। धूमिल की कविता इतनी सपाट और बेलाग है कि समीक्षक के लिये यहां गुंजाइश ही नहीं रहती। धूमिल की बात आड़ने की तरह साफ और अपना चेहरा दिखाने वाली होती है। यही नहीं धूमिल अपनी कविता द्वारा आदमी के अंग-प्रत्यंग का एकसरे और स्कैन कर लेती है। व्यक्ति के दोहरेपन पर उनकी बात का असर कटार के वार जैसा होता है। समाजवाद की निराशा उनके इस वक्तव्य में झलकती है-

मगर मैं जानता हूं कि मेरे देश का समाजवाद

मालगोदाम में लटकती हुयी

उन बाल्टियों की तरह है जिस पर 'आग' लिखा है

और उनमें बालू और पानी भरा है। - पटकथा

धूमिल ने 'पटकथा' कविता में जनता और नक्सलवादियों का महीन अंतर प्रस्तुत किया है। हैं तो यह सभी एक ही संविधान से शासित, किन्तु जनता भूख से विकल, दया की पात्र बनी हथेली है; जबकि नक्सलबाड़ी 'भूख से तनी हुयी मुट्टी' है। 'नक्सलबाड़ी' की आंखों में भाईचारा है, वह अपने भाई की सुविधा का ध्यान रखता है, किन्तु वह पूंजीपति और इस व्यवस्था के हिमायती व्यक्ति को आईना दिखा सकता है।

नक्सलवादी अत्यंत यथार्थवादी होता है। मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा से अनुप्राणित यह लोग आत्मा, ईश्वर जैसी पारलौकिक सत्ता के प्रति संशयग्रस्त होते हैं। अभी कुछ माह पूर्व कानू सान्याल ने जहर का इंजेक्शन लेकर अपनी जान दे दी, क्योंकि वे कई बीमारियों से घिरे थे और उनके बचने की उम्मीद न के बराबर थी। नक्सली अगुवा चारु मजूमदार की मृत्यु के बाद नक्सलियों के बीच कई गुट निर्मित हो गये हैं। सब अपने-अपने तौर-तरीकों को श्रेष्ठ मानते हैं। इसीलिये एक-दूसरे से प्रतिद्वंद्विता भी रखने लगे हैं। मानवीय दृष्टिकोण से विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि हिंसा का यह तरीका, जिसका जघन्यतम रूप इस वर्ष छः अप्रैल को दिखा, किसी रूप में उचित नहीं है। धूमिल आज अगर जीवित होते तो निस्संदेह इसके प्रति अपनी लानत-मलामत जाहिर करते।

दूसरी ओर हमें यह देखना होगा कि जंगल, खनिज संपदा और आदिवासियों के क्षेत्रों में नक्सल समस्या है। विकास के प्रचलित पैमानों को एक बार फिर परखना होगा। आज विकास के नाम जल, जंगल और आदिवासियों की जमीन को समाप्त किया जा रहा है। कारपोरेट हाउस, सरकार और प्रशासन की मिलीभगत से प्राकृतिक संसाधनों की लूट-मार की जा रही है। झारखंड व छत्तीसगढ़ में आज भी पुलिस व प्रशासनिक अधिकारी खनिज संपदा वाले इलाकों में अपनी पदस्थापना करवाने के लिये नेताओं को लाखों-करोड़ों की रिश्वत देते हैं। खानों की नीलामी रिश्वत लेकर कारपोरेट हाउसों को औन-पौने दामों में कर दी जाती है। जिन आदिवासियों का जीवन जंगलों में पलता था, उसे उजाड़ा जा रहा

है। इस जंगल में आदिवासी अपनी सभ्यता और संस्कृति को सहेजते थे, उनकी जगह यदि मॉल और अपार्टमेंट बन जायेंगे तो उनकी स्थिति 'जल बिन मीन' की हो जायेगी।

नक्सलवाद से निपटने में लगे योजनाकारों को साफ तौर पर समझ लेना चाहिये कि इसे ज़ोर जबरदस्ती से खत्म नहीं किया जा सकता, क्योंकि नक्सलवाद एक विचारधारा है। इसे सरकारी भाषा में वाम चरमपंथी कहा जा रहा है। यह अपने तरीके से गरीब, मजलूम और कमज़ोर को इंसाफ दिलाने की पैरवी करता है। यह जितना जमीन पर कोहराम मचाता नजर आता है, उससे कहीं ्यादा अपनी विचारधारा से अपनी चपेट में आये इंसान को बेचैन कर रहा होता है।<sup>15</sup>

नक्सलवाद का निदान न छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री डॉ रमनसिंह द्वारा चलाये गये 'सलवा जुडूम' (शांति मार्च) में है, जिसके लोग स्वयं बलात्कार और हत्या के जिम्मेदार हुये; और न प्रधानमंत्री डॉ मनमोहन सिंह द्वारा चलायी गयी मनरेगा योजना में है। यह योजना भ्रष्टाचार की भेंट तो चढ़ी ही है, आदिवासियों की सहजता और उनकी शर्मिली संस्कृति में इसका सामंजस्य नहीं बैठता। आदिवासी जंगल से अपनी जरूरत भर का लेता है और उसे सुरक्षित भी बनाये रखता है। पारिस्थितिकी के अनुसार यह अपने को ढाले रखते हैं।

भारत में नक्सलवाद के जनक चारु मजूमदार ने माओवाद का भारतीय संदर्भ में पहला प्रयोग कांग्रेस की जमीन (पश्चिम बंगाल) पर किया था, यह राजनीतिक तौर पर इस क़दर सफल रहा कि कांग्रेस को पैंतीस सालों से पश्चिम बंगाल की सत्ता में लौटने की बाट जोहनी पड़ रही है। इंतज़ार में बूढ़ी हो गयी कांग्रेस ने हारकर युवा तुर्क महिला नेत्री ममता बनर्जी का आसरा लिया है। ममता बनर्जी नक्सलियों के गढ़ लालगढ़ में रैली करती हैं और नक्सली नेता आज़ाद को मारने के तौर-तरीकों पर सवाल उठाती हैं। आज़ाद को धोखे से मारने के आरोप लगाये जा रहे हैं। ऐसे में ममता बनर्जी के अन्य सहयोगी गृहमंत्री चिदंबरम की नक्सलियों को ठिकाने लगाने की योजनाओं का क्या होगा। यह इस सरकार के मुखिया डॉ मनमोहन सिंह की परेशानी का सबब होना चाहिये।

ममता बनर्जी की लालगढ़ रैली यह संकेत करती है कि पश्चिम बंगाल की सत्ता बिना नक्सलियों के समर्थन के नहीं प्राप्त की जा सकती। नक्सलवाद की लालपट्टी तिरुपति से पशुपतिनाथ तक दिखती है। नक्सली नेपाल के माओवादियों से भाईचारा रखते हैं। छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री की स्वीकारोक्ति ही है कि नक्सली लगभग 300 करोड़ रुपये लेवी से वसूल कर अपनी ताकत बढ़ाते जा रहे हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है कि नक्सलवाद एक विचार है और विचार को मिटाने के लिये एक नया विचार ही कारगर हो सकता है। किसी प्रकार का बल प्रहार यहां सफल नहीं हो सकता। संभव है कुछ दिनों के लिये यह दब जाये, किन्तु आशंका है कि फिर अपने और अधिक वेग से न यह व्याप्त हो जाये। नक्सलवाद पंजाब और जम्मू कश्मीर जैसा धार्मिक आतंकवाद और पूर्वोत्तर भारत के जातीय और क्षेत्रीय आतंकवाद सरीखा नहीं है। आदिवासियों के सामाजिक सरोकारों को समझे बिना इस समस्या को दूर करना संभव नहीं। धर्मगुरुओं और समाज सेवियों द्वारा



आदिवासियों के बीच जाकर संदेश दिया जाना चाहिये कि इंसान प्रकृति का अनुपम सृजन है और इंसानों के बीच जाति, धर्म और पैसे के नाम पर जारी भेदभाव महापाप है। नक्सलवाद जिन कारणों से देश में पनपा, उनकी व्याख्या एक नये मुहावरे के साथ धूमिल की लगभग हर कविता में दिखायी देती है। इन कारणों को दूर किया जाना नक्सलवाद को मिटाने के लिये अपरिहार्य है। धूमिल की कविता की मूल भावना भी यही है, जैसा कि प्रख्यात संपादक एवं कहानीकार अखिलेश ने कहा है इस कविता के प्रभाव से कविता अधिक सामाजिक, प्रखर और राजनीतिक हुयी थी।<sup>6</sup>

संदर्भ-स्रोत:

1. बीबीसी हिन्दी वेबसाइट से प्राप्त दिनांक 11.8.10
2. विकिपीडिया वेबसाइट के अनुसार दिनांक 11.8.10
3. रविवार पत्रिका के अनुसार
4. संसद से सड़क तक, पृष्ठ 67, राजकमल प्रकाशन पहला संस्करण 1972, पहला पेपरबैक संस्करण 2006
5. हिन्दी लोक डॉट काम दिनांक 13.8.10 आलोक कुमार का लेख 'नक्सलवाद के निदान का तरीका ठीक नहीं' से
6. तद्भव अंक 21, जनवरी 2010, के संपादकीय से।

‘वाग्प्रवाह’ जुलाई-दिसंबर 2010 आइएसएसएन 09755403 में प्रकाशित

## राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में चित्रित भारतीयता

भारतीय संस्कृति की विचारमुद्रा सहिष्णुता और सद्भाव को महत्व देते हुए कट्टरता या घृणा को अस्वीकारने की रही है। धर्म, संप्रदाय आदि के नाम पर किसी मानवता विरोधी कृत्य को भारतीय मनीषियों ने समर्थन नहीं दिया है।

डॉ राही मासूम रज़ा की दृष्टि धर्म के ऐसे ही प्रगतिशील स्वरूप को मान्यता देने वाली रही है। उनके सभी उपन्यास इस चेतना से ओत-प्रोत हैं। कुछ समय पूर्व गांव की संस्कृति में त्योहार और उत्सव भिन्न संप्रदाय के लोगों को निकट लाने और भाईचारे के निमित्त थे। 'आधा गाँव' में मोहर्रम मात्र मुसलमानों का पर्व नहीं है। मोहर्रम के ताजिया के साथ अहीरों का लड्डुबंद गिरोह चलता था, जो उलतियां गिराकर रास्ता बनाया करता था। एक विधवा ब्राह्मणी की उलती को बिना गिराए बड़ा ताजिया आगे बढ़ जाता है, तो वह आने वाली मुसीबत के भय से कॉप उठती है "जरूर कोई मुसीबत आने वाली है; नहीं तो भला ऐसा हो सकता था कि बड़ा ताजिया उसकी उलती गिराए बिना चला जाता।" 1

हिन्दुओं के अनेक देवी-देवता मुसलमानों में भी प्रचलित हो गए थे। 'टोपी शुक्ला' में इफ्फन की दादी नमाज़-रोज़े की पाबंद थी। जब इकलौते बेटे को चेचक तो वे चारपाई के पास एक टांग पर खड़ी होकर हिन्दू स्त्रियों के से विश्वास से कहती हैं "माता मेरे बच्चे को माफ कर दो।" 2 राही के उपन्यासों में मुसलमानों के पीर-फकीर हिन्दुओं के श्रद्धास्पद थे तो इमाम साहब से हिन्दू स्त्रियां भी मनौती मानती थीं। 'ओस की बूँद' में वजीर हसन कुएं से बड़ी कठिनाई से शंख निकालकर सुबह की नमाज़ अता करने के बाद आदरपूर्वक शंख बजाता है।

भारत में एक ओर असांप्रदायिक आस्तिकता का यह भाव है तो दूसरी तरफ सांप्रदायिक कट्टरता का भयावह विष भी फैला हुआ है। यहां कट्टर लोगों के अपने-अपने भगवान या खुदा निश्चित हो गए। ऐसे लोगों के कारण धर्म और धार्मिक पर्व मेल-जोल के बजाय द्वेष और हिंसा के आलंबन बन गए। इसीलिए 'ओस की बूँद' में बीवी के कटरे में बने मंदिर में उसका शंख फेंक दिए जाने से उपजे सांप्रदायिक दंगे को मुसलमान अपने पूर्वजों को वास्ता देते

हैं तो दूसरी तरफ वज़ीर हसन के लंगोटिया यार दीनदयाल को भी अपने मित्र और वतन से बढ़कर धर्म दिखाई देने लगता है।

सांप्रदायिकता की मनोवृत्ति मानवीय मूल्य एवं धर्मनिरपेक्षता के विपरीत पड़ती है। सांप्रदायिक शक्तियां अपने निहित स्वार्थों के लिए जन-साधारण के आपसी सद्भाव, मेल-जोल एवं सहकार भाव को दांव पर लगा देती हैं। 'आधा गाँव' में हिंदू सांप्रदायिकता मुस्लिमों की "सिंसियारिटी को मशकूक (संदिग्ध)"<sup>3</sup> मानती है। हिन्दू सांप्रदायिकता के पास सबसे बड़ा उदाहरण औरंगज़ेब का है, जिसने बहुत से मंदिरों को ढहा दिया था, जिसके लिए राही ने सवाल पूछा है कि यदि एक औरंगज़ेब गुनहगार तो क्या सारी मुस्लिम बिरादरी इसके लिए दोषी है? 'आधा गाँव' का निरक्षर छिकुरिया इस सब पर विश्वास नहीं कर पाता क्योंकि गंगौली में तो मुसलमान जमींदार न केवल दशहरे का चंदा देते थे, बल्कि मठ के बाबा को भी जमींदारों ने कुछ बीघों की माफ़ी दे रखी थी। वह मास्टर साहब की बात नहीं मानता। रहा औरंगज़ेब, वह जरूर कोई बदमाश होगा।

इस समस्या को राही के उपन्यासों में कुछ इस तरह उभारा गया है कि यदि ग़लती कोलकाता के मुसलमानों ने की है तो उसका दण्ड गंगौली या अन्य जगहों के मुसलमानों को क्यों? या पूर्वजों ने गुनाह किए हैं तो आज के मुसलमान को उनकी सजा क्यों दी जाए? जिन मुसलमान बच्चियों ने छुटपन में उनकी गोद में पेशाब किया है, उनके साथ ज़िना व्यवभिचार क्यों और कैसे की जाए? उन मुल्ला जी को कोई कैसे मारे, जो नमाज़ पढ़कर मस्जिद से निकलते हैं तो हिन्दू-मुसलमान सभी को फूंकते हैं। धर्म के आधार पर परस्पर लड़ने की बात राही जी के सदाशयी पात्र नहीं जानते। 'आधा गाँव' का छिकुरिया उस समूचे जनसाधारण का प्रतिनिधि है; जो धर्म एवं संप्रदाय की दीवारों को जानता है। वह जानता है कि कुछ तथाकथित पढ़े-लिखे लोग कोंच-कोंच कर लोगों को एक-दूसरे से घृणा करने के लिए तैयार करते हैं। व्यक्तियों के माध्यम से यह दो तरह के मूल्यों का जबर्दस्त संघर्ष है। एक ओर मास्टर साहब, फारुक आधा गाँव आदि प्रतिक्रियावादी व्यक्ति हैं जो क्रौम का वास्ता देकर स्वजातीय बंधुओं को उकसाते हैं तो दूसरी ओर सर्वपंथ समादर, राष्ट्र शक्ति और परस्पर आत्मीयता जैसे मानव मूल्यों के संवाहक छिकुरिया, फुन्नन मियां, तन्नू आधा गाँव; वज़ीर हसन, वहशत अंसारी ओस की बूँद आदि भारतीयता के प्रतिनिधि चरित्र हैं जो आदमी-आदमी को लड़ाने वाले हर षडयंत्र के घोर विरोधी हैं।

राही जी की दृष्टि में भारतीय संस्कृति के कई अनावृत पहलुओं की ओर गई है। उन्होंने अपने साहित्य के शोध का विषय भी इसी प्रकार का रखा था। जिसमें मुसलमानों में प्रचलित कहानियों में भारतीय संस्कृति का वर्णन आया है। स्वाभाविक है कि उनके उपन्यासों में इसकी प्रतिध्वनि दिखाई देगी। दो धुरवांतों पर खड़ी मानी जाने वाली संस्कृति की एकता एवं समन्वय को राही के खोजपूर्ण उदाहरणों द्वारा प्रोत्साहन मिलना चाहिए। 'असन्तोष के दिन' के उस मर्सिये की वह पंक्ति उद्धरणीय है, जिसमें गाया जाता है "फूल वह जो महेसर चढ़े"। राही ने अपने औपन्यासिक पात्रों की धार्मिक एकता पर यह कहते हुए बल दिया है कि यहां के मुसलमानों के पूर्वज हिन्दू ही थे।

जरीकलम सैयद अली अहमद जौनपुरी ॐअसन्तोष के दिना ॐ नाम से मुसलमान थे। इनके पुरखे मराठे और धर्म कहर हिन्दू था। उपन्यास में वजीर हसन ॐओस की बूँद ॐ के पुरखों ने भी इस्लाम स्वीकार किया था।

उपन्यासकार अपने पात्रों के माध्यम से उनके समन्वय एवं एकता को अनेक घटनाओं एवं स्थितियों द्वारा प्रस्तुत करता है। 'आधा गाँव में पड़ोस के गाँव के एक जमींदार ठाकुर जैपाल सिंह अतिवादी हिन्दुओं से बफ़ाती चा नामक कुंजड़े मुस्लिम को एक हमले में बचाते हैं। वह गाँव की समस्त मुस्लिम प्रजा को संरक्षण प्रदान करते हैं जैपाल सिंह हिन्दुओं की उत्तेजित भीड़ को ललकारते हुए कहते हैं "बड़ बहादुर हव्वा लाग। अउर हिन्दू मरियादा के ढेर ख्याल बाए तुहरे लोगन के, कलकत्ते-लौहउर जाए के चाही।' 4 इसी प्रकार सैयदा ॐअसन्तोष के दिना ॐ हिन्दुओं को गाली देती है, पर अपने हिन्दू नौकर राममोहन से अपने परिवार को उसकी झोपड़ पट्टी से उठा लाने को कहती है। वह अपने हिन्दू मित्र गोपीनाथ की भी मौत पर रोती है।<sup>5</sup>

राही जी ने उज्ज्वल चरित्रों के पात्रों को उभारने के लिए अपने उपन्यासों में कुछ पात्रों को धार्मिक ढकोसलापन, अलगाववाद, ऊँच-नीच के भेद-भाव को मानने वाले, झूठ-फ़रेव और चोरी इत्यादि अधार्मिक-अनुचित प्रवृत्तियों से भी संपृक्त किया है। राही के पात्रों की धार्मिक चेतना में बाह्याचारों की अतिशय व्याप्ति है। इनका मूल अज्ञान और अशिक्षा में है। धर्म के नाम का ढकोसलापन अधिक है। धार्मिक मठ-मंदिर बाह्याचार, व्यभिचार, जादू-टोने और जड़ता के अड्डे बन चुके हैं। राही के पात्र एक ओर अपनी कुलीनता और रक्त शुद्धता का आडंबर रचते हैं तो दूसरी ओर 'कलमी औलादें' पैदा करते नहीं थकते। विवाह में रंडी नचवाने वालों पर ताने कसते हैं और घर हरामज़ादी संतानों से भरते रहते हैं। शिया और सैयद होने का घमण्ड करते हैं और मुसलमानों में ही सुन्नियों को हेय मानते हैं। ज़रा सी बात पर आपस में फौजदारी करते हैं; कचहरी में झूठे मुकदमे बनाते हैं। धर्म के नाम पर साल में ढाई माह तक हंसना भी गुनाह मानते हैं, परंतु अनुसूचित जाति के एक निर्दोष व्यक्ति कोमिला को झूठे मुकदमें में फंसाकर फांसी की सज़ा दिलाते हैं।

शियाओं की उपर्युक्त धार्मिक कहरता का परिहास और विडंबनाजनक स्थिति पर डॉ इन्दु प्रकाश पाण्डेय लिखते हैं वे 'एक ओर तो तेरह सौ साल पहले हुए क़त्ल का विरोध करते हैं और दूसरी ओर केवल अपनी दक्षिण पट्टी के ताजिए की शोहरत के लिए एक ब्राह्मण विधवा के जवान पुत्र का कानूनन क़त्ल करवाते हैं। चमार औरत को घर में पत्नी के रूप में रखते हैं, बच्चे पैदा करते हैं; परंतु उसके हाथ का बनाया खाना तक नहीं खाते। इस प्रकार कथावाचक ने बड़ी निर्ममता से अपने समाज की झूठी एवं खोखली धार्मिकता का पर्दाफाश करते हुए उसके अंधविश्वास, अशिक्षा एवं अज्ञान को विस्तार से चित्रित किया है।'

'आधा गाँव' में सर्वत्र शियाओं का सर्वप्रमुख एवं दुनिया का एकमात्र शोकपर्व मोहरर्म के छाए रहने पर आलोचक सुरेन्द्रनाथ तिवारी कहते हैं "आधा गाँव' पढ़ने के बाद याद रहता है मोहरर्म; जो कामू के 'प्लेग' की तरह व्याप्त है।' श्री तिवारी ने इस उपन्यास में मोहरर्म की कथा की प्रमुखता देखते हुए मोहरर्म को उपन्यास का नायक

माना है।<sup>6</sup> आधा गाँव की कुछ इसी प्रकार की कमियों की ओर डॉ इन्दु प्रकाश पाण्डेय ने संकेत किया है। उन्होंने लिखा है 'इस मोहरम की भीड़ में कथावाचक ने लगभग 100 पात्र गंगौली की दक्षिण और उत्तर पट्टी में एकत्र कर दिए हैं, जो या तो साधारण नित्य-प्रति की घरेलू समस्याओं में व्यस्त हैं या मोहरम की बैठकों में मातम कर रहे होते हैं। कुछ पात्र तो केवल नाममात्र हैं, जिनके अस्तित्व का कोई भी रूप प्रकट नहीं होता है और कुछ जो मोटी रेखाओं में व्यक्त भी हुए हैं, वे कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति करके भीड़ में खो जाते हैं। यहां तक कि प्रारंभिक कथा का वाचाल एवं उत्साही कथावाचक मासूम भी गायब हो जाता है। लगभग एक ही प्रकार के विचार वाले पात्रों की भीड़ में से 'नौहा' के स्वरो में रोने-सिसकने की आर्द्रता तो बहती दिखाई देती है लेकिन स्वतंत्र पात्रों के रूप में भीड़ से ऊपर उठने वाले पात्रों की संख्या स्वल्प ही है।' <sup>7</sup> यहां कहना होगा कि आंचलिक वर्णनों में पात्रों की ऐसी भीड़ का होना स्वाभाविक हो जाता है। फिर, उपन्यासों में कुछ पात्रों का तृण-पत्रवत् अस्तित्व भी रहा करता है, जो उपन्यास में कथा का मात्र उपकरण बने होते हैं। मोहरम वर्णन की अतिशयता के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि राही को धार्मिकता के बाह्याडंबरों और ढकोसलों को दिखाना था जिससे उन्हें शिया मुसलमानों के इस सर्वोच्च पर्व को माध्यम बनाया। इससे उनका विद्रोही और बेबाक तेवर मुखरित हुआ कि उन्होंने अपने ही समाज और धर्म और उसके लोगों के अतिचारों का बड़ी निर्ममता से पोस्टमार्टम किया।

राही की धार्मिक सजगता एवं तेवर में ढली सर्वधर्म ग्राह्यता उनके घनिष्ठ मित्र डॉ धर्मवीर भारती द्वारा दिए गए इस प्रसंग में देखी जा सकती है। जब राही से 'दुनिया का सबसे ज्यादा आदरणीय महाकाव्य' महाभारत के बारे में यह पूछा गया कि उन्हें मुसलमान होने के बावजूद महाभारत लिखना कैसा लग रहा है। उनका उत्तर था कि जैसे मुसलमान होने की वजह से हिन्दुस्तानी विरासत पर मेरा कोई हक ही न रह गया हो। जैसे कि मैं भी कोई मंदिर गिराकर उसकी जगह पर बनाई हुई कोई मस्जिद हूँ। इन बातों से मुझे दुख पहुंचा है।<sup>8</sup>

राही जी की सजग एवं प्रगतिशील धार्मिक चेतना के फलस्वरूप 'आधा गाँव' में पाकिस्तान निर्माण के प्रस्ताव को गंगौली के कुछ शिया मुसलमान पात्रों द्वारा विरोध किया जाता है। राही के अनुसार शियाओं के पूर्वज इमाम हुसैन ने स्वयं हिन्दुस्तान जाने की इच्छा प्रकट की थी। हुसैन के सच्चे अनुयायी होने के नाते धार्मिक दृष्टि से भी शिया मुसलमान पात्र हिन्दुस्तान विरोधी कोई प्रस्ताव स्वीकृत नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान का पक्ष लेती हुई सितारा शियाओं की ओर से कहती है "और यह मुआ जिन्ना कैसा शिया है कि हिन्दुस्तान के खिलाफ है।" <sup>9</sup> 'आधा गाँव' के ऐसे कथ्य को दृष्टिगत रखते हुए डॉ जगदीश नारायण श्रीवास्तव ने राही जी की इस बहुचर्चित कृति को यशपाल के 'झूठा सच' के बाद हिन्दुस्तान के सांप्रदायिक विभाजन की कांटेदार खेती को बेबाक ढंग से रखता हुआ माना है।<sup>10</sup>

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राही जी धर्म के बाह्य आडंबरों तथा उनसे उत्पन्न सामाजिक कुरीतियों तथा ऊँच-नीच के प्रबल विरोधी थे। राही ने विभिन्न सामाजिक वर्गों की सांस्कृतिक रुचि तथा धार्मिक चेतनागत दृष्टिकोण के अंतर को पहचान कर साहित्य में अपने पात्रों का परिकल्पन किया है।

राही काल और इतिहास संबंधी लौकिक धारणा के अनुसार ही ऐतिहासिक समय की महत्ता को शाश्वत काल की सत्ता के समक्ष खड़ा कर देते हैं। 'आधा गाँव' के प्रथम अध्याय में ही राही गाज़ीपुर शहर के परिचय में एक रूपक देते हुए कहते हैं "गंगा इस नगर के सिर पर और गालों पर हाथ फेरती रहती है, जैसे कोई मां अपने बीमार बच्चे को प्यार कर रही हो, परंतु जब इस प्यार की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, तो गंगा बिलख-बिलखकर रोने लगती है और यह नगर उसके आंसुओं में डूब जाता है। लोग कहते हैं कि बाढ़ आ गई। मुसलमान अज्ञान देने लगते हैं। हिन्दू गंगा पर चढ़ावे चढ़ाने लगते हैं कि रूठी हुई गंगा मैया मान जाय। अपने प्यार की इस हतक पर गंगा झल्ला जाती है और किले की दीवार से अपना सिर टकराने लगती है और उसके उजले-सफ़ेद बाल उलझकर दूर-दूर तक फैल जाते हैं। हम उन्हें झाग कहते हैं। गंगा जब यह देखती है कि उसके दुख को कोई नहीं समझता, तो वह अपने आंसू पोंछ डालती है; तब हम यह कहते हैं कि पानी उतर गया। मुसलमान कहते हैं कि अज्ञान का वार कभी खाली नहीं जाता, हिंदू कहते हैं कि गंगा ने उनकी भेंट स्वीकार कर ली। और कोई यह नहीं कहता कि मां के आंसुओं ने ज़मीन को और भी उपजाऊ बना दिया है..... यह शहर इतिहास से बेखबर है। इसे इतनी फुरसत नहीं मिलती कि कभी बरगद की ठंडी छांव में बैठकर अपने इतिहास के विषय में सोचे।' ' 11 इसमें लेखक काल के शाश्वत पक्ष को रामायण से आगे तक फैलाकर दिखाता है, जिसकी पृष्ठभूमि में इतिहास केवल कुछ संदर्भ बदल देता है। इतिहास की शाश्वत प्रतीक गंगा से राही अपने लगाव को अपनी लगभग प्रत्येक कृति में उद्घोषित करते हैं। वे कहते हैं

‘ मेरा फ़न तो नीला पड़ गया यारो

में नीला पड़ गया यारो

मुझे ले जाके गंगा की गोदी में सुला देना।’ ' 12

‘ लेकिन मेरी नस-नस में गंगा का पानी दौड़ रहा है।’ ' 13

राही इतिहास पर दृष्टि डालते हुए अपने गाँव गंगौली के नाम-विश्लेषण को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं "मसऊद गाज़ी के एक लड़के, नूरुद्दीन शहीद ने यह शहीद कैसे और क्यों हुए, यह मुझे नहीं मालूम और शायद किसी को नहीं मालूम दो नदियाँ पार करके, गाज़ीपुर से कोई बारह-चौदह मील दूर, गंगौली को फ़तह किया। कहते हैं कि

इस गाँव के राजा का नाम गंग था और उसी के नाम पर इस गाँव का नाम गंगौली पड़ा। लेकिन इस सैयद-खानदान के पाँव जमने के बाद भी इस गाँव का नाम नूरपुर या नूरुद्दीन नगर नहीं हुआ' ' 14

इससे स्पष्ट है कि राही उन ऐतिहासिक घटनाओं को महत्व नहीं देना चाहते, जिन्होंने बाह्य स्थितियों में कुछ परिवर्तन किए हैं, परंतु वे उस जीवन को उभारना चाहते हैं, जो इन ऊपरी परिस्थितियों के बदल जाने पर भी परंपरा, सभ्यता, गीता और कुरान की तरह निस्सीम और अनंत हो और जो गंगा और मोहर्रम की तरह निरंतर प्रवहमान हो। राही जी बड़े परिश्रम से समय के इस प्राकृतिक प्रवाह को प्रस्तुत करना चाहते हैं, जिसे इतिहास की कोई भी घटना अपने सॉचे में नहीं बांध सकती। जीवन मोहर्रम के आंसुओं की तरह अबाध गति से बहता चला जाता है 'रोना त हम शीअन की तकदीर है।' ' 15 समय के प्रति यह धारणा मात्र शियाओं की ही विशेषता नहीं है, बल्कि यह भारत की लोकमान्य विशेषता है, जो क्रूरतम ऐतिहासिक स्थिति को भाग्य का खेल मानकर संतोष कर लेती है।

राही ने अपने उपन्यासों में दिखाया है कि शिया मुसलमान तो प्रारंभ से ही 13 शतियों से अपने भाग्य की विडंबना पर रोते चले आ रहे हैं। निस्सहाय एवं निरीह और भाग्य पर समर्पित शिया आज भी कर्बला के हत्याकाण्ड और इमाम हुसैन और हसन के निधन पर साल में ढाई माह तक शोक मनाते हैं, रोते हैं और निराशा में छाती कूटते-कूटते बेहोश होने में जीवन की सार्थकता खोजते हैं। यह मोहर्रम; जो इनके जीवन का शाश्वत काल हो गया है; किसी भी अन्य घटना के द्वारा मिटाया नहीं जा सकता और न शिया मुसलमानों में वह इच्छाशक्ति रह गई है, जिससे वे इसे बदल सकें। वे अपरिवर्तनशील प्रारब्ध के शाश्वत प्रवाह में बह रहे हैं, जिसकी दिशा का उन्हें ज्ञान नहीं। यह प्रारब्ध उनकी संपूर्ण व्यवस्था है, जिसके वे एक अनिवार्य अवयव हैं। इस प्रकार राही जी ने बड़ी कुशलता से शिया पात्रों की परिकल्पना से उनकी ऐतिहासिक चेतना के माध्यम से उनके दृष्टिकोण और जीवन-दर्शन को रूपायित किया है।<sup>16</sup>

राही अपने उपन्यासों में इतिहास से संदर्भ लेकर अपने पात्रों द्वारा यत्र-तत्र टिप्पणियां करते हैं किन्तु किसी ऐतिहासिक सूचना को प्रत्यक्ष एवं आरोपित करते हुए राही अपने उपन्यासों में नहीं दिखाई देते उनके उपन्यासों में ऐतिहासिक घटनाएं उसमें छोटी-मोटी उठने-बैठने वाली लहरों के समान हैं, जो मात्र जीवन के स्पंदन को प्रकट करती हैं। 'टोपी शुक्ला' का एक पात्र कहता है "पता है, अकबर के खिलाफ महाराणा प्रताप के साथ कितने मुसलमान थे?"<sup>17</sup> इसी उपन्यास में टोपी कहता है "में हिंदू हूँ...क्या यह शेरवानी मुसलमान है? यह तो कनिष्क के साथ आई थी। यह पाज़ामा भी कनिष्क ही का है।' ' 18 टोपी जायसी को भी हिन्दू मानता है क्योंकि उन्होंने हिन्दुओं की ही कहानियां लिखीं। ग़ालिब और मीर को भी वह हिन्दू मानता है, क्योंकि ग़ालिब बुतों की पूजा करते थे और मीर तिलक लगाते थे।

ऐतिहासिकता से संदर्भ लेते हुए भयावह सच्चाई को सम्मुख रखने के लिए राही वर्तमान से उसको संबद्ध कर देते हैं "यह टोपी गाथाकाल ही है। यह टुच्चा युग है। छोटे लोग जन्म ले रहे हैं, सौंदर्य पर रंग-रंग की कीचड़ है। न तो वीरों की गाथा का समय है और न शृंगार रस बांटने का। कोई युग कलयुग नहीं होता। परंतु टोपी युग अवश्य प्रारंभ हो

गया है।' ' 19 छुआ-छूत जैसी सामाजिक समस्या पर राही पौराणिक संदर्भ ग्रहण करते हुए टोपी से कहलवाते हैं "श्री राम तो भीलनी के जूठे बेर खा लें और आप मुझे अपने पास बैठने भी न दें कि मुसलमान हूं।' ' 20

स्वार्थी व्यक्तियों द्वारा पौराणिक संदर्भों की की जाने वाली अनुचित और छद्म व्याख्या की समस्या राही 'आधा गाँव' में उठाते हैं। उपन्यास में कोई स्वामी जी इसी प्रकार के पौराणिक संदर्भों को देकर हिन्दुओं की भावनाएं भड़काने के काम में संलग्न हैं। स्वामी जी उपन्यास में कहते हैं। "तब भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! हूं तो मैं हूं और मेरे सिवाय कोई और नहीं है। आज वह मुरली मनोहर भारत के हर हिन्दू को ललकार रहा है कि उसे तथा गंगा और यमुना के पवित्र तट से इन म्लेच्छ मुसलमानों को हटा दो।' ' 21 इसी प्रकार के अनुचित एवं मिथ्या ऐतिहासिक-पौराणिक संदर्भों को देकर 'ओस की बूँद' में एक मौलवी लगे हैं। वह 'बिरदाराने-इस्लाम' की दुहाई देकर मुसलमानों की भावनाएं भुनाना चाहते हैं। कुछ कट्टरवादी मुसलमान पात्रों द्वारा अपने अवैध और घृणित कृत्यों को वैध ठहराने के लिए बिना समझे पौराणिक संदर्भों का आलंबन लिया जाता है। 'आधा गाँव' का कट्टर प्रवृत्ति का मुसलमान पात्र समीउद्दीन खां पाण्डवों की ओर संकेत करता हुआ कहता है "लेकिन पांच भाइयों में एक बीवी से हमारा काम अब भी नहीं चल सकता, यह भी कोई कमर हुई? उनसे अच्छे तो हमी हैं। चार भाइयों में कुल मिलाकर सात बीवियां हैं।' ' 22

राही ने अपने उपन्यासों के कुछ सद् पात्रों द्वारा पौराणिक आदर्शों को ग्राह्य भी बनाया है। वे 'आधा गाँव' में अपने सच्चे भारतीय मुसलमानों को 'राम की खड़ाऊँओं को कदमे रसूल बनाकर चूमने वाले' कहते हैं।

पौराणिक एवं ऐतिहासिक पात्रों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राही जी ने भारतीय संस्कृति के धवल स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिए इतिहास और पुराणों का आश्रय अपने पात्रों की परिकल्पना में लिया। उन्होंने प्रागैतिहासिक काल से लेकर अंग्रेज युग तक के इतिहास और पुराणों के सामाजिक-सांस्कृतिक और ऐतिहासिक घटनाक्रमों को अपने उपन्यासों की वर्ण्य-वस्तु में स्थान दिया और प्राचीन भारत की स्वर्णिम झांकी प्रस्तुत करके भारतीय संस्कृति के निखरे हुए रूप को उभारा।

संदर्भ-स्रोत-

- 1 डॉ राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृ0 66
- 2 डॉ राही मासूम रज़ा, टोपी शुक्ला, पृ0 35
- 3 डॉ राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृ0 155 राजकमल पेपरबैक्स नई दिल्ली 1998
- 4 वही, पृ0 282-283
- 5 डॉ राही मासूम रज़ा, असन्तोष के दिन, पृ0 28 राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली 1986



- 6 संचेतना बसंतांक 1968, पृ0 55 । सुरेन्द्र नाथ तिवारी का लेख 'समीक्षात्मक कोण पर आधा गाँव
  - 7 डॉ इन्दु प्रकाश पाण्डेय, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में जीवन-सत्य, पृ0 247 नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली 1979
  - 8 डॉ धर्मवीर भारती, कुछ चेहरे: कुछ चिंतन, पृ0 185 वाणी प्रकाशन दिल्ली 1995
  - 9 डॉ राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृ0 53
  - 10 डॉ जगदीश नारायण श्रीवास्तव, उपन्यास की शर्त, पृ0 252 किताबघर दिल्ली 1993
  - 11 डॉ राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृ0 3
  - 12 डॉ राही मासूम रज़ा, सीन: '75, वसीयत से
  - 13 डॉ राही मासूम रज़ा, मैं एक फेरी वाला - काव्य संग्रह, पृ0 35 राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली 1976
  - 14 डॉ राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृ0 4
  - 15 वही, पृ0 45
  - 16 Ebook isbn 9788190891257 राही मासूम रज़ा और उनके औपन्यासिक पात्र, राकेश नारायण द्विवेदी, पृ0 123 pothi.com पर
  - 17 डॉ राही मासूम रज़ा, टोपी शुक्ला, पृ0 106 राजकमल पेपरबैक्स नई दिल्ली 1998
  - 18 वही, पृ0 101
  - 19 वही, पृ0 31
  - 20 वही, पृ0 102
  - 21 डॉ राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, पृ0 280
  - 22 वही, पृ0 75
- 'अक्षर वार्ता' में प्रकाश्य

## स्थान नामों में प्रतिबिंबित सांस्कृतिक तत्व

हमारे देश में स्थान-नामों की रूप-रचना स्वाभाविक रूप से अनेक विविधताओं को धारण करती है। विभिन्न समाजों और उनके रहन-सहन की विविधता को हम शब्द या पद की रचना-प्रक्रिया देखकर समझ सकते हैं। स्थान-नाम व्यक्ति वाचक संज्ञाएं हैं, जो उस स्थान का सामान्यतः बोध कराती हैं, किंतु स्थान-नामों से उस स्थान का बोध भर नहीं होता, अपितु तत्संबंधी इतिहास और संस्कृति का दिग्दर्शन भी उसके माध्यम से हो जाता है। इसी कारण स्थान-नाम व्यक्ति नामों से भिन्न हैं, क्योंकि व्यक्ति-नामों में मात्र उस व्यक्ति के अस्तित्व का बोध होता है, जिस व्यक्ति का वह अभिधान है। यह बोध भी नाम के शाब्दिक अर्थ में नहीं, बल्कि उसकी अनन्य परिचिति अर्थात् पहचान के रूप में ही होता है, किंतु व्यक्ति नामों से स्थान-नामों की प्रकृति भिन्न है। व्यक्ति-नाम व्यक्ति के निधन के साथ समाप्त हो जाते हैं, स्थान-नाम ऐसे समाप्त नहीं होते। स्थान-नामों के नामकरण में पूरे निवसित समूह की भागीदारी रहती है और उसमें संबंधित क्षेत्र की धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, दार्शनिक, जैविक परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का द्योतन होता है। इसीलिये 'प्रत्येक नाम अपनी सामाजिक संस्कृति का मूक आख्यान होता है।' 1

स्थान-नामों की रूप रचना में पदों, अर्थों और ध्वनियों का योगदान होता है। स्थान-नाम देश-काल के अनुसार परिवर्तित होते हुए भाषा के अत्यंत संवेदनशील शब्द हैं। 'नाम' और 'शब्द' भिन्न-भिन्न संज्ञाएं हैं। 'नाम' संकेतार्थक होते हैं तो 'शब्द' अपने गुणों को धारण किए रहते हैं। 'नाम' के अर्थ को हम 'नामवैज्ञानिक' तथा 'शब्द' के अर्थ को 'शाब्दिक' कह सकते हैं। 'नाम' का स्थानांतरण किसी अन्य भाषा में यथावत् (स्वनिर्मों के कारण उच्चारणगत भिन्नता लिए हुए) होता है तो 'शब्द' का स्थानांतरण किसी दूसरी भाषा में अनुवाद द्वारा किया जाता है।

ललितपुर (उ०प्र०) जनपद के स्थान-नामों को अतिभाषिक क्षेत्र में जाकर देखते हैं तो पता लगता है कि यहां के स्थान-नाम मातृदेवियों के आधार पर अधिक रखे गए हैं। ललितपुर जनपद के बहुत से स्थान आदिवासियों द्वारा बसाए गए थे। इनके नाम लोकमाताओं के नाम पर रखे गए। आदिवासियों का अपने जीवन-संघर्ष में जिन बीमारियों से सामना हुआ, उन बीमारियों को मानवीकृत करके उनकी उपासना से तत्संबंधी बीमारी दूर करने की पद्धति अपनाई

गई। प्रकृति के जिस उपादान को आदिवासियों ने देखा-भाला, प्रायः उसी पर देवी-देवता का भी नामकरण कर दिया। लोकदेवताओं के नाम किसी अनजानी अनदेखी बीमारी के निवारण के लिए, किसी विष-व्याधि के शमन के लिए, पारिवारिक उपद्रवों के निवारण के लिए, किसी अचानक उपजी व्याधि के निराकरण के लिए तथा किसी स्थान, काल या दिशादि के महत्व को स्वीकार करने के कारण रखे गए। आदिवासी अपने जीवन में भय, बीमारियों से डर और दैवी आपदाओं से बचने के लिए कई मनगढ़ंत देवी-देवताओं की उपासना करते हैं। जरा सा भय हुआ नहीं कि आदिवासी उसकी देव की तरह पूजा करने लगता है। इन लोगों का जब चेचक की व्याधि का पता नहीं था तो इन्होंने इसे शरीर में उठी गर्मी के बुलबुले माना और देह में शीतलता के संचार के लिए शीतला माता जैसी देवी की कल्पना और प्रतिष्ठा कर दी। बीमारियों का यह देहीकरण 7वीं-8वीं शताब्दी में शुरू हुआ।<sup>2</sup> इन देवी-देवताओं को स्मरण करने का तरीका उनके नाम पर ही स्थान का नामकरण करने से अच्छा और क्या हो सकता था, अस्तु। सभ्यता-विकास के क्रम में प्रकृति-आदिवासी-जीवन संघर्ष-देवी देवता-स्थान नाम, कुछ इस क्रम में स्थानों का नामकरण ललितपुर जनपद में किया गया। जिले में 'डग डग देवी पग पग देव' की कहावत है। अतः इसमें संदेह का कोई कारण नहीं है कि लोकदेवताओं और प्रकृति के ऊपर स्थानों के नाम इस जनपद में रखे गये। मातृदेवियों के नाम पर स्थानों का नाम रखने के पीछे यह धारणा थी कि ऐसा करने से देवी खुश हो जाएगी, रोग-शोक कम होगा, फसलें बेहतर होंगी और आमतौर पर कल्याण की वृद्धि होगी, किंतु अब ऐसी लोकमान्यताओं के धरातलीय साक्ष्य विद्यमान नहीं रहे। इन नामों को शेष समाज अथवा उत्तरवर्ती पीढ़ियों ने स्वीकार किया, आदिवासियों के इस योगदान का भारतीय संस्कृति पर स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

इस संबंध में जिले के कुछ स्थान-नामों के उदाहरण दृष्टव्य हैं, जिनमें स्थानों के नामकरण किसी ने किए और वह सर्वस्वीकृत होते गए- शीतला को रोढ़ि भी कहा गया है। जिले का रोड़ा (ललितपुर) गांव रोढ़ि माता का पुण्य स्मरण है। रोड़ी माता (घूरे की माता) से भी यह संबंधित हो सकता है। मान्यता है कि इसकी पूजा से कृषिवृद्धि एवं खुशहाली आती है। भाटी राजपूतों की देवी रुंडी माता हैं। रोड़ा रुंडी के अधिक निकट हैं। इस गांव में ठाकुर परिवारों का निवास भी अच्छी संख्या में है।

गांव के बाहर किसी स्थान को यक्ष-यक्षिणी की पूजा का प्रतीक बनाया गया। जिले का जाखलौन (ललितपुर) तथा जखौरा (तालबेहट) यक्ष तथा यक्षिणी पूजा पर आधारित स्थान-नाम हैं। जाखमाता यक्षिणी से संबंधित है। यक्ष-यक्षिणियों की पूजा-परंपरा के विषय में डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल का कहना है कि भारतीय कला और धर्म में संभवतः यक्षों के समान प्राचीन लोकव्यापी और लोकप्रिय कोई दूसरी परंपरा नहीं है। यक्ष आज भी समाज में बीरों या यकसों के नाम से पूजित हो रहे हैं। जिले के प्रत्येक गांव में भी बीर नाम से यक्ष के चौरा विद्यमान हैं। कहावत है गांव-गांव को ठाकुर गांव-गांव को बीर। कहीं-कहीं ऐसी मान्यता है कि जो औरतें बच्चा जनते समय अथवा डूबकर मर जाती हैं, वे ऐसी प्रेतात्मा (यक्षी और डाकिनी) या पिशाची बन जाती हैं और उन्हें इस नाम से पूजा जाता है।<sup>3</sup> 'प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास' (डॉ रांगेय राघव) के अनुसार दक्षपुत्री सखा के दो पुत्र थे- यक्ष और रक्ष। यक्षों को

काला शरीर और लाल नेत्र वाला कहा गया है। इन्हें कुबेर का रक्षक माना जाता है। वनस्पति के स्वामी यक्ष देवों से नीचे तथा भूतों से ऊंचे हैं। इन्हें महायोधा, व्यापारियों के रक्षक तथा इच्छा रूपधर माना जाता है।

सादूमल (महरौनी) गांव बगड़ावतों में से प्रमुख भोज की गूजर स्त्री साडूमाता के नाम पर अनुकृत प्रतीत होता है। साडूमाता से ही देवनारायण नामक लोकदेवता का जन्म हुआ। बुंदेलखंड की रिछावर देवी के नाम पर ललितपुर तहसील के गांव रीछपुरा और रिछा बसे हैं। यह देवी मनोकामना पूर्ण करने वाली मानी गई हैं। जिले के प्रत्येक गांव में खेड़ापति हनुमानजी के मंदिर होते हैं। खेड़ा अर्थात् गांव का उन्हें स्वामी बनाया गया है। गांव मनुष्यों द्वारा समूह में बसाई गई बस्तियों की प्राचीनतम इकाई है। इस प्रकार हनुमान को खेड़ापति की पदवी देकर सार्वभौमिक लोकदेवता बना दिया है। वे गांव की सीमा के रक्षक समझे गए हैं। हनुमान के नाम पर जिले में स्वतंत्र स्थान-नाम भी मिलते हैं यथा - हनुपुरा (तालबेहट)।

धर्म-दर्शन के ग्रंथों में सात तन्मात्राएं विहित हैं, जो प्रवृत्तियों को निर्धारित एवं नियंत्रित करती हैं। लोक में सात माता इन्हीं को कहा गया है। जिले का सतवांसा (महरौनी) गांव में सात माता की ध्वनि झांकती दिखाई पड़ती है। यह संत निवास तथा सात लोगों के आवाससूचक अर्थ से भी इंकृत है। ममतामयी मातृदेवी पार्वती को गणगौर भी कहा गया है। इनका प्रतीक स्थान-नाम जिले में गनगौरा (ललितपुर) है। वर्षा की देवी काजल माता (इंद्र की पुत्री) की पूजा काकड़ (गांव की सीमा) की पूजा करने के बाद की जाती है। जिले के ककड़ारी (तालबेहट एवं महरौनी) गांव काकड़ से अनुमित किए जा सकते हैं। काकड़ को ध्रुवदेवी भी कहते हैं। वर्षा देवी वराई माता भी कही गयी। भील समुदाय बलि और दारू धार से वराई माता की पूजा करता है। बिरारी (ललितपुर) गांव इस माता का स्मरण कराता है। इस देवी के थानक के निकट मामादेव का थानक भी होता है। मामदा (ललितपुर) मामादेव का गांव है। मामादेव और वराई माता की एक साथ तथा एक समान पूजा होती है।

भैंसासरी माता की पूजा वस्तुतः दुर्गा के महिषासुरमर्दिनी रूप की पूजा है। यह तंत्र-मंत्र की देवी भी कही गयी हैं। जिले के गांव भैंसाई (ललितपुर) तथा भैंसनवारा कलां तथा भैंसनवारा खुर्द (तालबेहट) के नाम इसी लोकमाता के नाम पर रखे गए हैं। मोतीझिरा बुखार के बिगडे रूप, जिसे आजकल टायफायड कहा जाता है, के देवता हैं। मोतीखेरा (तालबेहट) गांव इसी लोकदेवता का स्मरण कराता है। नागदेव (सर्प) पूजा के लिए वर्ष में एक दिन नागपंचमी विहित है। इस पूजा को याद करते हुए जिले में नगदा (तालबेहट), नगवांस (तालबेहट) तथा नगारा (महरौनी) गांव बसे हैं।

पशुओं और गांव की रक्षा के लिए बैमाता की प्रतिष्ठा है। इसी के प्रतीक स्थान-नाम विहामहावत (ललितपुर) इत्यादि हैं। 'बै' गीत में विधाता की शक्ति एक कुम्हारिन के रूप में दिखायी देती है। गांवों में 'परजापत' कहे गए

कुम्हारों के यहां इसकी पूजा होती है। खों-खों मड़या (खांसी माता), बराई माता (खाज-खुजली माता) के सूचक स्थान नाम क्रमशः खोंखरा (ललितपुर) तथा बिरारी (ललितपुर) हैं, जिनकी सीमाएं परस्पर सटी हुई हैं।

विवाह के रतजगे का लोकगीत सतगठा है, जिसमें पितर-पूर्वज देवी-देवताओं का उल्लेख है। जिले का सतगता (ललितपुर) गांव इस लोकगीत का मधुर स्मरण है। सतगता शक्तावतों की सतियों का स्थल भी संभव हो सकता है। भील आदिवासियों में प्रचलित झूमर नृत्य जिले के झूमरनाथ (तालबेहट) स्थान से साम्य रखता है। यह करमा नृत्य का एक भेद है। सात अप्सराओं को सती आसरा कहा गया। इसके नाम पर जिले के असउपुरा (तालबेहट) तथा गैर आबाद ग्राम असौरा (महरौनी) हैं।

प्रसिद्ध गणितज्ञ एवं समाज विज्ञानी डॉ डी डी कोसंबी ने अपनी पुस्तक 'मिथक और यथार्थ' में भारत की सांस्कृतिक संरचना का अध्ययन किया है। इस पुस्तक में एक स्वतंत्र अध्याय मातृदेवी पूजास्थलों के अध्ययन पर है, जिसके अनुसार मातृदेवियां असंख्य हैं। इनमें से बहुतों का उल्लेख वर्गबद्ध या समूहबद्ध रूप से हुआ है, खास नाम से नहीं। उनमें प्रमुखतम हैं- मावलाया, जो अप्सराएं (जलदेवियां) हैं और जिनका उल्लेख सदैव बहुवचन में ही होता है। सातवाहन अधिकार क्षेत्र में मामालहार और मामले का उल्लेख है। मातृदेवी पूजा प्रचलन के कारण क्षेत्र का नाम मावल पड़ गया। यह नाम दो हजार वर्ष से भी पहले से ज्ञात है। गढ़ी हुई मूर्तियां जैसी उनकी कोई प्रतिमाएं नहीं हैं। उनके प्रतीक हैं सिंदूर लगे बहुतेरे अनगढ़ छोटे-छोटे पत्थर, या तालाब के किनारों पर, या चट्टान पर, या पानी के समीप किसी पेड़ पर लगे लाल निशान। ललितपुर जनपद का गांव मावलैन (तालबेहट) इन्हीं मातृदेवियों का प्रतीक अभिधान है।

डॉ कोसंबी ने लिखा है ये देवियां हैं तो माताएं (मातृदेवियां) किंतु अविवाहित हैं। जिस समाज में इनका उद्भव था, उसकी दृष्टि में किसी पिता का होना आवश्यक नहीं था। अतः यह स्पष्ट है कि उस समय का समाज मातृसत्तात्मक था। आगे चलकर इनका विवाह किसी पुरुष देवता से होने लगा। विशेष बात यह है कि इन मातृदेवियों की पूजा आज भी महिलाओं द्वारा ही की जाती है, भले ही पुरोहितगण पुरुष हों। गांवों में रक्तबलियां देने का रिवाज रहा किंतु जहां-कहीं ऐसी पूजा ब्राह्मणीकृत हो गयी अर्थात् तत्संबद्ध देवी का एकात्म्य किसी पौराणिक देवी से कर दिया गया, वहां बलि पशु को देवी के सामने नहीं काटा जाता, देवी को उसका दर्शन भर करा देते हैं और तब उसे कुछ दूर ले जाकर काटते हैं। यद्यपि अब इस पद्धति का भी अधिकांश जगहों पर ब्राह्मणीकरण हो गया है।<sup>4</sup>

इल-इला पौराणिक उपाख्यान से पता चलता है कि नवरात्र के दौरान महाराष्ट्र के आदियुगीन वननिकुंजों में मूलतः पुरुषों का प्रवेश बिल्कुल निषिद्ध था, क्योंकि जो पुरुष प्रवेश करता उसे स्त्री में बदल दिया जाता। अब स्थिति उलट गई

है। पुरोहिताई के प्रवेश से अब नवरात्रों में महिलाओं का प्रवेश निषिद्ध हो गया है। जनपद के चौरसिल (ललितपुर) तथा भौरसिल (ललितपुर) स्थान-नाम इल-इला नामक उपाख्यान का स्मरण हैं।

मातृदेवियों की पूजा प्रारंभ में पूजा के पाषाण के उपर कोई छाया या छत न रखकर तथा खुला आसमान रखकर की जाती थी। मान्यता थी कि उसके उपर छत डाल देने से पथभ्रष्ट पुजारी पर भारी विपत्ति आ पड़ती है, लेकिन गांववाले जब पर्याप्त धनी हो जाते तब प्रायः देवी को मनाकर इसके लिए राजी कर लेते। अतः डॉ कोसंबी के अनुसार यह पूजा पद्धतियां उस ज़माने की हैं जब घर बनाने का चलन नहीं था और जब गांव चलते-फिरते हुआ करते थे। इससे एक प्रबल संभावना बनती है कि इन पूजा प्रतीकों के नाम पर ही स्थानों के नाम रखे गए।

बस्तियां बसने के समय गांव के लोग भूस्वामित्व नहीं रखते थे। गांव बनने के समय भरपूर लौह उपकरण ईजाद नहीं हुए थे। ज़मीन हल से जोती नहीं जाती थी। अतः कितों (नियत प्लाट) में ज़मीन नहीं बंटी थी। वैसे भी जंगली लोगों के लिए ज़मीन अमलदार(अस्थाई अधिकार) होती है, संपत्ति नहीं। गांवों में स्थानीय देवताओं, आत्माओं तथा भूत-प्रेतों को तुष्ट करने की प्रथा थी। हर आदमी को सात या नौ दिन के लिए गांव की आवासीय सीमा से बाहर जाकर रहना पड़ता था और इस अरसे में बस्ती बिल्कुल वीरान हो जाती थी। इस प्रकार तब गांव चलती-फिरती बस्तियां हुआ करती थीं। यमाई देवी यदि प्रसन्न नहीं है तो दुःस्वप्न देकर सोना हराम कर देती है। अतः गांव वाले उसे मुर्गा या आम तौर पर नारियल चढ़ाते हैं। इसके बावजूद गांवों में इस देवी का कोई मंदिर नहीं मिलता। ललितपुर जनपद का जमौरा (महरौनी) तथा जमौरामाफी (तालबेहट) इस मातृदेवी का स्मरण हैं।

आदिवासी लोकमाताओं की एक कहानी है कि बाघा भील की कन्या बुधली अपने समय की सबसे सुंदर और साहसी कन्या थी। उसकी सुंदरता और वीरता का बखान पूरे अरावली पठार पर होता था। उसका मुख्य हथियार 'दाव' या 'डाव' था।<sup>5</sup> जिले के दावनी (ललितपुर) तथा दांवर (ललितपुर) गांव इस हथियार से अनुकृत प्रतीत होते हैं। महिषासुरमर्दिनी का मुख्य हथियार भी यही खड्ग (दाव) है। बुंदेलखंड का वर्तमान हंसिया या दांती दाव ही है। पाणिनिकालीन भारतवर्ष के अनुसार उदीच्य देश में दाव को दात्र तथा प्राच्य देश में दाति कहा जाता था।<sup>6</sup>

लोकमाताओं से संबंधित एक कथा के अनुसार भीलनायक संभा एक वीर योद्धा था। किसी युद्ध में मर जाने पर वह आकरा भैरव बन गया। उसकी स्थापना माता के स्थान से नीचे तल में की गई। संभा अपने जीवन काल में खोह माता का दर्शन करता। रविवार को बकरे की बलि करता। दारू की धार रोज लगाता। दारुतला (महरौनी) गांव इसी का

प्रतीक स्मरण कराता है। देवदारु, पीतदारु नाम के वृक्ष भी होते हैं, किंतु ललितपुर के पठारी भूभाग तथा शुष्क जलवायु में यह वृक्ष नहीं पाए जाते हैं। संभा को जब भाव आता तो वह उत्पात मचाता हुआ माता के देवरे की तरफ भागता। महरौनी तहसील के ही देवरा तथा देवरी नामक स्थानों पर वह माथा टेकता। वह बड़ी-बड़ी सांकलें लेकर अपने बदन पर मारता, जिससे उसे सांकलिया भैरव कहा गया। स्वयं माता ने बाद में उसे सांकरिया अर्थात् शांत भैरव बनाया, तब से उसने अपना स्थान कायम किया। शांत भैरव के नाम से ललितपुर तहसील के सांकरवार कलां एवं सांकरवार खुर्द गांव अनुकृत प्रतीत होते हैं। भैंसाई (महिषासुरमर्दिनी) माता का स्थान स्वयं संभा ने बनवाया। माता का देवरा उसके पूर्वजों का बनाया हुआ था। पहले यह मूर्ति पठार की शिला पर रखी थी। संभा नायक ने उसे पक्का चबूतरा बनवाकर स्थापित करवाया। ललितपुर तहसील का चौतराघाट गांव इसी माता के चबूतरे की याद में बसाया गया। माता के खप्परो (छप्पर) को जहां झुलाया जाता, वे स्थान वर्तमान में महरौनी तहसील के छपरट, छपरौनी, छापछौल कहे गये।

महरौनी तहसील के अमौदा, अमौरा गांव माता अंबा की याद में बसाए गए स्थान हैं। इन स्थान-नामों में मुख्य शब्द अंब है जो आम की अनुकृति प्रतीत होने लगा। महरौनी तहसील के स्थान बारई, बारयो, बारचौन, बारौन इत्यादि वराह पूजा के कारण बसे। विष्णु के वर्तमान पूजित रूपों से पूर्व जिले में वराह की पूजा की जाती रही। जिले के अनेक स्थानों से वराह के कई रूपों की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।

तालबेहट तहसील का भंवरकली स्थान भ्रामरी (भंवर) माता के नाम पर बसा है। भ्रामरी माता पुराण देवी के रूप में लोकमान्य हैं। दुर्गासप्तशती के 11वें अध्याय में भ्रामरी देवी को असुरमर्दिनी और लोकहितकारिणी माता के अवतार रूप में उल्लिखित किया गया है। जनजातियों की गेय गाथाओं में भी भ्रामरी या भंवर माता का उल्लेख मिलता है। जिले के भौरसिल (ललितपुर), भौरट (महरौनी) इत्यादि स्थान-नाम भी भंवरमाता की आस्था को जीवित रखे हुए हैं।

गोरा (ललितपुर) गांव लोकजीवन में गौरी माता को लाड़-दुलारवश पूजने की याद में बसा स्थान है। आदिवासी समुदाय की यह आस्था देवी है। जिस प्रकार पुराण देवी महिषासुरमर्दिनी लोक में भैंसासरी या भैंसाई माता है, उसी प्रकार हमारी जगमाता पुराणों में पार्वती, गौरी या गिरिजा हैं और लोकमाता के रूप में वह गौरी।

भैंसाई माता के जगह-जगह स्थान हुआ करते थे। घाटा नामक स्थान पर इस माता का निवास होने के कारण जिले का घटवार (ललितपुर) गांव बसा है। सड़कोरा (महरौनी) स्थान साड़ा माता के आधार पर बसा है। साड़ा माता का मंदिर हाड़ा जागीरदारों द्वारा बनवाया गया। हाड़ा राजपूतों को महिषासुरमर्दिनी का इष्ट था। इस प्रकार साड़ा माता भी भैंसाई माता का अन्य स्वरूप है। यों भी लोकमाताएं अतिनिकट का संबंध रखती हैं। इनमें कोई छोटी या बड़ी नहीं हैं।

अपने मूल रूप में यह लोककल्याणकारी समझी गई। पीपरी माता के नाम पर ललितपुर तहसील के पिपरई, पिपरौनियां, पिपरिया; तालबेहट तहसील के पिपरा, पिपरई तथा महरौनी तहसील के पिपरट, पिपरिया इत्यादि गाँव बसे हैं। पीपल का वृक्ष पवित्र माना गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण वृक्ष है क्योंकि इससे मनुष्यों हेतु आवश्यक ऑक्सीजन गैस सर्वाधिक निःसृत होती है। लोकमाता पीपरी सुहाग-पूत की रखवाली करती हैं। रोग-शोक सभी दूर करती हैं। पीपरी माता व नौ वीरांगनाओं ने अपने प्राण देकर शरणागतों तथा अपने राजपरिवार की प्राणरक्षा में प्राण न्यौछावर कर दिये थे।

तालबेहट तहसील का हिंगौरा गाँव हिंगलाज माता के स्मरण में बसा है। हिंगलाज माता का मूल स्थान अफगानिस्तान के कोटड़ी में है। वहाँ आज भी इसकी पूजा एक अफगान परिवार करता है। यह मुसलमान परिवार चोगला-चारणों का मूल बताया जाता है, जिसने अपना धर्म-परिवर्तन कर लिया था। वहीं से किसी समय 'जोत' (ज्योति) लाकर भारत के अन्य भागों में हिंगलाज माता के देवरे और मंदिर स्थापित किए गए। एक विरद के अनुसार हिंगलाज माता को आदिशक्ति का प्रथम अवतार माना गया है। अफगान में हिंगलाज माता की पूजा कन्या ही कर सकती है। पूजा करने वाले परिवार का मुखिया कोटड़ी का पीर कहलाता है। ऊमर (गूलर) की माता के नाम पर ऊमरी (महरौनी) तथा भादवा माता के कारण भदौरा (महरौनी), भदौना (तालबेहट) स्थान बसे हैं। भादवा की माता बीजासन माता का रूप मानी गई हैं। लोकमान्यता में 'बीजासन' को दुर्गा का बीसवां रूप माना गया है।

तारवली माता या खेतरमाता को ओकड़ी या होकड़ी माता के नाम से भी जाना जाता है। यह माता शंखोद्धार तीर्थ पर स्थित देवी थी। भील समुदाय इस माता को विशेष रूप से पूजता रहा है। तरावली (महरौनी) गाँव इसी माता का स्मरण है। मोड़ शिखर निर्माण की एक अभियांत्रिक युक्ति है। मोड़ शिल्प के कारण जिले के स्थान मुड़ारी (ललितपुर) तथा मुड़िया (महरौनी) स्थापित हुए। मनगुवां (ललितपुर) गाँव आदिवासी समूह मीणा के नाम पर बसा संभव है। महरौनी तहसील के पड़वां एवं धवारी ग्राम एक-दूसरे के निकट बसे हैं। धवारी ग्राम के श्रीराम मिश्रा के अनुसार पड़वां कृष्ण की सेना का पड़ाव था तो धवारी में ध्वजा गाड़कर युद्धस्थल बनाया गया, जिससे यह ध्वजाई अब धवारी हो गया। ध्वजाई में पुतली माता की पुतरिया है जो एक शिला पर बनी है। इस पुतरिया के सिर पर पांच नाग फन फुलाए खड़े हैं। पुतरिया के सिर पर कलगी या साफा लगा है। इसके मध्य भाग में एक अन्य मूर्ति है जो अपनी जंघा पर किसी को बिठाए हुए है। नीचे एक खड़ी हुई मूर्ति आगे को पैर बढ़ाती हुई धनुष लिए है। अब यहाँ एक मड़िया बना दी गई है। मान्यता है कि इस मूर्ति के दर्शन से बालकों का सूखा रोग ठीक हो जाता है। इसके पास बसे ग्राम का नाम बीर पशु चरागाह रहने के कारण पड़ा। इसके निकट के ग्राम सुनवाहा बाणासुर-पुत्री उषा का महल शोणितपुर था। बाणासुर के नाम पर बसा गाँव बानपुर यहाँ से तीन किमी दूरी पर स्थित है।



कंथा जिसके आधार पर कैथोरा (ललितपुर) गांव स्थापित होना संभव है। मूलतः शक भाषा के इस शब्द का अर्थ नगर होता है। देश में कुछ स्थानों पर यह शब्द परपद के रूप में स्थान नामों से संयुक्त है। इकौना (महरौनी) इक्षुवण (गन्ने का वन) का भाषा परिवर्तन है। सिरसी (तालबेहट) शिरीषवन के कारण बसा। सिंधु प्रांत या सिंध नद के निचले कांठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजधानी रोरुव थी। ललितपुर जनपद का रारा (तालबेहट) गांव इससे अनुकृत प्रतीत है। सौवीर जनपद का सीधा संबंध इस जनपद से विदित नहीं है किंतु रारा से मिलते-जुलते अभिधान प्रदेश के अन्य जिलों रूरा (महोबा), रूरा (कानपुर), रूरा-अड्डू (जालौन) में भी मिलते हैं। भोंड़ी (महरौनी) गांव का संबंध भृगुकच्छ से संभव है। ब्राह्मणक जनपद की तरह शौद्रायण लोग भी सिकन्दर से लड़े थे। शौद्रायण का यूनानी रूप सोडराई होता है। ललितपुर तहसील का सूडर गांव का संबंध इसी से प्रतीत है। भौगोलिक स्थिति के अनुसार ललितपुर जनपद भारत के मध्य में है। पूर्वोत्तर के राज्यों को छोड़कर देश के चारों कोनों के रास्तों का यदि मध्य बिंदु तलाशना हो तो ललितपुर जनपद का भूभाग इसमें आएगा। भारत का वर्तमान राष्ट्रीय राजमार्गों का चतुर्भुज भी इसी के आसपास बनता है। अतः यहां संस्कृति में हुए चतुर्दिक परिवर्तनों का प्रभाव दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है।

चीमना (ललितपुर) गांव बौद्ध पृष्ठभूमि के चीवर का संकेत करता है। यह वस्त्र बौद्ध भिक्षुओं को पहनाते हैं। गृहस्थ या ब्रह्मचारी के वस्त्रों के लिए चीवर नहीं चलता था।

जिजरवारा (तालबेहट) स्थान-नाम का संबंध गालव ऋषि से प्रतीत होता है। शैशिरि शाखा में गालव को शौनक का और शाकटायन को शौशिरि का शिष्य कहा गया है। कठवर (तालबेहट) जिजरवारा के निकटस्थ बसा ग्राम है। पाणिनि ने कठों का स्वतंत्र उल्लेख किया है। कठ लोग गांव-गांव में फैल गए थे (ग्रामे-ग्रामे च काठकं कालापकं न प्रेच्यते, भाष्य 4/3/101)। मेगस्थनीज ने पंजाब में कंबिस्थोलोइ लोगों का उल्लेख किया है, जिनके देश में इरावती नदी बहती थी। ज्ञात होता है कि कपिष्ठलों का प्रदेश इरावती के आसपास के भूभाग में कठों के समीप ही था। कठों ने वहीं पर अपने प्रदेश में जाते हुए सिकंदर का मार्ग रोका था।<sup>7</sup> इन कठों के नाम पर संपूर्ण बन्देलखंड में अनेक स्थान-नाम प्राप्त होते हैं।

कठों के अतिरिक्त जनपद ललितपुर सहित भारतवर्ष के अनेक भागों में मर, भर, जर संस्कृति का उल्लेख मिलता है, किंतु 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में इनका उल्लेख नहीं है। भर हिन्दुओं की एक अस्पृश्य जाति मानी जाती थी। यह जाति उ्ार प्रदेश के पूर्वी जिलों में रहती थी।<sup>8</sup> भारशिव नाग राजा थे। वे शिव की उपासना करते थे। जिले के भारौनी (महरौनी) इत्यादि स्थान-नाम इस जाति का संकेत करते हैं। 'बुंदेली-भाषी क्षेत्र के स्थान-अभिधानों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन' (डॉ कामिनी)के अनुसार पुराण प्रसिद्ध मुर दैत्य एवं गहोई वैश्य जाति का एक आंकना

‘मर’ है। मर जाति का संकेत करते स्थान-नाम मर्राेली (महरौनी) तथा जर जाति से संबंधित जरया (महरौनी) तथा जरावली (महरौनी) इत्यादि हैं। जर जाति से संबंधित ललितपुर जनपद के इन गांवों में तीन-चौथाई से अधिक लोधी जाति के व्यक्ति निवास करते हैं। डॉ कामिनी ने बुन्देलखण्ड के स्थान-अभिधानों के रूप में मौजूद ऐतिहासिक जर जाति के अवशेषों को लोधियों के जरिया वर्ग से संबंधित बताया है। मग ईरान निवासी सूर्यपूजक थे, जो कृष्ण के पुत्र शांब द्वारा चन्द्रभागा तट पर सूर्य मन्दिर की प्रतिष्ठा के लिए बुलाए गए थे। बुद्ध इन शकद्वीपी ब्राह्मणों को अच्छा नहीं मानते। बुन्देलखण्ड से होते हुए मग दक्षिण की ओर गए हैं। ललितपुर तहसील का मगरवारा इस जाति का संकेत करता है। कुरु चंद्रवंश में उत्पन्न परम धार्मिक तथा महाप्रतापी थे। ‘प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास’ (डॉ रांगेय राघव) के अनुसार कुरु के पिता ने जिस प्रदेश में तप किया उसका नाम कुरुजांगल और कुरुक्षेत्र होने का उल्लेख है। कुरुक्षेत्र के अंतर्गत दृषद्वती, सरस्वती और आपया नदियों के उल्लेख हैं। कुरुओं के शैव होने के प्रमाण भी मिलते हैं। जिले की महरौनी तहसील के कुरौरा, कुर्रट इत्यादि गांव कुरु नामकरण के आधार हैं। राजपूताने की ओर बसने वाली मेवजाति का संबंध भी इस भूभाग से रहा है। महोली (ललितपुर) उच्चरित रूप मेवली मेव जाति पर आधारित है। तुगलक काल में इन्हें आतंककारी और लुटेरा बताया गया है। इन्हें पहली बार शिवाजी ने संगठित कर औरंगज़ेब के विरुद्ध उतारा था। यह अंग्रेजों की रसद लूट लेते थे और दुस्साहस तथा चतुराई के लिए प्रसिद्ध थे। लार्ड वेलेजली ने इन्हें समाप्त करने का बीड़ा उठाया था।

इस प्रकार सभ्यता के प्रारंभिक युग में अधिकांशतः आदिवासियों द्वारा रखे गए स्थान-नाम शेष समाज द्वारा स्वीकृत ही नहीं किए गए, वरन् वह पीढ़ी दर पीढ़ी व्यवहार्य बने हुए हैं। स्थान-नामों पर आदिवासियों का यह सांस्कृतिक प्रतिबिंब अनूठा और अप्रतिम है, जिसके अध्ययन और अनुसंधान के बाद कई और भी अनजाने पहलू प्राप्त हो सकते हैं।

संदर्भ-स्रोत-

1 नाम विज्ञान, डॉ चितरंजन कर, पृ 195, विवेक प्रकाशन, रायपुर प्रथम संस्करण 1982

2 चौमासा, जुलाई-अक्टूबर 2008 संपादक डॉ कपिल तिवारी, आदिवासी लोककला एवं तुलसी अकादमी भोपाल, डॉ महेंद्र भानावत का आलेख ‘भारतीय देववाद उद्भव और विकास’ , पृ 21-22

3 मिथक और यथार्थ, डॉ डी डी कोसांबी, अनुवादक डॉ नंदकिशोर नवल, पृ 113 ग्रंथशिल्पी दिल्ली हिंदी संस्करण द्वितीय 2001

4 मिथक और यथार्थ, डॉ डी डी कोसांबी, अनुवादक डॉ नंदकिशोर नवल, पृ 118

5 भीली लोकमाताएं, डॉ पूरन सहगल, संपादक डॉ कपिल तिवारी, पृ 38 आदिवासी लोककला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद् भोपाल 2009

6 पाणिनिकालीन भारतवर्ष, डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ 199 चौखंबा विद्याभवन वाराणसी , तृतीय संस्करण 1996

7 पाणिनिकालीन भारतवर्ष, डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ 213

8 <http://www.pustak.org/bs/home.php?mean=59431> searched on 25-10-2014

भारतीय संस्कृति और समाज में साझा प्रतिबिंब विषय पर दिनांक 7-8 दिसंबर 2014 को आयोजित सेमिनार में प्रस्तुत एवं 'संधान' में प्रकाश्य

## राम भक्ति साहित्य में स्त्री विमर्श

(तुलसी साहित्य के विशेष संदर्भ में)

प्रचलित अर्थों में स्त्री द्वारा स्त्री के बारे में स्त्री के लिए किया गया साहित्य सृजन स्त्री विमर्श कहा जाता है। राम भक्ति साहित्य में स्त्री के बारे में और स्त्री के लिए प्रचुर लेखन हुआ है। इस संगोष्ठी के आयोजकों द्वारा यह विषय रखे जाने का आशय मेरे विचार से राम भक्ति साहित्य में चित्रित स्त्री विषयक लेखन से है। राम भक्ति साहित्य के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं। तुलसी के बारह ग्रंथ प्रामाणिक हैं, किंतु इनमें से श्रीरामचरितमानस तुलसी का ही नहीं, अवधी और हिंदी का भी नहीं; वरन् संपूर्ण भारतीय साहित्य के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथों में से एक है। इसीलिए इसका विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। तुलसी के अन्य प्रमुख ग्रंथ विनय पत्रिका और कवितावली हैं।

स्त्री विषयक लेखन की दृष्टि से रामचरितमानस ऐसी कृति है, जिसमें तुलसी के स्त्री विषयक दृष्टिकोण की बहुधा आलोचनात्मक विवेचना की गई है। यहां उल्लेखनीय है कि रामचरितमानस की कथा में आए उदाया और इष्ट स्त्री पात्रों को तुलसी न आदर्श रूप में चित्रित किया है, किंतु खल स्त्री पात्रों को तुलसीदास अधम और पतित रूप में चित्रित करते हैं। इसके अतिरिक्त कथा में जहां कहीं स्त्री निंदा की गई है, वह तुलसी के भक्ति-भाव के कारण है। भक्ति के परंपरागत स्वरूप में स्त्री को कामिनी, अपावन और बाधक माना गया है। मानस में चित्रित स्त्री निंदा अधिकांशतः शास्त्रवादी आग्रह के चलते हुई है। परंपरागत रूप में स्त्री को वेदकाल और मनुकाल तक पूजनीय समझा गया-

यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रभंते तत्र देवता। यत्रैतास्तु न पूज्यंते सर्वास्तत्राऽफला क्रियाः ॥

किंतु जैसा कि प्रायः समझ लिया जाता है, इस श्लोक में सर्वत्र स्त्री को पूजनीय नहीं कहा गया, अपितु आशय है कि जहां स्त्री सुखी रहे, वहां प्रसन्नता व्याप्त रहती है। यत्र और तत्र अर्थात् जहां और वहां पद यहां शर्तबोधक हैं। बाद में भक्त और संत कवियों ने स्त्री को सर्वथा निंदनीय कहकर भर्त्सना की है।

कबीर-

नारी की झाँई परत अंधा होत भुजंग।

कबिरा तिनकी क्या गति जो नित नारी के संग॥

सुंदरदास-

कुच है पहारा जहां कामचोर रहै तहां

साधि के कटाक्ष बाण प्राण को हतु हैं

सुंदर कहत एक और डर अति तामें

राक्षस बदन षाउं षाउं ही करत हैं।

तुलसी साहित्य में चित्रित स्त्री संवेदना पर विचार करते हुए डॉ रामकुमार वर्मा कहते हैं- “तुलसीदासजी ने नारी जाति के प्रति बहुत आदर-भाव प्रकट किया है। पार्वती, अनुसुइया, कौशल्या, सीता तथा ग्रामबधू आदि की चरित्र रेखा पवित्र और धर्मपूर्ण विचारों से निर्मित हुई है। कुछ आलोचकों का कथन है कि तुलसीदास ने नारी-जाति की निंदा की और उन्हें ढोल, गंवार की कोटि में रखा, परंतु मानस पर निष्पक्ष दृष्टि डाली जाए तो विदित होगा कि नारी के प्रति भर्त्सना के ऐसे प्रमाण उसी समय उपस्थित किए गए जब नारी ने धर्म विरोधी आचरण किए।’ ’ कुछ नवचिंतक स्त्री, ढोल, गंवार आदि को तुलसी द्वारा ताड़ना के अधिकारी कहे जाने की व्याख्या मारने के अर्थ में नहीं, अपितु पहचानने के अर्थ में करते हैं। ऐसी प्रगतिशीलता से यह तो स्पष्ट ही है कि हमारा समाज इन्हें मारने के अर्थ में नहीं ले रहा है।

मिश्र बंधुओं की मान्यता है कि राम से संबंधित नारियां तो सुंदर और पवित्र हैं किंतु शेष नारियां जड़, अपावन तथा स्वतंत्रता के अयोग्य हैं। कुछ साहित्यकारों का अनुमान है कि नारी संपर्क के अभाव के कारण ही ऐसा हुआ है। गोस्वामीजी को न तो जननी का वात्सल्य मिला था और न नहीं स्त्री का प्यार।<sup>1</sup>

डॉ देवीशरण रस्तोगी ने तुलसी की मूलचेतना का प्रश्न उठाते हुए कहा है कि पात्रों की अच्छाई-बुराई की उनके पास एक ही कसौटी है- रामभक्ति और उस भक्ति का साधन श्रुतिसम्मत होना चाहिए। नारी रूप के चित्रांकन में भी इसी भावना का हाथ रहा है। तुलसी ने नारी के काम से युक्त लावण्य और आकर्षण शक्ति से भयभीत होने के कारण संतों और ज्ञानियों की भांति निंदा की है।

वहीं महात्मा गांधी कहते हैं कि गोस्वामीजी ने स्त्रियों पर अनिच्छा से अन्याय किया है। अन्यथा उनकी दृष्टि तो इतनी व्यापक रही है कि उनके ही शब्दों में-

राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी।।

एक नारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।।

रामचरितमानस की कथा चित्रित करते समय तत्कालीन समाज में स्त्री की ब्यथा का पूरा ध्यान संज्ञान लिया गया है। परिवार में स्त्री पराधीन थी। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री की दयम स्थिति पर तुलसी को क्षोभ था। स्त्री की बंदिनी और दयनीय दशा को देखकर ही उन्होंने कहा-

कत बिधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं।।

और

बहुरि-बहुरि भैंटहिं महतारीं। कहहिं बिरंचि रचीं कत नारीं।।

तुलसी ने मानस में श्रीराम द्वारा बाली के प्रति कहलवाया है कि छोटे भाई की स्त्री, बहिन, पुत्र की स्त्री और कन्या - ये चारों समान है। इनको जो कोई बुरी दृष्टि से देखता है, उसे मारने में कुछ भी पाप नहीं होता-

अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी।।

इन्हिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई।। किष्किंधाकांड 8/4

स्त्री पुरुष को किस प्रकार सन्मार्ग दिखाती है और पुरुष उसे कैसे धता बताता है। मानस में इस प्रकार के प्रसंग आते हैं। पत्नी मंदोदरी की सीख रावण नहीं मानता है। सुग्रीव की पत्नी को रखे जाने पर पत्नी द्वारा मना किए जाने पर भी बाली नहीं मानता है, भगवान राम द्वारा बाली का बध किए जाने के समय बाली के पूछने पर राम स्मरण कराते हैं-

मूढ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।। किष्किंधाकांड 8/5

पिता जनक सीता को तपस्विनी वेश में देखकर विशेष प्रेम और संतोष करते हैं, वे कहते हैं'

पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ।। अयोध्याकांड 286/1

रामचरितमानस में कथा का उपराम होने के बाद उर्ारकांड में तत्कालीन भारत की सामाजिक दशा का यथार्थ चित्रण किया गया है। इस अध्याय का नाम इसीलिए उर्ारकांड हुआ कि व्यक्ति की समस्त प्रश्नाकुलताओं का यहां उपशम किया गया है। काकभुशुंडि गरुड़ संवाद में काकभुशुंडि अपने पूर्व जन्म की कथा सुनाते हुए कहते हैं कि कलियुग पापों का मूल है। स्त्री और पुरुष के संबंध में उर्ारकांड में बहुत सी बातें की गई हैं, जो किसी कथा-पात्र द्वारा नहीं, अपितु मानस के अलग-अलग चार कथावाचकों में एक काकभुशुंडि द्वारा कही गई हैं। कलियुग और उसके प्रभाव वर्णन में स्त्री संबंधी पदों का आशय इस प्रकार है-

कलियुग में सभी मनुष्य स्त्रियों के विशेष वश में हैं और बाजीगर के बंदी की तरह (उनके नचाए) नाचते हैं। सुहागिनी स्त्रियां तो आभूषणों से रहित होती हैं, पर विधवाओं के नित्य नए शृंगार होते हैं। जो पराई स्त्री में आसक्त, कपट करने में चतुर और मोह, द्रोह और ममता से लिपटे हुए हैं, वे ही मनुष्य अभेदवादी (ब्रह्म और जीव को एक बताने वाले) जानी हैं। कुलवती और सती स्त्री को पुरुष घर से निकाल देते हैं और अच्छी चाल को छोड़कर घर में दासी को ला रखते हैं। पुत्र अपने माता-पिता को तभी तक मानते हैं, जब तक स्त्री का मुंह नहीं दिखाई पड़ता। जब से ससुराल प्यारी लगने लगी, तब से कुटुंबी शत्रु रूप हो गए। स्त्रियों के बाल ही भूषण हैं (उनके शरीर पर कोई आभूषण नहीं रह गया) और उनको भूख बहुत लगती है (अर्थात् वे सदा अतृप्त ही रहती हैं)। वे धनहीन और बहुत प्रकार की ममता होने के कारण दुखी रहती हैं। क्या स्त्री और क्या पुरुष सभी शरीर के पालन-पोषण में ही लगे रहते हैं-

तनु पोषक नारि नरा सगरे।

स्त्री विमर्श में आज मोटे तौर पर तीन तरह के रूप दिखाई पड़ते हैं। एक; जिसमें स्त्री की अधिकाधिक आर्थिक स्वतंत्रता पर बल दिया जाता है। दूसरे में स्त्री और पुरुष दोनों की सहमति और सहयोग से स्त्री सशक्तीकरण किया जाता है। तीसरा प्रकार ऐसे विमर्शकारों का है जो अपनी दैहिक स्वतंत्रता की घोषणा करते हुए तदनुसार जीवन जीने

की हामी हैं। यह तीसरा प्रकार स्त्री विमर्श का अतिवादी रूप है, जिसकी कुछ व्याख्याओं से तुलसी की यह स्थापनाएं मेल न खाती हों, पर आज समाज का एक बड़ा हिस्सा तुलसी के आदर्श को श्रेयस्कर मानता है। जिस तरह पुरुषवाद समाज के लिए अभीष्ट नहीं, उसी तरह स्त्रीवाद भी किसी समाज के लिए कैसे उपयुक्त हो सकता है? वस्तुतः दांपत्य के जिस आदर्श रूप को तुलसी ग्राह्य समझते थे, उसे उनकी 'कवितावली' के इस पद में देखा जा सकता है-

जल को गए लकखनु, हैं लरिका,

परिखौं पिय! छांह घरीक हवै ठाढ़े।

पौछि पसेउ, बयारि करौं,

अरु पाय पखारिहौं भूभुरि-डाढ़े।।

तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै

बैठि विलंब लौं कंटक काढ़े।

जानकी नाह को नेहु लख्यो

पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े।। कवितावली 2/12

डॉ रामप्रसाद मिश्र इस पद पर विचार करते हुए कहते हैं "संसार-साहित्य में पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम, संवेदन एवं तादात्म्य का इतना सुंदर, पावन एवं प्रेरक चित्रण कहीं नहीं प्राप्त होता। कोमलतम-सुंदरतम सीता कठोरतम-अनुपयुक्ततम वनपथ पर चलते-चलते थक गई हैं। कवितावली के ग्यारहवें पर में सीता पर्णकुटी कहां बनाएंगे प्रश्न करती हैं, प्रिया की कठिनाइयों को समझकर भगवान राम की आंखों से आंसू झरने लगते हैं-

तिय की लखि आतुरता, पिय की अंखियां अति चारु चलीं जल चवै।

पति को लक्ष्य प्राप्ति में बाधा न पहुंचे। इसीलिए सीता जल लाने गए लक्ष्मण की प्रतीक्षा के मिस विराम का आग्रह करती हैं। 'लरिका' की भावशबलता में शालीनता, संवेदन, सहयोग, वात्सल्य, स्नेह इत्यादि भावों की व्यंजना अनायास ही मर्म का स्पर्श कर जाती हैं। राम ने विराम ही नहीं किया, प्राणप्रिया के शरीर में चुभे कंटक निकालने के प्रेम-संपन्न बहाने से बहुत देर तक रुके भी रहे। इसे डॉ मिश्र दांपत्य का अपवर्ग कहते हैं, जहां से पतन संभव नहीं।<sup>2</sup>

सीता और राम का प्रेम कोरा और वायवी नहीं, वरन् वे दोनों पूर्ण कर्मपाकी और लोकसंग्रही प्रेम में संलग्न हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है "राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दण्डकारण्य के विस्तृत कर्मक्षेत्र के बीच दिखाया है। उनका प्रेम जीवन यात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलाने वाला है, उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भरने वाला नहीं। उसके प्रभाव से वनचर्या में एक अद्भुत रमणीयता आ गई है। सारे कटीले पथ प्रसूनमय कोमलांगी सीता अपने प्रिय की विशाल भुजाओं और कंधे के ऊपर निकली हुई धनुष की वक्रकोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही है। खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती आ रही है। राम कुछ मुस्कराकर एक बार प्रेमभरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं, फिर वीर दर्प से राक्षसों की

ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीर दर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा। सीताहरण होने पर राम का वियोग जो सामने आता है, वह भी चारपाई पर करवटें बदलने वाला नहीं है, समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतारने वाला है।<sup>3</sup>

राम भक्ति साहित्य का एक अन्य प्रमुख ग्रंथ 'साकेत' है, जिसके एक प्रसंग में मैथिलीशरण गुप्त ने लक्ष्मण को उर्मिला का दास चित्रित किया है। इस पर बड़ा सतर्क उर्ार उर्मिला की ओर से दिया जाता है-

दास बनने का बहाना किसलिए?

क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए?

देव होकर तुम सदा मेरे रहो

और देवी ही मुझे रक्खो अहो!<sup>4</sup>

संदर्भ-स्रोत-

1 तुलसीदास- एक विशेष अध्ययन, संपादक डॉ त्रिलोकीनाथ श्रीवास्तव एवं डॉ गंगासहाय प्रेमी, पृ0 103, हरीश प्रकाशन मंदिर, आगरा, संस्करण 1992

2 तुलसी साहित्य के सर्वोाम अंश, डॉ रामप्रसाद मिश्र, पृ 192-193, जीवन ज्योति प्रकाशन, दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण 1988

3 चिंतामणि (भाग 1), लोभ और प्रीति, पृ 59, हिंदी साहित्य सरोवर आगरा, जनवरी 1992

4 साकेत, प्रथम सर्ग

केईएस श्राफ कालेज कांदिवली मुंबई में दिनांक 15-16 दिसंबर 2014 को आयोजित अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार की 'भक्ति साहित्य में स्त्री' में प्रकाश्य पुस्तक हेतु प्रस्तुत



## जनपदीय साहित्य एवं इतिहास का अनूठा दस्तावेज़ -

### ‘विद्रोही की आत्मकथा’

पंजाब का सा शौर्य, राजस्थान का सा पुरातत्व एवं महाराष्ट्र की सी कला-संस्कृति के लिए जानी जाने वाली बुंदेलखंड की गरिमामयी धरती पर पाषाण उपत्यकाओं के बीच प्राकृतिक सुषमा के भी दर्शन होते हैं। यह धरती अनेक कर्मयोगियों की साक्षी बनी है। बुंदेलखंड के पूर्वोत्तर भाग में स्थित जालौन जनपद के सीमावर्ती लघु ग्राम मुहाना में एक ऐसी ही निष्काम कर्मयोगी विभूति पं० चतुर्भुज शर्मा का जन्म हुआ, जिनके जीवन की झांकी को हम उनके उनकी ‘विद्रोही की आत्मकथा’ के आलोक में देख सकते हैं। आत्मकथाकार के शब्दों में ‘यह जीवन-कथा इतिहास नहीं, उपन्यास भी नहीं, केवल संस्मरण नहीं और विशुद्ध घटना-वृत्ता भी। इसमें सबका यत्किंचित सम्मिश्रण है। पर सबसे अधिक उस पुण्य धरती की गरिमा के अभिनंदन की भावना है, जिसने मुझे जन्म दिया, जिसकी गोद मेरे लिए क्रीडांगन बनी और जो मेरे संघर्ष-पोषित जीवन, शांत-प्रशांत पीठिका और अंतर्व्यथा की पटनायिका है।’

आत्मकथा में जनपद जालौन सहित बुंदेलखंड की तत्कालीन जनजीवन की झांकी के साथ-साथ देश में हो रहे राजनीतिक घटनाक्रमों का साक्षी वर्णन हुआ है। गणेश शंकर विद्यार्थी स्मारक शिक्षा समिति कानपुर के तत्कालीन मंत्री और इस पुस्तक के संपादक ने पुस्तक और उसके लेखक के बारे में टिप्पणी की है- ‘राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में उसी के सुख-दुःख, उत्थान-पतन में झकोरे खाता हुआ प्रदेश तथा जालौन जिले में लेखक का जीवन आगे बढ़ता है। इस प्रकार पाठक उस काल के जनजीवन की समस्त झांकी को चित्रपट पर अनायास ही देख लेता है।’ प्राक्कथन या प्रकाशकीय से नहीं, संपादकीय से ही हमें विदित होता है कि लेखक के आत्मप्रचार से दूर रहने के कारण गणेश शंकर विद्यार्थी स्मारक शिक्षा समिति के अनेक आग्रहों के बाद पं० शर्मा जी ने अपनी आत्मकथा लिखना स्वीकार किया था। ‘सबहिं मानप्रद आप अमानी’ तथा ‘मोर सुधारिहि सो सब भांती’ के स्वभाव से संपृक्त शर्माजी अपने को इस संसार का निमित्त मात्र ही मानते थे। आत्माराम एंड संस दिल्ली के प्रतिलिप्यधिकार में 1970 में प्रकाशित इस आत्मकथा के विक्रय से हुई समस्त आय शर्माजी की इच्छानुसार शिक्षा समिति को ही दान कर दी गई थी।

भारत के मूर्धन्य एवं क्रांतिकारी पत्रकार श्री गणेश शंकर विद्यार्थी ने अपने ‘कर्मवीर’ के एक पत्रलेख में शर्माजी को ‘मृत्युंजय’ कहा था।

शर्माजी अनेक वर्षों तक उत्तर प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष तथा सरकार में काबीना मंत्री रहे। प्रदेश के प्रथम मुख्यमंत्री एवं भारत के प्रथम गृहमंत्री पं० गोविंद बल्लभ पंत शर्मा जी को पुत्रवत् मानते थे, इसीलिए शर्माजी ने ‘बांह

गहे की लाज' स्वीकार किया। पंतजी ने महाकवि तुलसी की स्मृति में स्थापित 'तुलसी स्मारक समिति' का कार्य 1958 ई0 में शर्माजी को सौंपा। शर्माजी चिरअभिलाषी रहे कि 'श्रीरामचरितमानस' और तुलसी के अमर साहित्य को जनमानस विशेषतः दलित और पिछड़े वर्ग तक पहुंचाया जाए, जिससे इन्हें चेतनासंपन्न किया जा सके। आत्मकथा को आत्मसात करने पर विदित होता है कि शर्माजी सादगी की प्रतिमूर्ति थे, किंतु वे दृढ़ इच्छाशक्ति एवं ओजस्वी वाणी के धनी थे। उनका स्वभाव अन्याय के प्रति विद्रोह करने का था, कदाचित् आत्मकथा का शीर्षक भी इस विद्रोह भावना को परिलक्षित करने के लिए रखा गया। एक जमींदार तथा संपन्न परिवार में जन्म लेकर भी समाज में समानता तथा न्याय के लिए संघर्ष करना शर्मा जी की विशेषता थी।

शर्माजी के पूर्वज राजस्थान की जोधपुर रियासत में फलौदी तहसील के एक छोटे से गांव बिटड़ी में रहते थे। ये गौण ब्राह्मण थे, परंतु पाली में रहने के कारण पालीवाल कहलाने लगे। पाली पश्चिमी रजवाड़े (राजस्थान) की सबसे बड़ी व्यापारिक मंडी थी। कहा जाता है कि पाली बसाने के पूर्व पालीवालों के पूर्वज कन्नौज में रहते थे और यहां के राठौर महाराजाओं के राजगुरु थे। मुहम्मद गौरी के हमले के बाद जब राठौरों ने कन्नौज छोड़ा तो उनके साथ उनके राजगुरु पालीवाल भी पश्चिम में चले गए। जोधा और बीका नामक राजपूत सरदारों ने वहां के भील आदिवासियों को हराकर जोधपुर और बीकानेर नगर बसाए। राठौरों की सहायता से उनके गुरु ब्राह्मणों ने पाली बसाई और उस स्थान पर उन्हीं का राज्य कायम हुआ। यह राज्य अलाउद्दीन खिलजी ने छिन्न-भिन्न कर दिया था।

शर्माजी के पितामह पं० खुशालीराम बिटड़ी गांव छोड़कर उरई से दक्षिण में 20 किमी मुहाना ग्राम में अपनी विधवा हुई बहिन का कामकाज संभालने के लिए आ गए थे। जब पं० खुशालीराम के पुत्र पं० चुन्नीलाल हुए, तब तक इनके यहां एक बैल की खेती प्रारंभ हो गई थी। बुंदेलखंड में किसान की हैसियत देखने का यह प्राचीन पैमाना है। इन्होंने खेती का विस्तार होने पर एक छोटा मकान खरीदकर पक्का बना लिया, साथ ही प्रौढ़ होने पर कुछ व्यवसाय भी शुरू कर लिया। प्रतिष्ठा बढ़ी। जमींदारी पैदा हुई। पं० चुन्नीलाल का विवाह टीकमगढ़ रियासत के बम्होरी गांव के पं० बृजलाल के सुपुत्री से हुआ। इन्हीं की कोख से मुहाना में स्वनामधन्य पं० चतुर्भुज शर्मा का जन्म भाद्रपद कृष्ण 6, गुरुवार संवत् 1957, तदनुसार 15 अगस्त सन् 1900 को हुआ। मुहाना गांव बुंदेलखंड की गंगा कही गई नदी बेतवा के किनारे उरई और राठ (हमीरपुर) के मध्य स्थित है। मोहन नाम के किसी व्यक्ति द्वारा बसाए जाने के कारण इस गांव का नाम मुहाना हुआ, जिसमें करीब चौथाई की जमींदारी शर्माजी के पिताजी ने खरीद ली थी। मुहाना गांव के समीप ही पृथ्वीराज का प्रसिद्ध सामंत चौड़ा (चामुंडा) मारा गया था। यह पृथ्वीराज चौहान और चंदेलों की अंतिम लड़ाई थी, जिसमें चंदेले हार गए थे और परमर्दिदेव (परमाल) चंदेल के प्रमुख सामंत आल्हा और ऊदल में से ऊदल मारा गया था। 1857 ई के स्वतंत्रता संग्राम में मुहाना गांव बागी था।

पं० चतुर्भुज शर्मा के दो छोटे भाई थे, जिनमें एक पं० रामदास शर्मा तथा दूसरे पं० दीपचंद शर्मा थे। रामदासजी की मृत्यु टीबी से हो गई थी, इनके एक पुत्री हुई। 1933 ई में दीपचंदजी एवं शर्मा जी के पिता की हत्या हो गई। शर्माजी के कोई बहिन नहीं थी।

शर्माजी की शिक्षा का शुभारंभ मुहाना में ही हो गया। दर्जा दो तक की पढ़ाई के बाद निकटस्थ ग्राम डकोर में दर्जा चार तक पढ़ाई की। शर्माजी प्रारंभ से ही पढ़ने में अटल रहे। दर्जा पांच की मिडिल की पढ़ाई करने के लिए शर्माजी उरई आ गए। यहां वे दैनिक विश्वमित्र के संचालक एवं संपादक कोटरा (जालौन) निवासी मूलचंद्र अग्रवाल से बहुत प्रभावित हुए। बाबू मूलचंद्रजी की मां चक्की पीसकर अपने पुत्र मूलचंद्र को पढ़ाती। दर्जा सात की वर्नाक्युलर परीक्षा पास करके शर्माजी उरई आकर किराए के मकान में रहने लगे। यहां रहने का एक अन्य कारण यह भी था कि उस वर्ष देहातों में डकैतियां अधिक होने से ग्रामीण वातावरण अशांत एवं अरक्षित हो गया था।

एक बार शर्माजी ने गल्लामंडी में प्रचलित बेगार करने से मना कर दिया, यहां से शर्माजी के बगावती तेवरों का आरंभ हुआ। 1919 ई का प्रथम महायुद्ध समाप्त होने पर अंग्रेजी सरकार ने स्कूल के विद्यार्थियों में अपनी जीत की खुशी में तमगे बांटे; शर्माजी अकेले थे, जिन्होंने इसे लगाने से इंकार कर दिया। उन्होंने कहा यह विजय तो अंग्रेजों की है, जो हम लोगों को गुलाम बनाए हुए हैं।

आत्मकथा के अनुसार शर्माजी कहार तक के हाथ का पानी वे नहीं पिए थे, क्योंकि वह सबको एक ही लोटे से पानी पिलाता था, लेकिन बाद में वह समानता एवं बंधुत्व के कारण इन कुप्रथाओं से ऊपर उठ गए। 1920-21 ई में असहयोग आंदोलन में शर्माजी ने अपनी फैल्ट कैप आग के हवाले कर दी थी। इसके बाद वे सदैव खादी की गांधी टोपी तथा खादी के ही कपड़े पहनने लगे। शर्माजी जालौन जनपद के मुख्यालय उरई के तत्कालीन कांग्रेस नेता पं० मन्नीलाल पांडेय एडवोकेट के संपर्क में आए। शर्माजी ने 1925 ई में इंटर पास करके डीएवी कालेज कानपुर में बीए में दर्शन शास्त्र और अर्थशास्त्र विषयों के साथ प्रवेश ले लिया। इसी वर्ष वे कानपुर में कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित हुए। शर्माजी अपनी आत्मकथा में बेलाग होकर अपने जीवन की शल्य-क्रिया करते हैं। अखिल भारतीय विद्यार्थी संघ के सम्मेलन में शर्माजी ने स्वागत समिति के मंत्री पद का दायित्व संभाला। इसमें आए ढाका विश्वविद्यालय के छात्रों से मार्ग-व्यय के भुगतान को लेकर शर्माजी का झंझट हो गया। ढाका कालेज मैगजीन में शर्माजी के खिलाफ लेख लिखा गया। सम्मेलन शर्माजी के सत्प्रयासों से सफल रहा। इन्हीं दिनों शर्माजी गणेश शंकर विद्यार्थी और उनके पत्र 'प्रताप' से जुड़े।

राजनीति में सक्रियता होने के बावजूद 1927 ई में बीए द्वितीय श्रेणी में पास करके शर्माजी ने वकालत की पढ़ाई करने के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। यहां वे आनंद भवन जाकर यूथ लीग में दिलचस्पी लेने लगे। पं० जवाहरलाल नेहरू से मिले। विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से आंकड़े इकट्ठे करके नेहरूजी को प्रदान किए। वकालत के प्रथम वर्ष में उरई के चार विद्यार्थियों में शर्माजी अकेले उपाधिपूर्ण हुए थे। इलाहाबाद में शर्माजी ने अन्य लोगों के साथ मिलकर 1928 में सायमन कमीशन का बहिष्कार किया।

1925 में कोलकाता के कांग्रेस अधिवेशन में शर्माजी ने प्रतिनिधि बनकर भाग लिया। नेताजी सुभाष चंद्र बोस, मोतीलाल नेहरू जैसे नेताओं के दर्शन हुए। 1929 ई में वकालत की फाइनल परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की।

शर्माजी उरई वापस आ गए और अपने सार्वजनिक जीवन का प्रारंभ किया। खादी प्रोत्साहन के लिए गांधीजी को पं० मन्नीलाल पांडेय के साथ मिलकर जिले से 3500/- रुपए दान की व्यवस्था कर गांधीजी का उरई-जालौन दौरा सफल कराया। ठडेश्वरी मंदिर के पास गांधीजी की सार्वजनिक सभा हुई। यहां गांधीजी का स्वयं के काते गए सूत से बना गमछा खो गया, किंतु गांधीजी ने दूसरा लेने से मना कर दिया।

सत्याग्रह आंदोलन में पं० मन्नीलाल पांडेय, कालीचरण निगम के साथ शर्माजी जेल गए। शर्माजी और कालीचरण निगम को साधारण कैदी की तरह एक साल की सजा पर रखा गया। झूठी म्यूटिनी (गदर) घोषित कर जेल के कैदियों को पांच मिनट के लिए 'पगली घंटी' बजाकर रखा जाता था। यह कसरत जेल पर अधिकारियों के नियंत्रण को परखने के लिए होती थी। जेल में रहकर शर्माजी का स्वास्थ्य बिगड़ गया, उन्हें कफयुक्त खांसी की शिकायत रहने लगी। एक बार साइकिल से कचहरी जाते समय पागल कुंओं ने शर्माजी को काट लिया। उन दिनों कुंओं के काटे का इलाज कसौली (तब पंजाब में, अब हिमाचल प्रदेश) में होता था। शर्माजी ने अपने भाई रामदासजी के साथ 15 दिन कसौली में रहकर इलाज कराया।

सन् 1937 में हुए असेंबली चुनाव में कांग्रेस ने हिस्सा लिया। शर्माजी ने जालौन जनपद की एक जनरल सीट पर पं० मन्नीलाल पांडेय को तथा बुंदेलखंड की एकमात्र सुरक्षित सीट पर श्री लोटनराम को कांग्रेस उम्मीदवार बनाया। धन के अभाव में शर्माजी ने स्वयं चुनाव नहीं लड़ा। दोनों प्रत्याशी चुनाव जीते और जमींदारों के गढ़ में ही रायसाहब कामतानाथ तथा रामसहाय चमार हार गए। इस चुनाव से जिले में कांग्रेस की धाक जम गई। डॉ आनंद की गीतों ने इस चुनाव में समां बांधा। संयुक्त प्रांत में कांग्रेस की सरकार पं० गोविंद बल्लभ पंत की अगुवाई में बनी। 1939 में संग्रहणी रोग के कारण जिला जालौन के 'शेर' पं० मन्नीलाल पांडेय एमएलए का निधन हो गया।

कांग्रेसी सरकारों ने अंग्रेजी हुकूमत के विरोध में त्याग-पत्र दे दिया। जालौन जिले में पं० बेनीमाधव तिवारी तथा चौधरी लोटनराम ने व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू किया। शर्माजी के घर की स्थितियां सर्वथा प्रतिकूल थीं, भाई व पिता का कत्ल, एक अन्य भाई का तपेदिक से निधन, घर में शर्माजी की माता एवं पत्नी तथा छोटे-छोटे बच्चे थे। फिर भी शर्माजी की माता ने सत्याग्रह करने के लिए ढाढ़स बंधाकर शर्माजी को अश्रुपूरित विदाई दी। शर्माजी ने अपने अन्य साथियों के साथ नैनी संट्रल जेल भेज दिए गए। यहां वे मौलाना आज़ाद, लालबहादुर शास्त्री, डॉ काटजू, पं० बालकृष्ण शर्मा, चंद्रभानु गुप्त, पं० कृष्णदया पालीवाल आदि हस्तियों के संपर्क में आए। यहां अपनी बैरक में शर्माजी ने गांधीवादी विचारधारा की एक कक्षा लगानी शुरू कर दी। जेल में पढ़ना-पढ़ाना इन नेताओं का शगल रहा। डॉ काटजू को शर्माजी ने प्रेमसागर (लल्लूजीलाल कृत) सुनाकर हिंदी सिखाई। शर्माजी ने 1941 ई में जेल से छूटने पर जिले में और जिले के बाहर भी कांग्रेस संगठन का कार्य प्रारंभ कर दिया।

7 अगस्त 1942 को मुंबई में हुए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में शर्माजी ने भाग लिया। उस अधिवेशन के राष्ट्रपति (कांग्रेस अध्यक्ष) शर्माजी के नैनी जेल के साथी मौलाना आज़ाद थे। अधिवेशन में 'अंग्रेजों

भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पं० जवाहरलाल नेहरू ने पेश किया, जिसका सरदार पटेल ने समर्थन किया। महात्मा गांधी इस प्रस्ताव पर पूरे दो घंटे- हिंदी और अंग्रेजी- में बोले। उनके इस भाषण को आज़ादी का चार्टर कहा गया। गांधीजी ने कहा 'मैंने अपनी सारी शक्ति कांग्रेस को समर्पित कर दी है और कांग्रेस या तो अपना उद्देश्य पूरा करेगी या मरेगी।' इसे 'करो या मरो' कहा गया। आत्मकथा में अधिवेशन में प्रस्तुत भाषणों के प्रमुख बिंदुओं का वर्णन हुआ है। 9 अगस्त 1942 को गांधीजी गिरफ्तार हुए और फिर सारे देश में गिरफ्तारियों का दौर शुरू हो गया।

शर्माजी 10 अगस्त को उरई में गिरफ्तार कर लिए गए। उरई जेल में कुछ दिन रहने के बाद वे कई साथियों सहित उन्नाव जेल भेज दिए गए। शर्माजी को तन्हाई की सजा हुई थी। वे अपनी आदत के अनुसार यहां स्वाध्याय करते रहे। उन्होंने जेल में ही एक दिन अखंड रामायण का पाठ शुरू कर दिया। जेल अधीक्षक ने धमकी दी, किंतु शर्माजी की दृढ़ता ने उसे अपने कदम वापस करने पर मजबूर कर दिया। जेल में जब शर्माजी राजनीतिक तैयारियों को लेकर एक भाषण दे रहे थे कि तभी उनकी माताजी के निधन का तार उन्हें मिला, किंतु शर्माजी ने एक नज़र डालकर उस तार को अपनी जेब में रख लिया और अपना भाषण जारी रखा। मित्रों के कहने पर शर्माजी को जिलाधीश ने 15 दिन के पैरोल पर छोड़ दिया। 15 दिन बाद श्राद्ध करके शर्माजी पुनः जेल चले गए। उन्होंने पैरोल बढ़ाने की अर्जी भी नहीं दी। इसके छः माह बाद शर्माजी की पत्नी बीमार पड़ीं। उन्हें संग्रहणी की बीमारी थी, उनकी तीमारदारी के लिए कोई नहीं था। तीन छोटे-छोटे बच्चे, बड़े पं० माणिकचंद्र शर्मा उस समय 8 वर्ष के थे। तब भी शर्माजी ने जेल की प्रतिज्ञा के चलते पैरोल की दरखास्त नहीं दी। जिलाधीश ने स्वयं 15 दिन के पैरोल पर छोड़ा। शर्माजी की पत्नी बेहोशी की अवस्था में थीं। शर्माजी के घर पहुंचने के चंद घंटों के बाद उनका देहांत हो गया। अंत्येष्टि क्रिया तथा श्राद्ध करके घर की चाबियां शर्माजी अपने परम मित्र और सहयोगी पं० बालमुकुंद शास्त्री को सौंपकर पुनः जेल चले गए। कुछ महीने बाद वे जेल से छूटे। उस समय मि० मदनी जालौन के जिलाधीश थे। यह कट्टर लीगी और कांग्रेस विरोधी थे। शर्माजी की इनसे खटपट हो गई। कानपुर के गोपीनाथसिंह जी के साथ शर्माजी को कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की मीटिंग लेनी थी। शर्माजी के मकान पर ही यह बैठक होनी थी। जिलाधीश ने इसे गैरकानूनी घोषित कर दिया। शर्माजी ने अपनी सूझ-बूझ से मीटिंग को संपन्न कर दिखाया, उन्होंने गोपीनाथसिंहजी को अलग कमरे में बिठाकर दो-दो तीन-तीन करके सारे कार्यकर्ताओं को बुलाकर बातचीत कर ली और अपनी मीटिंग का उद्देश्य पूरा कर लिया।

राजर्षि कहे गए पुरुषोत्तम दास टंडन के आदेश से शर्माजी ने अपने जिले में कांग्रेस असेंबली बनाई। आत्मकथा के अंतिम अध्याय में शर्माजी ने जिला जालौन के सत्याग्रहियों की सूची दी है, जिसमें 1930 ई में उनतालीस, 1932 ई में तीन, 1940-41 में दो सौ बानबे तथा 1942 ई में इकहजार सत्याग्रहियों ने देश के स्वाधीनता-संग्राम के इन चरणों में अपना योगदान किया।

शर्माजी की यह आत्मकथा 1970 में प्रकाशित हुई, उनका निधन 1976 में हुआ, किंतु इसमें 1942 ई तक की ही घटनाओं का वर्णन हुआ। शर्माजी कदाचित् यह संदेश देना चाहते हैं कि उनके जीवन का जो भाग सबके लिए प्रेरणा का स्रोत और संबल बने, वही सबके सम्मुख आना चाहिए, किंतु उनका जीवन मृत्यु-पर्यंत सार्वजनिक एवं

उदाय आदर्शों से संपृक्त रहा। प्रकाशक का यह वक्तव्य समीचीन है कि सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने के इच्छुक नौजवानों को निस्संदेह ऐसे आत्मचरित उच्च आदर्श की ओर प्रेरित करेंगे। निश्चय ही इस ग्रंथ को पढ़कर उन्हें अन्याय से जूझने एवं सही समाज-सेवा की भावना जाग्रत करने में सहायता मिलेगी।’

शर्माजी ने स्वयं घोषणा की है कि यह आत्मकथा ‘प्रशस्ति की कामना या पराभव से आत्मरक्षा के लिए नहीं, दूसरों के छिद्रान्वेषण द्वारा आत्मश्लाघा के लिए किंचित्मात्र भी नहीं, बदलते समय को नापने या गिनने के लिए नहीं, शायद इसलिए भी नहीं जो संभवतः दूसरे इसका अर्थ लगाएं और निवेदन कर दूं निरर्थक भी नहीं। साथ ही किसी निश्चित प्रयोजन के साथ भी नहीं।’

शर्माजी ने पच्चीस वर्षों तक निरंतर उड़ीसा प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पद एवं उड़ीसा प्रदेश सरकार के विभिन्न विभागों के उपमंत्री, राज्यमंत्री एवं कैबिनेट मंत्री तथा चेयरमैन सिंचाई आयोग का दायित्व संभाला। अनेक बार विधायक निर्वाचित हुए, जालौन जनपद के इतिहास में सर्वाधिक पांच बार प्रदेश विधानसभा का सदस्य (एक बार 1946 में स्वतंत्रता पूर्व तथा चार बार स्वतंत्रता काल- 1952, 1962, 1967 तथा 1969 में) चुने जाने का गौरव शर्माजी को प्राप्त है। यह कीर्तिमान आने वाले दिनों में भी भंग होता नहीं दिखता। शर्माजी 1957 तक सार्वजनिक निर्माण विभाग में तथा 1958 से 1960 तक राजस्व विभाग में उपमंत्री रहे। आपने 1961 से मार्च 1962 तक स्वतंत्र शासन विभाग में राज्यमंत्री का तथा मार्च 1962 से दिसंबर 1962 तक सहकारिता मंत्री के रूप में प्रदेश शासन का दायित्व निभाया। 1963 से 1967 तक स्वायत्त शासन मंत्री एवं 1969 से 1970 तक राजस्व एवं शिक्षा मंत्री के रूप में कार्य किया। सन् 1972 से 1974 तक चेयरमैन सिंचाई आयोग उड़ीसा प्रदेश रहे। 1948 से 1975 के बीच उरई में गांधी इंटर कालेज, गांधी महाविद्यालय, गांधी बाल विद्यालय तथा ग्राम गोहन में जवाहर हाईस्कूल के संस्थापक एवं मृत्युपर्यंत उनके संरक्षक व पदाधिकारी रहे। ग्राम उद्योग ट्रस्ट पुखरायां (कानपुर देहात) के आजीवन ट्रस्टी व गोस्वामी तुलसीदास की जन्मभूमि राजापुर (चित्रकूट) में तुलसी स्मारक की स्थापना, तुलसी समिति के आजीवन मंत्री तथा स्वामीजी महाराज द्वारा स्थापित पीतांबरा पीठ दतिया की शिष्य परंपरा के प्रमुख सदस्य, दयानंद वैदिक महाविद्यालय प्रबंध समिति के उपाध्यक्ष आदि के रूप में अहम भूमिकाओं का निर्वहन किया। प्रदेश में मुख्यमंत्री पद के प्रत्याशियों में भी शर्माजी के नाम की चर्चा रही थी। वह प्रदेश मंत्रिमंडल में मुख्यमंत्री के बाद सबसे बड़ी हैसियत के मंत्रियों में से रहे हैं, किंतु इनमें से किसी का उल्लेख उन्होंने अपनी आत्मकथा में नहीं किया है। शर्माजी जैसे निष्काम कर्मयोगियों की दृष्टि में यह उपलब्धियों मानो उल्लेखनीय भी नहीं। शर्माजी ने क्षेत्र के पिछड़े विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए जिन शैक्षणिक संस्थाओं का निर्माण कराया, उनका नाम उन्होंने गांधीजी के नाम पर ही रखा। आत्मकथा में गांधीजी के जन्म शताब्दी वर्ष के बारे में शर्माजी लिखते हैं ‘हम उतावले से पूछते हैं एक दूसरे से - हम गांधीजी की कल्पना कहाँ तक साकार कर सके हैं, कितने डग बढ़ सके हैं, उनके पदचिन्हों की पगडंडी पर स्वतंत्रता का उदय सर्वोदय से कितनी दूर है, उत्सुकता होती है जानने की।’ शर्माजी ने राजनीति में उड़ीसो उड़ीस स्वस्थ जनहितकारी चेतना के अभाव पर चिंता व्यक्त की है। उन्हें प्रतीत होता है कि मानो स्वतंत्र राष्ट्र में स्वतंत्रता की

आत्मा प्रतिष्ठित नहीं हो सकी है। आज का भ्रष्टाचार की धुंध से भरा वातावरण देखकर हम सब यह मानने को विवश हैं।

गांधीजी के सच्चे अनुयाई, बुंदेलखंड केसरी और बुंदेलखंड के बापू के रूप में स्वीकृत स्वर्गीय पं० चतुर्भुज शर्माजी का व्यक्तित्व और उनके आदर्श समाज के पथ-प्रदर्शक हैं।

बुंदेली बसंत 2014 (संपादक डॉ बहादुर सिंह परमार) आइएसएसएन 09758011 में प्रकाशित

## विश्व शांति में भारतीय साहित्य की भूमिका

भारत जिस भौगोलिक इकाई का नाम है, वहां का जीवन-दर्शन न सिर्फ दुनिया वालों के लिए, स्वयं देशवासियों के लिए भी एक विस्मय है, जहां के कण-कण में विविधता और पूर्णता के दर्शन होते हैं। 20वीं सदी के अद्भुत चिंतक और विश्व मानवता के अपूर्व उपासक रोमां रोलां ने एक भूमिका में लिखा है “भारतवर्ष की विशाल आत्मा इस छोर से उस छोर तक एक ही जनाकीर्ण, सुव्यवस्थित, भव्य प्रासाद के परम ऐक्य की उद्घोषणा कर रही हो। यहां पर किसी का वर्जन नहीं, सब एक सूत्र में गुथे हुए हैं।” 1 भारत में पूर्णता का दर्शन प्रारंभ से ही परिव्याप्त हो रहा है। वृहदारण्य एवं ईशावास्योपनिषदों में कहा गया है-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अर्थात् वह (परब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्यब्रह्म) भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है तथा (प्रलयकाल में) पूर्ण (कार्यब्रह्म) का पूर्णत्व लेकर (अपने में लीन करके) पूर्ण (परब्रह्म) ही बच रहता है। That is Absolute, This is Absolute, Absolute arised out of Absolute, if Absolute is taken away from Absolute, Absolute remains.

साहित्य क्या है? उसका प्रयोजन और भूमिका क्या है?

साहित्य में हित की भावना समाहित ही रहती है, इसीलिए वह साहित्य है। साहित्य ऐसे रस के सहित होता है जो निरतिशय प्रिय होता है, पर दूसरे की इच्छा के अधीन नहीं होता। वह शुद्ध रूप से अपने मन का अभीष्ट होता है। साहित्य में बहुत कुछ गृहीत होता है तो कुछ अगृहीत भी रह जाता है, इसीलिए वह निरंतर उत्कंठित करता है और कृति को हर बार पढ़ने और नए सिरे से जानने की व्याकुलता और उद्गावना भरता है। गोस्वामी तुलसीदास ने मुख और दर्पण की उपमा देते हुए कहा है-

ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥ श्रीरामचरितमानस

साहित्य में अपने साथ ले चलने की क्षमता होती है और हित की चिंता भी। वह ब्रह्मानंद सहोदर और वाक्य रसात्मक है। आचार्य मम्मट कहते हैं कि वह यश एवं अर्थ प्राप्त कराने वाला, व्यवहार ज्ञान कराने वाला, शिवेतर (जो कल्याणकारी नहीं है) से रक्षा करने वाला, विपत्ति से निवृत्ति का मार्ग तुरंत सुझाने वाला, शीघ्र ही परमानंद की प्राप्ति कराने वाला तथा प्रेमिका के समान हितकर एवं प्रिय उपदेश देने वाला होता है-

काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परिनिवृत्ताये कांतासम्मितयोपदेशयुजे॥ काव्यप्रकाश



साहित्य प्रश्न छेड़ता है कि मनुष्य के लिए अधिक काम्य कल्याण पथ क्या है? वह किसी भी दिए हुए कल्याण के मार्ग से संतुष्ट नहीं रहता। सामाजिक मान्यता बदलने का काम साहित्य नहीं करता, वह केवल मन में उद्वेग पैदा करता है। बदलाव जिस सामाजिक संकल्प से आता है, उसके लिए कुछ और प्रयत्न आवश्यक होते हैं। कबीर, नानक, चैतन्य, शंकरदेव आदि ने साहित्य रचा ही नहीं, सामाजिक जागरूकता के लिए यात्राएं भी कीं।

साहित्य मूल्यों की प्रासंगिकता की जांच केवल अपने युग की दृष्टि से ही नहीं करता, वरन् वह आगे की संभावना को भी दृष्टि में रखता है। साहित्य के बने बनाए मूल्य कभी नहीं होते, जब कभी होते हैं तो वह इतिहास या राजनीति का पिछलग्गू बन जाता है, इनका झंडाबरदार हो जाता है। साहित्य की स्वायत्ता ही इस माने में है कि वह बंधे-बंधाए मूल्यों को अस्वीकार करने का अपना विशेषाधिकार रखता है।

जब तक ऐसा न लगे कि कवि ने, कथाकार ने मेरी बात मेरे मुंह से छीन ली, मेरी अव्यक्त व्याकुलता को वाणी दे दी, मेरे सुख-दुःख को पा लिया, तब तक साहित्य सहित का, सन्निहित का भाव नहीं है।

साहित्य न समाधान है, न आह्वान; वह बस चिंता का उन्मथन है, तुम जहां ठहरे हुए हो, वहां से विचलित हो।

साहित्य राजनीति का उत्स भी है और उसका बैराज (जलरोकी बांध) भी है।<sup>2</sup>

साहित्य कभी नहीं कहता ऐसे चलो वैसे चलो, वह नीति नहीं है। साहित्य राम के पीछे नहीं चलाता, राम के भीतर चलाता है। इसी अर्थ में वह राजनीति का अंतर्गामी तो है, पर राजनीति का अनुगामी नहीं। वह जब अनुगामी हो जाता है तो स्वयं तो छोटा होता ही है, राजनीति भी छोटी हो जाती है। इसीलिए अच्छा यह है कि साहित्य और राजनीति एक दूसरे के कार्य में रुचि तो लें, पर हस्तक्षेप न करें।

यहां एक बात और ध्यातव्य है कि लिटरेचर और साहित्य में एक मौलिक अंतर होता है। लिखी हुई सामग्री मात्र लिटरेचर है, पर साहित्य एक तो हमारी अवधारणा में मूलतः वाचिक है, दूसरे वह शब्दराशि मात्र नहीं है; उसका एक चुना हुआ, विशेष उद्देश्य से चुना हुआ रूप भी है।<sup>3</sup>

बाबा तुलसी सुकवियों के हवाले से कहते हैं- 'उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं' अर्थात् साहित्य कहीं पैदा होता है तो कहीं अन्यत्र शोभा पाता है, इसीलिए इस अर्थ में साहित्य और उत्सव पर्याय हैं।

उपर दिए गए विवरण से न सिर्फ साहित्य का अर्थ, लक्षण और प्रयोजन स्पष्ट होता, यह भी संकेतित होता है कि भारतीय साहित्य और लिटरेचर कितने 'भिन्न, न भिन्न' हैं।

विश्व शांति के लिए मूलभूत आवश्यकता ऐक्य स्थापित करने की है। भारत में जिस प्रकार की- भाषा, क्षेत्र, लिंग, जाति, जलवायु, वनस्पति, पेड़-पौधे, समुदाय, दार्शनिक विचारधारा, रीति-रिवाज, खान-पान,, रहन-सहन, सामाजिक तौर तरीके, आर्थिक स्तर, राजनीतिक विचारधारा इत्यादि- अनेकता सभी स्तरों पर दिखाई पड़ती है, किंतु फिर भी एकसूत्रता और लयबद्धता है, सभी देशवासी अनादिकाल से प्यार और सहकार से रहते आए हैं। यहां के हर प्राणी में पैठी आध्यात्मिकता भारतीय साहित्य की प्रबल प्रेरणा है। इस ऐक्य को स्थापित करने में भारत की सभी भाषाओं के साहित्य ने अपना महती योगदान किया, कई अलग-अलग भाषाओं में रचा साहित्य एकता के सूत्र में गुंथा

हुआ है। भारत का यह साहित्य न सिर्फ भारतीय विविधताओं को बांधता है, उसमें विश्व कल्याण की भावना और संदेश भी है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इस साहित्य में विश्व कल्याण की भावना बलवती है, इसीलिए यह भारत को भी एक रखने में सहायक सिद्ध हुआ है। श्रीलंकाई तमिल दार्शनिक आनंद केंटिश कुमारस्वामी लिखते हैं- ऐक्य की सहज स्फुरणा ही भारतीय अनुभूति का प्राण और सार है।<sup>4</sup> यह ऐक्य भारत की अनेकता को अनुभूत कर उपजा है, किंतु यह भारत के लिए ही महदूद नहीं रहा। हमारे पुरखे मंत्रदृष्टा ऋषि जब कहते हैं-

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (अथर्ववेद के बारहवें कांड के पहले सूक्त (भूमि सूक्त) का बारहवां मंत्र)

अर्थात् संसार की सारी भूमि हमारी माता है और हम सारे पृथ्वीवासी इसकी संतान हैं। ऋषि अपनी पृथ्वी माता से वैसे ही दूध की कामना कर रहा है जैसे कोई शिशु अपनी मां से दूध की कामना करता है- 'सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः (12.1.10)। ऐसी दृष्टि रखने के कारण हमारे ऋषियों ने संपूर्ण वसुधा और उसके निवासियों के कल्याण के लिए सोचा है। हम समझ सकते हैं कि पृथ्वी और उसके निवासियों के बीच माता और पुत्र का निर्वचित यह संबंध विराट अनुभव और उदात्ता भावना के बाद आया होगा, जो उसने संपूर्ण पृथ्वी से अपना खून का रिश्ता जोड़ लिया। भूमि सूक्त के पहले ही मंत्र में कहा गया है सत्य दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ ने इस पृथ्वी को टिका रखा है। सत्रहवें मंत्र में भी ऋषि कहता है कि इस पृथ्वी को धर्म ने धारण कर रखा है। अन्यत्र आगे कहा गया-

अयं निजः परोवेऽपि गणनां लघुचेतसाम्।

उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुंबकम्॥ (पंचतंत्र 5/38)

अर्थात् मेरे और पराए की गणना संकुचित मानसिकता है। उदार चरित वाले व्यक्ति संपूर्ण वसुधा को ही अपना परिवार मानते हैं।

माता के प्रति अपनी संतानों का दायित्व, इसी तरह संतानों के प्रति मां की ममता और समर्पण का संबंध दुनिया में सबसे बड़ा होता है। भारत के आदिवासी आज भी जंगल से अपनी रोजी कमाता है, पर उसे उजाड़ता नहीं है। जंगल से वह जितना लेता है, उससे कहीं अधिक वह लौटाने का भी जतन करता है।

जैसा ऊपर कहा गया है कि भारत में कुछ भी वर्जित नहीं रहा। भारत की प्रकृतिगत विशेषता से भिन्न यहां सर्वथा भौतिकवादी नास्तिक दार्शनिक चार्वाक को भी स्थान दिया गया, क्योंकि यहां दुष्ट और आततायी रावण भी जब शिव स्तवन करता है तो वह सबके प्रति समान भाव रखने की मांग रखता है 'पत्थर और सुंदर बिछौनों में, सांप और मुक्ता की माला में, बहुमूल्य रत्न तथा मिट्टी की ढेले में, मित्र या शत्रु पक्ष में, तृण अथवा कमललोचना तरुणी में, प्रजा और पृथ्वी के महाराज में समान भाव रखता हुआ मैं कब सदाशिव को भजूंगा।' -

दृषद्विचित्र तल्पयोर्भुजंगमौक्तिकस्रजोर्गरिष्ठ रत्न लोष्ठयोः सुहृद्विपक्षपक्षयोः।

तृणारविंद चक्षुषोः प्रजा महीमहेंद्रयोः समप्रवृत्तिकः कदा सदाशिवं भजाम्यहम्।<sup>12</sup>। शिवताण्डव स्तोत्र 5

भारतीय साहित्य में विश्वशांति कामनार्थ अनेक बीजमंत्र हैं, जिससे उत्पन्न वृक्ष और उसके पर्ण, पुष्प और फल काल-धर्म से जीर्ण नहीं होते। भारतीय वाङ्मय के मूल में इस प्रकार के नित्य सत्य का पूर्ण कुंभ स्थापित है।

भारतीय संस्कृति में व्याप्त कई विरोधी युगों को देखकर यह सहज स्पष्ट है कि यहां की संस्कृति सामासिक रही है। भारतीय मनीषा विश्व के एक-एक छोटे-बड़े उपादान में सामरस्य एवं शांति का उद्घोष करती है। वह व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत सभी अवसरों पर इसका पुनः पुनः पाठानुपाठ करती है-

ॐ द्यौः शांतिरंतरिक्षं शांतिः पृथ्वी शांतिरापः शांतिः रोषधयः शांतिर्वनस्पतयः शांतिर्विश्वेदेवा शांतिः ब्रह्म शांतिः सर्व शांतिः शांतिरेव शांतिः सा मा शांति रेधि। सुशांतिर्भवतु। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॐ। (यजुर्वेद 36/17)6

6 अप्रैल 2013 को देखी गई वेबसाइट

[www.indif.com/nri/mantras/shantimantra.asp](http://www.indif.com/nri/mantras/shantimantra.asp) पर इसका सुंदर पद्यानुवाद दिया गया है-

शांति कीजिए प्रभु त्रिभुवन में। शांति कीजिए प्रभु त्रिभुवन में।

जल में थल में और गगन में। अंतरिक्ष में अग्नि पवन में।

औषधि वनःपति वन उपवन में। सकल विश्व में जड़ चेतन में।

शांति कीजिए प्रभु त्रिभुवन में। शांति कीजिए प्रभु त्रिभुवन में।

शांति राष्ट्र निर्माण सृजन में। नगर ग्राम में और भवन में।

जीव मात्र के तन में मन में और जगत के कण-कण में।

शांति कीजिए प्रभु त्रिभुवन में। शांति कीजिए प्रभु त्रिभुवन में।

अंग्रेजी में इसे इस तरह समझा जा सकता है-

O God, may there be peace in the Sky and in Space. May there be peace on land and in the waters. May herbs and vegetation bring us peace. May all personifications of God bring us peace. May God bring us peace. May there be peace throughout the world. May the peace be peaceful. May God give me such peace also.<sup>7</sup>

विश्व शांति के लिए जिन तत्वों की आवश्यकता होनी चाहिए, उन्हें तुलसी के साहित्य में देखा जा सकता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा भी है- तुलसी का साहित्य समन्वय की विराट चेष्टा है। उनका साहित्य दो पराकोटियों को मिलाने का प्रयास करता है। आज भी सर्वत्र बड़ी शिद्धत से यह महसूस किया जा रहा है कि विश्व शांति के लिए आवश्यक ऐक्य स्थापित करने के लिए व्यक्ति में समन्वय और सहयोग की भावना होना अनिवार्य है। तुलसी साहित्य के ऐसे संदेशों के कारण ही जॉर्ज ग्रियर्सन द्वारा तुलसी को गौतम बुद्ध के बाद सबसे बड़े लोकनायक और कलिकाल का बाल्मीकि कहा गया। तुलसी के इस पद को भारत के प्रथम उपराष्ट्रपति एवं द्वितीय राष्ट्रपति प्रख्यात दार्शनिक डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि पद माना है-

कबहुंकों हों यहि रहनि रहोंगो।

श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते संत सुभाव गहोंगो।  
जथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहोंगो।  
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहोंगो।  
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुति तेहि पावक न दहोंगो।  
विगत मान सम सीतल मन पर गुन, नहि दोष कहोंगो।  
परिहरि देह जनित चिंता, दुःख-सुख समबुद्धि सहोंगो।  
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भगति लहोंगो।

दिल्ली विश्वविद्यालय से संबद्ध डी ए वी कालेज में रहे विद्वान प्राध्यापक डॉ रामप्रसाद मिश्र ने इस पद के बारे में लिखा है कि तुलसी इस पद में आत्मपरक जीवनयापनेच्छा व्यक्त करते हैं, किंतु परोक्षतः संत लक्षण भी चित्रित कर दिए गए हैं- संतोष, निःस्पृहता, परोपकार, मन-वचन-कर्म से संयम-नियम-पालन, सहिष्णुता, मानापमान भावमुक्ति समत्व, परगुणकथन, निश्चिंतता।<sup>8</sup>

श्री मद्भगवद्गीता के पद्यानुवादकार कर्मयोगी अधिकारी जुगुल किशोर पुलिस अधीक्षक उर्ध्वार प्रदेश यह पद भारतीय जन और उसके साहित्य को बहुलांश में अभिव्यक्त करते हैं। वे भी लिखते हैं-

द्वेष भाव से रहित नर मित्रभाव से युक्त।

अहम भाव करुणा हृदय मन ममता से मुक्त।।

सुख-दुःख में समभाव युत क्षमाशील संतुष्ट।

एकाग्रि दृढ़ निश्चयी मम प्रिय भक्त सुपुष्ट।। अध्याय 12 (श्लोक 13-14)<sup>9</sup>

भारतीय साहित्य का पारायण करने के उपरांत यहां के जनजीवन और उसकी संस्कृति को समझते हुए ही स्वर्गीय रोमां रोलां ने लिखा “अगर इस धरती पर कोई एक ऐसी जगह है, जहां सभ्यता के आरंभिक दिनों से ही मनुष्यों के सारे सपने आश्रय और पनाह पाते रहे हैं तो वह जगह हिंदुस्तान है।” 19वीं सदी में अपनी अपूर्व भारत-भक्ति से सारे यूरोप को चौंका देने वाले मैक्समूलर ने एक जगह लिखा है “अगर मैं अपने आप से यह पूछूं कि केवल यूनानी, रोमन और यहूदी भावनाओं और विचारों पर पलने वाले हम यूरोपीय लोगों के आंतरिक जीवन को अधिक समृद्ध, अधिक पूर्ण और अधिक विश्वजनीन, संक्षेप में, अधिक मानवीय बनाने का नुस्खा हमें किस जाति के साहित्य में मिलेगा तो बिना किसी हिचकिचाहट के मेरी उंगली हिंदुस्तान की ओर उठ जाएगी।” 10 वर्तमान में भारत में प्रचलित अर्थों में नागरिक चेतना का अभाव दिखता होगा, पर यहां की कानून व्यवस्था सदियों से भारतीयों के मन में पैठी धार्मिकता के कारण नियंत्रण के बाहर नहीं होती, अन्यथा यहां की जनसंख्या और अनेकतापूर्ण संस्कृतियों के बरक्स कितनी पुलिसिंग हो सकती है।

भारत का जनजीवन और उसको उन्मथित करता हुआ साहित्य विश्वशांति स्थापित करने में सबसे बड़ा संबल सिद्ध हुआ है। शेष दुनिया में उतनी भाषाएं और जातियां विभिन्न सरोकारों और विशेषताओं के साथ नहीं रहतीं, जितनी अकेले भारत में यह सदियों से रहतीं आ रही हैं। मीर तक 'मीर' का 'शे' रहै-

हम हुए, तुम हुए कि 'मीर' हुए

एक ही जुल्फ के असीर हुए।

भारत की अलग-अलग भाषाओं में रचित साहित्य को देखा जाए तो हिंदी, बंगला, असम, उड़िया, मराठी, पंजाबी, कन्नड़ और तेलुगु भाषा का साहित्यिक विकास धार्मिक साहित्य से, काश्मीरी का तांत्रिक रचना से, उर्दू का सूफी प्रेम काव्य से और मलयालम का विकास चरित्र साहित्य से आरंभ होता है। तमिल में उर्दू आर भारतीय आधुनिक भारतीय भाषाओं के बहुत पहले धार्मिक साहित्य की रचना आरंभ हो गई थी। गुजराती साहित्य का आरंभ रासा ग्रंथों से होता है, जिन पर जैन प्रभाव स्पष्ट है। 13वीं सदी से 16वीं सदी तक सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में 'भक्ति काव्य' का प्राधान्य रहा। भारत के हिंदू ही नहीं, यहां आकर बसे सामान्य मुस्लिम भी बार-बार के आक्रमणों से त्रस्त हो गए थे। अतः वे बिना दिल दुखाए शांतिपूर्वक रहना चाहते थे। हिंदी के कबीर तथा मराठी के नामदेव जैसे संत कवियों ने हिंदू और मुसलमानों में ऐक्य स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। इसी काल में जायसी जैसे सूफी कवियों ने 'प्रेम भक्ति काव्य' गाकर एक ओर इस्लाम धर्म की कट्टरता दूर की और दूसरी ओर हिंदू और मुसलमानों को अपनी प्रेमाश्रित भक्ति द्वारा एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया। सिखों के 'गुरु ग्रंथ साहब' में पंजाबी के अतिरिक्त अन्य अनेक भारतीय भाषाओं के कवियों की रचनाएं बिना भाषा, धर्म, संप्रदाय और जाति-भेद की भावना के संग्रहीत हैं। काश्मीरी के मुस्लिम साहित्यकारों की संख्या हिंदुओं से न्यून नहीं है। हिंदी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार अमीर खुसरो, जायसी, रहीम, रसखान, आलम, शेख, डॉ राही मासूम रजा आदि मुस्लिम थे। मराठी के अनेक कवियों- नामदेव, तुकाराम, रामदास आदि- ने हिंदी भाषा में काव्य रचना की है। संतकवि नामदेव पर हिंदी और मराठी अपना समान अधिकार बताते हुए गर्व करते हैं।

उड़िया की काव्य रचना सरलादास से आरंभ होती है। असमी के शंकरदेव में वैष्णव काव्य धारा के दर्शन होते हैं। तेलुगु का साहित्य नन्नय के महाभारत से तो मलयालम का उन्नीथादिचरितम् से आरंभ होता है। कन्नड़ भाषा का साहित्यिक विकास जैन विचारधारा को लेकर आरंभ हुआ। 'बौद्ध गान ओ दोहा' बंगला की प्रथम काव्य कृति है। काश्मीरी भाषा का प्रथम ग्रंथ 'महातम प्रकाश' एक तांत्रिक रचना है। मराठी साहित्य का आरंभ 'विवेक सिंधु' नामक धार्मिक रचना से तो उर्दू का साहित्य 14वीं सदी में गेसदराज की रचना से होता है। तमिल के भारतीदासन् एक क्रांतिकारी कवि हुए हैं, उन्होंने दुर्योधन तथा रावण तक की प्रशंसा के गीत गाए हैं। वे 'वसुधैव कुटुंबकम्' के प्रबल समर्थक हैं। वे युद्ध विरोधी और विश्वशांति के उपासक हैं। उनकी संप्रदायवादी रचनाएं अत्यंत उग्र एवं ओजपूर्ण हैं।

वैदिक काल से आरंभ हुए भारतीय साहित्य की रचना वैदिक, लौकिक संस्कृत से प्रारंभ हुई। लौकिक संस्कृत में पुराण, गीता, रामायण, महाभारत तो वैदिक संस्कृत में वेद, उपनिषद, ब्राह्मण ग्रंथों की रचना हुई, जिनका विश्व साहित्य में अतुलनीय स्थान है। तत्पश्चात् पाली, प्राकृत आदि मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं का साहित्य रचा गया, जिसमें जैन और बौद्ध साहित्य लिखा गया। तत्पश्चात् अपभ्रंश आई और फिर आधुनिक भारतीय भाषा-काल आरंभ होता है। आधुनिक भारतीय भाषाएं दो परिवारों में विभक्त हैं- एक परिवार में उर्दू आर भारत से महाराष्ट्र की

समस्त आर्य भाषाएं- हिंदी, बंगाली, असमी, उड़िया, उर्दू, गुजराती, पंजाबी, काश्मीरी, मराठी आदि भाषाएं हैं। दूसरे परिवार में द्रविड़ भाषाएं- तमिल, कन्नड़, तेलुगु तथा मलयालम हैं। इन भाषाओं की रूप एवं ध्वनि की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। इनका अपना अलग-अलग साहित्य है। ये आधुनिक भारतीय भाषाएं और उनका साहित्य एक दूसरे से भिन्न जान पड़ता है, पर इन सबकी एक ऐसी विशेषता है जो इनका स्वतंत्र अस्तित्व करते हुए भी इन्हें एक सूत्र में आबद्ध करती है। डॉ कृष्णलाल हंस लिखते हैं “इन भाषाओं में साहित्य निर्माण कार्य चाहे जब से हुआ हो, पर यह निर्विवाद है कि इन सभी भाषाओं का आरंभिक साहित्य संस्कृत साहित्य पर ही आधारित रहा है। आज भी ये भाषाएं संस्कृत भाषा से रस खींचती हैं। इन आधुनिक भारतीय भाषाओं में पंजाबी, लहंदा और सिंधी ही ऐसी भाषाएं हैं, जिनका आरंभिक विकास संस्कृत पर आधारित नहीं है, पर यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन भाषाओं को भी इनके आधुनिककालीन विकास में एक बड़ी सीमा तक संस्कृत साहित्य से सहायता मिलती रही है। ’ ’ 11

भारतीय साहित्य में सब कुछ ईश्वरमय समझा गया है, अतः हमें किसी के धन की इच्छा न करते हुए त्यागपूर्वक अपना कर्तव्य पालन करने की तार्किक की गई है। वह सबके सुखी होने, रोगमुक्त रहने, मंगलमय घटनाओं के साक्षी बनने और किसी को भी दुःख का भागी न बनने की कामना करता है। अंत में इसी प्रकार के एक मंगल श्लोक के माध्यम से हम सबके लिए कल्याण की कामना करते हैं-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्।।

संदर्भ-स्रोत:-

The Dance of Shiva, Anand k Coomaraswamy, forword by Romain Rolland, p-7 1948 उद्धृत साहित्य और सौंदर्यबोध (रवींद्र-निराला के संदर्भ में), डॉ रामशंकर द्विवेदी, पृ0 29, भावना प्रकाशन दिल्ली, 1990

1. साहित्य का खुला आकाश, विद्यानिवास मिश्र, वाणी प्रकाशन दिल्ली 1999
2. वही, पृ0 75
3. The Dance of Shiva (P 21 (1948)- The heart and essence of the Indian experience is to be found in a constant intuition of all life. - Anand K Coomaraswamy उद्धृत साहित्य और सौंदर्यबोध, डॉ रामशंकर द्विवेदी, पृ0 29
4. स्तोत्र रत्नावली, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ0 46-47, चालीसवां संस्करण संवत् 2052
5. विशुद्ध विवाह पद्धति, पं0 बाबूलाल द्विवेदी, पृ 45 जानकी प्रकाशन, छिल्ला संवत् 2050
6. मंत्रों के अंग्रेजी अर्थ दिनांक 7.4.13 को देखी गई वेबसाइट [www.reioflight.net/mantra\\_kirtan](http://www.reioflight.net/mantra_kirtan) के अनुसार

7. तुलसी साहित्य के सर्वोत्तम अंश, डॉ रामप्रसाद मिश्र, पृ 173, जीवन ज्योति प्रकाशन दिल्ली, 1988
8. आत्मतोषिणी गीता, पं० जुगुल किशोर तिवारी, पृ 90, विजय प्रकाशन मंदिर वाराणसी, द्वितीय संस्करण, जन० 2013
9. उद्धृत 'संस्कृति के चार अध्याय' , रामधारी सिंह 'दिनकर' , पृ 82, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1956 नवीन संस्करण 1999
10. भारतीय साहित्य दर्शन, डॉ कृष्णलाल 'हंस' , प्रस्तावना पृ० 2, ग्रंथम, रामबाग, कानपुर, प्रथम संस्करण, 1973

16-21 अक्टूबर 2013 को थाइलैंड प्रवास में सिल्पाकार्कन युनिवर्सिटी बैंकाक में प्रस्तुत एवं 'भारत, साहित्य और विश्वशांति' संपादक डाँ प्रणव शर्मा एवं डॉ राजनारायण शुक्ल, भावना प्रकाशन दिल्ली 2013 आइएसबीएन 9788176672849 में प्रकाशित

## हिन्दी साहित्य में यौनकर्मि स्त्रियों का सशक्तीकरण

(‘एक सेक्स वर्कर की आत्मकथा’ के विशेष संदर्भ में)

‘हंस’ के संपादक प्रसिद्ध साहित्यकार राजेन्द्र यादव ने कहा है कि स्त्री वेश्या के बारे में कैसे लिख सकती है वह तो उसके पास जाती नहीं।<sup>1</sup> ‘एक सेक्स वर्कर की आत्मकथा’ आने के बाद अब राजेन्द्रजी का यह वक्तव्य अप्रासंगिक हो जाता है। साहित्य में जब आप सेक्स की बात करते हैं तो उसका संबंध देह और इन्द्रियों से नहीं, मस्तिष्क से होता है।

हिन्दी साहित्य की अनेक स्त्री लेखिकाओं की आत्मकथाएं विगत दो तीन वर्षों में प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें प्रमुख हैं - मैत्रेयी पुष्पा की ‘गुड़िया भीतर गुड़िया’, मन्नु भण्डारी की ‘एक कहानी यह भी’, प्रभा खेतान की ‘अन्या से अनन्या’, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा की ‘पिंजरे में मैना’, रमणिका गुप्ता की ‘हादसे’ (हादसे और टुकड़े टुकड़े सफर - आत्मकथा अंश)<sup>2</sup> दलित लेखिकाओं - कौसल्या वैसन्तरी तथा सुशीला टांगभोरे - की आत्मकथाएं। हाशिये के साहित्य का यह बहुप्रचारित और पठित भाग है। इन आत्मकथाओं की उपपत्ति है कि देह का सुख पूर्ण सुख से अलग नहीं हो सकता।

इधर एक सेक्स वर्कर नलिनी जमीला की आत्मकथा का हिन्दी भाषा में रचना भोला ‘यामिनी’ द्वारा अनूदित संस्करण साल 2008 के अंतिम दिनों में आया है। नलिनी की यह आत्मकथा मूलतः मलयालम में साल 2005 में छपी थी, जो अनूदित होकर हिन्दी में पहली बार आयी है।

हाशिये का साहित्य हिन्दी के लिए अधुनातन विचार-विधा है, जिसमें समाज के पददलित और तथाकथित मुख्यधारा से विलग व्यक्तियों की संवेदना का अंकन स्वयं इनके द्वारा किया जाता है। इस दृष्टि से इसमें अनुभूति की सघनता और प्रामाणिकता का होना असंदिग्ध है। इन लोगों की दृष्टि का केन्द्र मनुष्य ही होता है। साहित्यिक परंपरा के शास्त्रीय मानदण्डों के हिसाब से ये लोग अपनी रचनाएं नहीं लिखते। हाशिये के साहित्य के लेखक शास्त्रीय कलात्मक मानकों से इतर संवेदना और शिल्प को लेकर आए हैं। इनके यहां शास्त्रपरक मानदण्डों का नकार है। इन्होंने अपने ऊपर हुए अमानवीयताओं को बेलाग और बेलौस होकर खुरदरी भाषा में उकेरा है। हिन्दी साहित्य में



आए दलित साहित्य, स्त्री विमर्श, आदिवासी साहित्य, अल्पसंख्यक साहित्य इत्यादि हाशिये के साहित्य के अन्तर्गत आते हैं।

हाशिये पर पड़े एक बहुत बड़े समाज का अछूता और अबूझा साहित्य का हिन्दी में आना हिन्दी साहित्य के लिए अच्छा संकेत है, क्योंकि जिस देश का समाज अपनी दुर्दशा के उत्स को खोजकर स्वयं ही उसका निदान करने लग जाता है, उस समाज के दिन बहुरने में अधिक समय नहीं लगता। हिन्दी पढ़ी समाज का देश के शेष समाज से पिछड़ापन किसी से छिपा नहीं है। इस समाज में उदबुद्ध चेतना का स्वागत किया जाना चाहिए।

‘एक सेक्स-वर्कर की आत्मकथा’ हाशिये के समाज की उदबुद्ध चेतना का एक मजबूत उदाहरण है। इसमें एक अल्पसाक्षर महिला अपने सहयोगी की मदद से अपने जीवन की वह कहानी बेझिझक और बेबाक तरीके से लिखती है, जो लोगों में चटखारे लेकर अनेक किंवदन्तियों और भ्रान्तियों के साथ दबे-छिपे कही-सुनी जाती हैं। शताब्दियों से ये हाशिये में भी हाशिये के लोग हैं, जिनका शब्द ही लोगों के लिए गाली है, अछूत है। “यह आत्मकथा कभी रुलाती है तो कभी हंसाती है और कभी अपने दर्दनाक सच से झकझोर कर रख देती है।” 3

केरल की एक अछूत इजावा जाति की अपने छः भाई बहिनों में एक नलिनी की नौ साल की उम्र में कक्षा तीसरी तक आकर पढ़ाई समाप्त हो जाती है। केरल में उस समय (साठ के दशक में) ऐसे परिवारों में लड़कियों के लिए इतनी ही पढ़ाई काफी समझी जाती थी, जिससे वे धान का हिसाब कर सकें। नलिनी की मां नलिनी को स्कूल भेजना चाहती, नलिनी स्वयं भी पढ़ना चाहती; पर उसके पिता ने उसे नहीं पढ़ाया। नलिनी के संयुक्त परिवार के अन्य सदस्यों ने भी इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझी।

नलिनी की मां अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए एक धागा मिल में नौकरी करती। नलिनी की पढ़ाई छूटने के बाद नलिनी ने भी कुछ काम करने का निश्चय किया। उसने सर्वप्रथम ईंट बनाने के लिए मिट्टी निकालने वाली एक खान में मिट्टी उठाने का काम किया। इसके बाद नलिनी ने एक वकील के यहां उसके बच्चों की देखभाल का काम किया, यहां नलिनी के साथ बलात्कार की कोशिश की जाती है। नलिनी यहां से भी काम छोड़ देती है।

नलिनी ने अपने पिताजी की इच्छा के विपरीत अपने बड़े भाई की शादी अपनी सहेली की बड़ी बहन से करवा दी, जो नलिनी के भाई की उम्र से साढ़े तीन साल बड़ी थी। नलिनी की शादी उसकी 18 साल की उम्र में एक जुएबाजी और छोकरेबाजी के गिरोह के दादा तीस-बत्तीस साल के सुब्रह्मण्यम् से हो जाती है, जो रेत निकालने की एक खदान में काम करता था। नलिनी से सुब्रह्मण्यम् की यह शादी नलिनी द्वारा अपने घर का ठिकाना तलाशने की मजबूरी में होती है, क्योंकि नलिनी के पिता ने उसे घर से निकाल दिया था। सुब्रह्मण्यम् शराब बनाने का भी धंधा करता था। यहीं ताड़ी बनाने के कारोबार में कई परेशानियों से घिरी नलिनी को सुब्रह्मण्यम् ने शराब पीने की आदत डाल दी। सुब्रह्मण्यम् के साथ साढ़े तीन साल रही नलिनी के दो बच्चे हुए। जिनमें बड़ा - लड़का 17 साल की उम्र में मर जाता है और छोटी - लड़की अभी है, पर वह अब नलिनी से कोई सरोकार नहीं रखती।

सुब्रह्मण्यम् की मौत के बाद नलिनी पर घर के खर्च के लिए उसकी सास रोज काफी रुपयों की मांग करने लगी, तब नलिनी ने जिस्मफरोशी का काम करना शुरू कर दिया। इस प्रकार नलिनी को अँधेरे में धकेलने के लिए उसके परिवार वालों का ही योगदान रहा।

इस पुस्तक में नलिनी ने इस अँधेरी यात्रा के अनेक आनुभविक ब्यौरे दिए हैं। नलिनी के ग्राहकों में सभी वर्गों के लोग - कर्मचारी, व्यापारी, पुलिस - होते। पुलिस के लोग रात में हमबिस्तर हुए और दिन में उसे पकड़वाए भी। यही नहीं, थाने से छुड़वाने के बदले सब इंस्पेक्टर नलिनी का दैहिक शोषण किया। नलिनी के इस कारोबार में उसकी कई सहेलियां भी शामिल हैं। इन्हें समाज के कई इज्जतदार लोगो का भी संरक्षण हासिल है।

नलिनी की इस आत्मकथा में पुरुष समलैंगिकता का ब्यौरा भी मिलता है, जिसमें नलिनी ने दिखाया है कि ऐसे लोगों में परदुःखकातरता किसी संवेदनशील मनुष्य से कमतर नहीं होती। अपनी गैंग में रहकर नलिनी शरीर-सुख के साथ-साथ शराब और सिगरेट की आदतों को अपनाती रही, पर इसे लेकर उसके मन में कोई अफसोस नहीं, इन सब चीजों को वह 'मज़ा' कहती है। जाहिर है कि नलिनी इसे कोई असामाजिक और वर्जित कृत्य नहीं मानती।

नलिनी की इस आत्मकथा में केरल के आभिजात्य माने जाने वाले परिवारों के प्रेम त्रिकोणों की सामाजिक सच्चाइयों को भी रखा गया है। नलिनी ने जिस्मफरोशी के कारोबार में होने वाली मुश्किलों का सम्यक्रूपेण उद्घाटन किया है। नलिनी ने अपने रहने-सहने तथा वेश्यावृत्ति के ढंग को बेबाकी से अपनी इस आत्मकथा में रखा है। उसने समाज की विडंबनाओं और विसंगतियों को दर्शाया है। 'काम' के वर्जित सुख की तलाश में भटकते मनुष्य की

अंतर्गथा को नलिनी ने बेझिझक और वैज्ञानिक तरीके से 'एक सैक्स वर्कर की आत्मकथा' में चित्रित किया है। मसलन उसने बताया कि सभी कामपिपासु व्यक्ति यौन सुख प्राप्त करने हेतु सैक्स वर्करों के पास नहीं जाते, कुछ लोग सिर्फ बातचीत करने और अपनी कामजनित जिज्ञासाओं को दूर करने के लिए भी वेश्याओं के पास जाते हैं।

नलिनी ने लोगों के दोहरेपन को अपनी आत्मकथा में जगह-जगह उकेरा है। नलिनी की वेश्यावृत्ति से होने वाली कमायी लेने में उसकी सासू मां को ऐतराज नहीं, पर नलिनी को अपने घर में रखने और नलिनी की लड़की को उससे मिलने देने पर उसे आपत्ति है। समाज के डर से जब नलिनी की सास अपनी नातिन को लेकर घर छोड़ जाती है, क्योंकि नलिनी के पति का छोटा भाई खाड़ी के देश से कमाकर धन भेजने लगता है, जिससे नलिनी का भेजा पैसा वापस आ जाता है। अब अपनी कमायी की आवश्यकता न जानकर नलिनी अपना धंधा बंद करने का फैसला लेती है।

इसी समय - नलिनी ने लिखा है "जब कोयक्का ने मेरे सामने शादी की पेशकश रखी तो मैं काफी उलझन में थी। अगले कदम का कोई ठिकाना नहीं था। उसने मुझसे शादी करने व मंगलौर के किसी अलग हिस्से में किराए पर भवन लेकर रहने का वादा किया। उसने बताया कि उसकी पहले दो शादियाँ हो चुकी थीं। उन दोनों से कोई औलाद नहीं हुयी तो उसने उन्हें तलाक दे दिया। उसने हमारे लिए एक शर्त रखी। अगर हमारी कोई औलाद न हुयी तो वह इस रिश्ते को भी तोड़ देगा। अगर हुयी तो हम हमेशा साथ रहेंगे।" 4

नलिनी ने शादी कर ली, पर यहां नलिनी को छला गया। कोयक्का की दूसरी पत्नी के बच्चा होने वाला था। नलिनी के यह जानने से पहले ही उसका कोयक्का से गर्भ ठहर गया। इससे पैदा हुयी लड़की का नाम ज़ीनत रखा गया। नलिनी का एक्सप्लोयटेशन यहां भी नहीं रुका। कोयक्का का दोहरापन उसी के वक्तव्य से स्पष्ट है "हरात (जायज़) बच्चे की देखभाल करनी चाहिए हराम (नाजायज़) की नहीं।" 5 24 माह पुरानी नलिनी की यह शादी भी टूट गयी। आगे नलिनी को अपनी ज़िन्दगी चलाने में शाहुल हमीद से मदद मिलती है। नलिनी शाहुल हमीद के साथ रहकर जमीला बन जाती है। वह प्लास्टिक की नाम की तख्तियों और बिल्ले बनाने के काम में लग जाती है। जमीला की यह शादी 12 साल चलती है। इसी बीच नलिनी अपनी शराब की आदत के कारण गंभीर रूप से बीमार हो जाती है। उसे अपनी बच्ची के साथ मस्जिदों में रहकर रातें गुजारनी पड़ती हैं। जमीला अपनी बच्ची को अरबी पढ़ाती है। उसकी बीमारी ठीक होने के बाद वह सैक्स वर्करों के लिए काम करने वाली एक संस्था 'ज्वालामुखी' में काम करने लगती है। नलिनी जमीला पुनः सैक्स वर्क करने लगती है। अपने इस काम के बारे में नलिनी ने अपनी पुत्री को भी बता दिया होता है। नलिनी एक शहर से दूसरे शहर में आती-जाती है। इस संस्था से जुड़ने के बाद वह सैक्स वर्करों के हक की लड़ाई लड़ने लगती है। वह अपनी सहेली को समझाती है "यही तो अड़चन है। अगर तुम सोचते हो कि यह एक जुर्म है तो तुम्हें सज़ा जरूर

मिलेगी। अगर तुम सोचते हो कि तुमने डाका डाला है तो सबसे पहले आस-पास वाले तुम पर झपटेंगे, फिर पुलिस और अदालत तुम्हें सज़ा देगी। हम गुनहगार क्यों हैं? किस नजरिये से? अगर सैक्स कोई गुनाह है तो वो भी एक गुनहगार नहीं है?" 6 नलिनी ने अपनी संस्था के साथ मिलकर पुलिस की यातनाओं के खिलाफ अपनी आवाज़ उठायी। वह एड्स और इससे जुड़ी समस्याओं पर विचार-गोष्ठियों और सेमिनारों में बोलने लगी। वह कोलकाता के सैक्स वर्कर्स के साथ मिलकर 3 मार्च को 'इंडियन सैक्स वर्क्स डे' में सक्रिय भाग लेती है। नलिनी सैक्स वर्कर्स और अन्य स्त्रियों में अंतर करती है "हम अपनी मर्जी की मालिक होती हैं। हमें खाना बनाकर पति का इंतज़ार नहीं करना पड़ता। हमें उनके मैले कपड़े नहीं धोने पड़ते। हमें अपने बच्चों को अपने हिसाब से पालने के लिए आदमी की इजाज़त नहीं लेनी पड़ती।" 7 सैक्स वर्कर की यूनियनों का साथ देने के लिए अब तक कई सामाजिक कार्यकर्ता और समाज सेवी महिलाएं सामने आ जाती हैं।

नलिनी जमीला सैक्स वर्कर्स के मुद्दों को लेकर डॉक्युमेंट्री (वृत्तचित्र) बनाती है। वह देश के कई हिस्सों की यात्रा के साथ-साथ विदेशों में भी सामाजिक कार्यशालाओं में भाग लेती है। इस क्रम में वह थाइलैंड की तीन बार यात्रा करती है। मीडिया में सैक्स वर्कर्स के आयोजनों को पूरी संवेदना के साथ लिया गया। नलिनी जमीला ने अपनी बेटी की शादी उसके वयस्क होने पर अपने बारे में सब कुछ बताकर धूमधाम से माले के एक लड़के के साथ की और पिता की भूमिका का शादी के समय की जाने वाली औपचारिकताओं का निर्वहन स्वयं किया। माले में रहने वाले ज़ीनत के पति का परिवार मूलतः केरल निवासी था किन्तु माले में नलिनी की बेटी को नौकरानी बना दिया गया। वह एक साल में ही अपनी शादी और शौहर को छोड़कर वापस आ गयी।

केरल के कोझीकोड के शांतिनगर में बंगलादेश कालोनी (बेघर और बेरोजगार लोगों द्वारा बसायी कालोनी) में नलिनी सन् 2004 में अपनी लड़की के साथ रहने लगी, जहां एक ऑटो रिक्शा चलाने वाले लड़के के साथ बिना पहचान और इतिहास छिपाए ज़ीनत की शादी हो गयी। इस लड़के के साथ नलिनी और उसकी पुत्री आनंदमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

नलिनी ने अपनी आत्मकहानी में जगह-जगह लोगों के दोहरेपन को खुले रूप में चित्रित किया है। वह एक स्थान पर अपने पिताजी के बारे में लिखती है "हो सकता है कि वे बड़े भाई की पत्नी की इज़ज़त करते हों लेकिन इसके अलावा वह एक सैक्सी औरत भी थीं। शायद यह वजह भी हो सकती है कि पिताजी पूरी तरह उनके कहने में थे।" 8 लोगों की झूठी कामशुचिता की बेबाक बयानी अन्यत्र भी दृष्टव्य है। बिहार विधान सभा और विधान परिषद की सदस्या रहीं हाशियेवादी साहित्यकार रमणिका गुप्ता की आत्मकथा में कहा गया है "पिता भी बांहों में भरकर प्यार करते थे तो

मेरा वक्ष दबने पर मुझे लगता था जैसे दबाया गया हो। पर ऐसा तभी होता था ज बवह लज्जा (दूर के रिश्ते की एक लड़की जो हमारे घर रहकर पढ़ती थी) को बांहों में भरने के बाद हमें बांहों में भरते थे। तभी महसूस होता था। शायद उस लड़की के प्रति उनकी कमजोरी बाद तक बनी रहती थी।’ ’ 9

नलिनी जमीला इस्लाम कबूलने पर भी सिर ढंक कर नहीं रही। वह आज की नारीवादियों से भिन्न मानती है कि सैक्स पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों की भी आवश्यकता है। उसके अनुसार सैक्स वर्करों को लाइसेंस देने की मांग उनकी नहीं है, किन्तु इसे अपराध न माना जाए। वह कहती है “अपराध में न रखने से हमारा मतलब था कि अगर दो लोग अपनी मर्जी से सैक्स करना चाहते हैं, जिससे किसी को कोई परेशानी नहीं है तो उनसे इस बारे में जवाब तलब नहीं होना चाहिए।’ ’ 10 नलिनी सैक्स वर्करों के लिए पुनर्वास व्यवस्था को भी पर्याप्त नहीं मानती, क्योंकि पुनर्वास से सैक्स वर्करों के घरेलू और सामाजिक रिश्तों को फिर से जिन्दा नहीं किया जा सकता।

नलिनी सैक्स वर्क और यौन शोषण को अलग-अलग मानती है। कई औरतें शोषण की वजह से इस धंधे में आयी होती हैं। नलिनी की संस्था इस धंधे से बाहर जाने वालों की भी मदद करती है। सैक्स रैकेट्स द्वारा भी औरतों का शोषण करवाया-किया जाता है। इससे नलिनी अपने काम को अलग मानकर चलती है। नलिनी जमीला ने मकान बनाने के काम में लगे मजदूर और नगरपालिका के सफाईकर्मी से अपने काम को थोड़ा ऊपर का माना है। नलिनी ने ‘वेश्या’ शब्द की बजाय ‘सैक्स वर्कर’ को सही माना है, क्योंकि ‘वेश्या’ का तात्पर्य ‘वो जो बहकाती है’ किन्तु अब जब यह शब्द गाली बन गया तो ऐसे लोगों के लिए ‘सैक्स वर्कर’ शब्द ग्रहण किया गया। नलिनी के विचार से शब्दों का अर्थ एक होने पर भी उसके इशारे से अर्थछबियां बदल जाती हैं। “किसी भी सैक्स वर्कर से पूछें तो पता चलेगा कि सभी ग्राहक शारीरिक सैक्स की मांग नहीं करते। ज्यादातर ग्राहक बातचीत करने या सलाह लेने आते हैं। शारीरिक सैक्स की मांग वही करते हैं, जिन्हें समाज अपने से दूर धकेल देता है।’ ’ 11 नलिनी कहती है “सैक्स वर्कर के घरों में सैक्स वर्कर ही पैदा नहीं होती। इस धंधे में आने वाली ऐसी औरतें होती हैं, जो हायर सैकेण्डरी के पेपरों में फेल होने, नौकरी न मिलने, पचास हजार की जगह तीस हजार का दहेज देने पर पति के हाथों धक्का खाने की वजह से यहां पहुंचती हैं।’ ’ 12 नलिनी प्रश्न करती है “हम यह फैसला क्यों कर लेते हैं कि औरतें सिर्फ सहने और बच्चे पैदा करने के लिए बनी हैं? यह मानने में क्या हर्ज है कि लेस्बियन होना परिवार नियोजन ही है। केरल में आमतौर पर गर्भनिरोधक के तौर पर ‘परिवार नियोजन’ का ही नाम लिया जाता है। इस दुनिया को बहुत से इंसानों की ज़रूरत नहीं है, लेकिन कुछ लोग ब्रह्मा (पैदा करने वाले) बनना ही चाहते हैं, तो उन्हें बनने दो।’ ’ 13

सैक्स वर्करो के पास जाने वाले बहुत से व्यक्ति सैक्स करने नहीं वरन् सैक्स वर्करो की आदतों और उनकी ज़िन्दगी के बारे में जानने और पूछने जाते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनकी शादी होने वाली होती है या जिनकी शादी टूट जाती है। सैक्स के बारे में प्रचलित अनेक भ्रान्तियों का काउन्सिल समाधान इस पुस्तक में मिलता है। स्त्रियों से छेड़खानी करने वाले मनचलों से कैसे निपटना है और ब्लू फिल्मों के सोसायटी पर क्या कुप्रभाव पड़े हैं, जैसे विमर्श-समाधान भी इस पुस्तक की उपादेयता को बढ़ाते हैं।

पुस्तक में अनेक शब्दों का वैयुत्पत्तिक एवं स्थानापन्न अर्थ दिया गया है। इससे साफ है कि लेखिका के सहयोगी की बौद्धिकता लेखन में प्रयुक्त हुयी है। पुस्तक में लिखे गए शब्द दूसरे के हैं, इसलिए नलिनी जमीला की इस आत्मकथा में कहीं वर्णनों की पुनरुक्ति है तो कहीं घटनाओं की अतारतम्यता। किन्तु यह किसी कृति का बाह्य पक्ष ही है। इस कृति का आंतरिक सौन्दर्य तो वह उदात्तता है जो पाताल की अतल गहराईयों में छिपकर अनाघात है। हाशिये पर पड़े व्यक्ति की संवेदना उसी की जुबानी जानकर पाठक एक बार ऐसे लोगों के प्रति मार्मिक हुए बिना नहीं रह पाता, उसे सोचने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। पाठकों की कई कौतूहलजनित जिज्ञासाएं पुस्तक द्वारा शमित होती हैं। हिन्दी पढ़ी समाज की झिझक और जकड़न के कारण सूचना क्रान्ति और भूमंडलीकरण के बावजूद हिन्दी में ऐसी पुस्तकें आने में अभी वर्षों लगेंगे। कदाचित् 21वीं शदी में यह संभव हो जाए।

संदर्भ-स्रोत-

1 आउटलुक, फरवरी 2009, 'नैतिक बोध से बाहर सेक्स' शीर्षक से अभिषेक कश्यप की मृदुला गर्ग से बातचीत पर आधारित आलेख

2 <http://www.aamadmi.org/rg-hadse.asp> searched on 6.3.2009

3 एक सैक्स वर्कर की आत्मकथा, नलिनी जमीला, आवरण के पिछले पृष्ठ से, राजपाल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 2008

4 एक सैक्स वर्कर की आत्मकथा, नलिनी जमीला, पृष्ठ 38

5 वही, पृष्ठ 39

6 वही, पृष्ठ 64

7 एक सैक्स वर्कर की आत्मकथा, नलिनी जमीला, पृष्ठ 79

8 वही, पृष्ठ 91

9 <http://www.aamadmi.org/rg-tukde-tukde.asp> pg. 8 7 9 of 11, searched on 6.3.2009

10 एक सैक्स वर्कर की आत्मकथा, नलिनी जमीला, पृष्ठ 100

11 एक सैक्स वर्कर की आत्मकथा, नलिनी जमीला, पृष्ठ 106

12 वही, पृष्ठ 114

13 वही, पृष्ठ 104-105

समाज कार्य विभाग, बुंदेलखंड विश्वविद्यालय झांसी द्वारा दिनांक 27-28 फरवरी 2011 को Empowering the Woman : Contemporary issues, challenges, strategies and Intervension विषय पर आयोजित सेमिनार की प्रकाशित पुस्तक 'महिला सशक्तिकरण चुनौतियां एवं समाधान संपादक डॉ मुहम्मद नईम, युनिवर्सिटी पब्लिकेशन नई दिल्ली 2013 आइएसबीएन 9788175556539 से । युद्धरत आमआदमी अंक 103 अप्रैल-जून 2010 से साभार

## हिन्दी के मुस्लिम साहित्यकारों के समसामयिक सरोकार

भारतीय संस्कृति का आधारभूत वैशिष्ट्य है उसकी धर्मनिरपेक्ष अस्मिता। विविधता में एकता हमारी संस्कृति का प्रस्थान बिन्दु भी है और उसकी गौरवमयी परिणति भी। यहां न जाने कितनी जातियां, कितने धर्म और कितने संप्रदाय आए और इस विराट संस्कृति सागर में लय हो गए। वस्तुतः भारत किसी भौगोलिक इकाई का नाम नहीं, बल्कि वह तो ऐसे उदात्त मानव मूल्यों का संपुंज है, जो मनुष्य को मनुष्य से आत्मीय रूप में जोड़ता है। सभ्यताओं और संस्कृतियों के अनवरत विकास-क्रम में भारतीयता का यह बिंब अनूठा तो है ही, अभूतपूर्व भी है। भारत की सभ्यता और संस्कृति में मुसलमानों का योगदान अप्रतिम है। यह किसी धर्म की जागीर नहीं है।

हिन्दी के आदि मुस्लिम साहित्यकार अमीर खुसरो हिन्दी के भी प्रथम साहित्यकार हैं, जो अपने को हिन्दी की तूती कहते थे। वे कहते थे कि तुम्हें मुझसे कुछ पूछना हो तो हिन्दी में पूछो तब मैं तुम्हें सब कुछ बता दूंगा। हिन्दी के प्रथम महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' में हिन्दू और मुसलमानों के संघर्ष का चित्रण किया गया है। हिन्दी के पहले बड़े कवि कबीर ने अपने काव्य का एक बड़ा अंश इस संघर्ष को शांत करने के लिए रचा है। हिन्दी का पहला बड़ा महाकाव्य जायसी का 'पद्मावत' हिन्दू और तुर्कों के द्वन्द्व को कह रहा है। हिन्दी के शीर्षस्थ कवि तुलसी के 'रामचरितमानस' में मुगलिया संस्कृति दिखायी पड़ती है। इनके काव्य में हिन्दू और तुर्क का जातियों के अभिप्राय में नगण्य प्रयोग मिलता है। मुसलमानों का प्रतिपाद्य होते हुए भी हिन्दी के इन चारों प्रस्थान साहित्यकारों के यहां सांप्रदायिकता का लेशमात्र भी नहीं है। हिन्दी साहित्य की गंगा जमुनी परंपरा का यह जीवंत निदर्शन है। चंदबरदायी, कबीर और जायसी के यहां हिन्दू मुस्लिम संघर्ष को अनेक रूपों में चित्रित किया गया है। वे चाहते तो कंस या रावण के चरित्र में आसानी से इस्लाम के अनुयायी बादशाह का चरित्र प्रक्षेपित कर सकते थे। इसी कारण हिन्दी 'विरुद्धों के सामंजस्य' की भाषा है। उसकी प्रकृति दो विरोधी ध्रुवों को साधने की है।

कबीर न हिन्दू थे, न मुसलमान। यह भी कहा जा सकता है कि वे हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी। इसलिए हम हिन्दी का सबसे बड़ा मुस्लिम कवि मलिक मोहम्मद जायसी को मान सकते हैं। उन्होंने मुसलमान होकर हिन्दू शौर्य की गाथा को दिल्ली के सुलतान के विरुद्ध कहाया है। यद्यपि वे कहते हैं "हिन्दू तुर्क दुवौ रन गाजे" किन्तु उनकी आत्मीयता चित्तौड़ के राजा के साथ है, दिल्ली के सुलतान के प्रति नहीं। कबीर की प्रतिभा को तो



समीक्षकों ने प्रखर माना, पर व्यंजना के स्तर पर उन्हें प्रभावी नहीं समझा गया। इस कमी को जायसी ने पूरा किया। जायसी ने व्यक्ति के रागात्मक पक्ष का संस्पर्श करने का काम किया, जो कबीर के यहां नहीं पाया गया था।

हिन्दी के मुस्लिम साहित्यकारों की परंपरा अमीर खुसरो से प्रारंभ होकर कबीर और उनकी निर्गुण संतकाव्यधारा के कवियों; रज्जब आदि तथा जायसी और उनकी निर्गुण सूफीकाव्यधारा के कवियों; मुल्ला दाउद - चंदायन, कुतुबन - मृगावती, मंझन - मधुमालती, उसमान - चित्रावली, नूरमुहम्मद - अनुराग बांसुरी आदि में भास्वर हो उठती है। भक्तिकाल की विविधता अब्दुरहीम खानखाना के कृतित्व में निरूपित है। वे मुसलमान होने के साथ अपने समय के शासन के अंग भी थे, फिर भी वे हिन्दू देवताओं का स्तुति गान करते हैं। शाही दरबार में रहकर भी वे अपने सूफी और संतों से अपने को संबद्ध करते हैं। भक्तिकाल में ही कादिर और मुबारक भी हुए हैं, जिनके पदों में नीति और भक्ति का संगम मिलता है। भक्तिकाल के उत्तरार्द्ध में आलम प्रेम की पीर या इश्क का दर्द के कवि हुए हैं। रेखता या उर्दू में भी इन्होंने कवित्त कहे हैं। पठान बादशाहों की कुल परंपरा में हुए कृष्ण भक्त कवि रसखान ने अपने कवित्त सवैयों में सच्चे प्रेम की अभिव्यंजना की है। इसी परंपरा में नजीर अकबराबादी के पदों को देखा जा सकता है।

आधुनिक युग के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी साहित्य में मुसलमानों के इसी अवदान को देखते हुए कहा था “इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये” । यहां यह ध्यान रखना होगा कि हिन्दू शब्द भारतेन्दु के यहां संप्रदायवाची नहीं है। भारतेन्दु के बलिया व्याख्यान - 1884 में कहा गया है “इस महामंत्र का जप करो, जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मराठा, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक, जैन, ब्रह्मो, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो।”

हिन्दी को गद्य की भाषा गढ़ने में जिस मुस्लिम साहित्यकार का नाम लिया जाता है, वह है इंशाअल्ला खां। इनकी ‘उदयभान चरित अथवा रानी केतकी की कहानी’ हिन्दी गद्य की प्रथम रचनाओं में से एक है। इंशा के समय मुसलमान भाषा का व्यवहार साहित्यिक हिन्दी भाषा के लिए करते थे, जिसमें आवश्यकतानुसार संस्कृत के शब्द आते थे - चाहे वह ब्रजभाषा का हो, चाहे खड़ी बोली का। दूसरी तरफ वे अरबी-फारसी मिली हिन्दी को उर्दू कहते थे। ऐसे समय में इंशा का उद्देश्य ठेठ हिन्दी लिखने का था, जिसमें हिन्दी को छोड़कर और किसी बोली का पुट न हो। इंशा ने प्रयत्न किया कि अपनी हिन्दी भाषापन अर्थात् संस्कृत के शब्दों से निर्मित भाषा और मुअल्लापन अर्थात् अरबी-फारसी के शब्दों से निर्मित भाषा से दूर रहे। इंशा की इन्हीं भाषायी विशेषताओं को लक्षित कर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है - “आरंभकाल के चारों लेखकों - मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्ला खां, लल्लूजी लाल और पं० सदल मिश्र - में इंशा की भाषा सबसे चटकीली, मटकीली, मुहावरेदार और चलती है।

इसके बाद फ्रांस के एक प्रोफेसर गार्सा द तासी ने अंग्रेजों को सुझा दिया कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है, जो बुतपरस्त हैं और उर्दू मुसलमानों की, जिनके साथ अंग्रेजों का मजहबी रिश्ता है। दोनों सामी या पैगंबरी मत के मानने वाले हैं। तासी महोदय ने सर सैयद अहमद खां को उर्दू की तरफ से आगे कर दिया। तासी की सलाह पर कोलकाता के फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रो० जॉन गिल क्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू के दो अलग-अलग विभाग खोलकर इस झगड़े की जमीन तैयार कर दी। आगे चलकर देश का स्वतंत्रता संग्राम लड़ा गया। देश आखिरकार स्वतंत्र हुआ, पर इसका विभाजन भी हो गया। विभाजन की मांग मुस्लिम समाज की ओर से उठाई गई थी, इसलिए दोषी भी वही माने गए। इसके बाद कई अन्य ऐसे घटनाक्रम भी हुए जिनसे हिन्दू और मुस्लिम भाईचारे को ठेस पहुंची। देश को कई सांप्रदायिक दंगों को झेलना पड़ा। इसकी आग से आज भी देश में लपटें उठती रहती हैं। आज आतंकवाद और अलगाववाद अपने चरम पर है। देश के कई शहरों में आतंकी वारदातों का बढ़ना अत्यंत चिन्ताजनक है। भारतीय समाज बंटता-सा जा रहा है। इन घटनाओं के लिए देश का बहुसंख्यक वर्ग मुस्लिम बिरादरी को जिम्मेदार मान रहा है। मुसलमानों की देशभक्ति पर प्रश्नचिन्ह खड़े किए जा रहे हैं। समाज में ऐसी धारणाएं परिव्याप्त हो रही हैं कि मुसलमान स्वभावतः धर्मांध और असहिष्णु होते हैं। लोग मानते हैं कि सभी आतंकवादी घटनाओं के मास्टरमाइंड मुसलमान ही होते हैं।

पूरी दुनिया मुसलमानों को शक की निगाहों से देख रही है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि आतंकवाद का सीधा संबंध साम्राज्यवाद से जुड़ा है। साम्राज्यवादी ताकतों ने पाकिस्तान और अफगानिस्तान जैसे मुस्लिम देशों में रहने वाले लोगों को हताशा और बरबादी की ओर धकेला, जिससे उनमें कट्टरतावाद बढ़ा। खून-खराबा बढ़ने का यह प्रमुख कारण है।

आतंक, हिंसा और अविश्वास का सबसे अधिक मूल्य लोकतंत्र को चुकाना पड़ता है। भारत के मुसलमान को यहां के लोकतंत्र में अपनी प्रमुख भागीदारी निभाने की आवश्यकता है। आतंकवाद के आरोप से ग्रसित मुस्लिम समाज पर बड़ा संकट है। यह समाज पहले से ही विपन्नता और अशिक्षाजन्य कमजोरियों से अंतर्मुखी बनने को विवश है। आतंक और राष्ट्र-द्रोह तक की तोहमत उसके मत्थे मढ़ी जा रही है, जिससे इस समाज का आम आदमी आहत हुआ है। चरमपंथी और दहशतगर्दी को मुसलमानों का पर्याय मान लेने की भूल होने लगी है। आतंकी विस्फोटों के बाद मुस्लिम युवकों को मुस्लिम बस्तियों में भी किराए के मकान ढूंढने में मुश्किलें आ रही हैं। कुलमिलाकर सामाजिकता का संकट खड़ा हो गया है। दूरियां बढ़ती जा रही हैं। संदेह के इस वातावरण में आतंकवादी पनप रहे हैं। इस संवेदनशील समय में शिक्षाविदों को सावधानी और जिम्मेदारी से काम लेने की जरूरत है।

इसी समसामयिक आवश्यकता को देखते हुए इस विषय का चयन किया गया है कि इस ज्वलंत विषय पर आज के बुद्धिजीवी किस तरह सोचते हैं? आतंकवाद की इस विकराल होती समस्या को उन्मूलित करने हेतु उनके पास हिन्दी के मुस्लिम साहित्यकारों की कृतियों के आलोक में क्या समाधान हैं? इस समस्या का मूल आखिरकार क्या है? कोई रचनाकार इसलिए बड़ा नहीं हो जाता कि वह मुसलमान है। यह कि अपनी जाति या वर्ग के कारण वह हिन्दी साहित्य का मूर्धन्य कृतिकार माना गया, मानना मिथ्या होगा। रचनाकार सबसे पहले अपनी रचना के माध्यम से पहचाना जाता है, व्यक्तित्व का पहलू उसके बाद आता है। ऐसा यदि नहीं है तो यह हमारी आलोचना पद्धति के लिए चिन्ताजनक है। साधारण आदमी की बात संस्कारों के दायरे में आती है, इसके परिष्कार का दायित्व हमारे समालोचक विद्वानों का है।

क्या मुस्लिम साहित्यकारों और अन्य चिन्तकों में कोई विचार-वैषम्य है? मुस्लिम साहित्यकार को यह कैसे लिखना पड़ गया कि हिन्दू मुस्लिम भाई - भाई के नारे से मुझे नफरत है, क्योंकि मैं हर रोज सबेरे की चाय पीने से पहले अपने भाइयों को याद नहीं दिलाता कि हम भाई-भाई हैं। यह बात हम चारों भाइयों को मालूम है। इस गोष्ठी में हम पाएंगे कि कबीर ने यदि हिन्दू और मुसलमानों की रूढ़ियों को खोज-खोजकर कोसा था तो छः सौ वर्ष बाद डॉ राही मासूम रज़ा भी नव कबीर बनकर हिन्दू और मुस्लिम कट्टरपंथियों को सीना तानकर ललकारते हैं।

वे कहते हैं -

मेरा नाम मुसलमानों जैसा है

मुझको कत्ल करो और मेरे घर में आग लगा दो

लेकिन मेरी नस-नस में गंगा का पानी दौड़ रहा है।

मेरे लहू से चुल्लू भरकर महादेव के मुंह पर मारो

और उस जोगी से यह कह दो

महादेव अब इस गंगा को वापस ले लो

यह मल्लिख तुर्कों के बदन में गाढ़ा गर्म लहू बनकर दौड़ रही है।

जिस प्रकार भक्तिकाल में नूरमुहम्मद को अनुराग बांसुरी की रचना करने पर उलाहना मिला था कि तुम मुसलमान होकर हिन्दी भाषा में रचना करने क्यों गए, तो नूरमुहम्मद ने सफाई दी थी-

जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा।

हिन्दू मग पर पांव न राखेउं का जौ बहुतै हिन्दी भाखेउं।

राही के महाभारत की पटकथा लिखने पर इसी प्रकार का उपालंभ मिलने पर चार कदम आगे बढ़कर जवाब दिया कि जैसे महाभारत पर हमारा कोई अधिकार ही नहीं है। इस प्रकार की बातों से ऐसे रचनाकारों को दुख पहुंचता है।

हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार रसखान के बिना कृष्ण भक्ति काल का इतिहास पूरा नहीं हो सकता है, तुलसी की रामायण मुगल दरबार की झलकियों के बिना अधूरी है, अनीस के मरसिये अवध नगरी के राजपूतो के बिना फीके हैं और हिन्दी का सबसे बड़ा और प्रख्यात धारावाहिक महाभारत राही की पटकथा के बिना सूना है; उसी प्रकार मुस्लिम साहित्यकारों के बिना हिन्दी साहित्य भी अपूर्ण और एकांगी रहेगा। यह बात कुछ लोगों को निर्णयात्मक और अतिवादी लग सकती है क्योंकि लोग सिर्फ वही बातें सुनना चाहते हैं जिन्हें वे सच मानते हैं।

भारतीय मुसलमान: दशा एवं दिशा संपादक डॉ वीरेंद्रसिंह यादव राधा प्रकाशन दिल्ली 2010 आइएसबीएन 9788174876502 में प्रकाशित

## बुंदेली बोली और उसका साहित्य

बुन्देली के विविध रूप हैं किंतु यहां हमारे विवेचन का आशय उसके विविध प्रकार नहीं, अपितु बुंदेलखण्ड के समग्र अंचल में व्यवहृत एक सामान्य बुन्देली भाषा से है। इस आलेख में बुन्देली बोली और उसके साहित्यिक सौन्दर्य के उद्घाटन का प्रयास हुआ है।

बुन्देलखण्ड साहित्यिक क्षेत्र में जगनिक, गोस्वामी तुलसीदास, महाकवि केशवदास, लालकवि, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, डॉ वृन्दावनलाल वर्मा और लोककवि ईसुरी के कारण तथा आल्हा-ऊदल और वीरांगना लक्ष्मीबाई एवं उनके अभिन्न सहयोगी बानपुर नरेश महाराजा मर्दनसिंह के कारण पराक्रम के क्षेत्र में संसार में अपनी विशिष्ट पहचान रखता है।

शौरसेनी अपभ्रंश से उद्भूत पश्चिमी हिन्दी की पांच बोलियों में एक बुन्देली भाषा है। पश्चिमी हिन्दी की बुन्देली के अतिरिक्त अन्य बोलियां हैं खड़ी बोली, ब्रज भाषा, बांगरु या हरियाणवी और कन्नौजी। इस प्रकार बुन्देली की सहोदरा उसके अतिरिक्त ये चार बोलियां हैं। अन्य बहनों में पूर्वी हिन्दी की अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी; बिहारी हिन्दी की मैथिली, मगही और भोजपुरी, राजस्थानी हिन्दी की मेवाती, मारवाड़ी और जयपुरी तथा पहाड़ी हिन्दी की कुमायुनी और गढ़वाली। इन बोलियों को मिलाकर हिन्दी प्रदेश बनता है। बुन्देली में ऐ, औ का उच्चारण मूल स्वर तथा संयुक्त स्वर दोनों रूपों में होता है। ब्रजभाषा की तरह स्वरों के अनुनासिक रूप भी मिल जाते हैं। यहां की बोली के उच्चारण में अल्पप्राणीकरण मिलता है जैसे गधा को गदा, दूध को दूद तथा भूख को भूक। ड, ढ की जगह र बोला जाता है, जैसे करोड़ का कोरोर दौड़ का दौर। कभी-कभी र लुप्त हो जाता है जैसे गालियां - गाईं व्याकरणिक दृष्टि से अवधी की तरह इया अथवा वा प्रत्यय संज्ञा के साथ जुड़ते हैं जैसे लठिया, बैलवा, मलिनिया आदि।

बुन्देली क्षेत्र के रचनाकारों ने ब्रजभाषा (केशवदास-रामचन्द्रिका), अवधी (गोस्वामी तुलसीदास - श्रीरामचरितमानस) तथा खड़ी बोली (मैथिलीशरण गुप्त - भारत भारती) में काव्य सृजन करके हिन्दी साहित्य को कालजयी कृतियां दी हैं। यहां के अधिसंख्य रचनाकारों ने ब्रजभाषा में अपनी रचनाएं लिखीं। हिन्दी साहित्य में काव्य ही अभिव्यक्ति की आदि विधा रही। अतः यहां के साहित्यकारों ने भी अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय काव्य-सृजन करके दिया। बुन्देली भाषा के माध्यम से साहित्य की श्रीवृद्धि करने वाले प्रमुख रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय अधोप्रस्तुत है-

बुन्देली बोली और संस्कृति का प्रथम महाकाव्य आल्हखण्ड है। इसके रचयिता महाकवि जगनिक हैं। जगनिक का जन्म आगरा जिले की खैरागढ़ तहसील में हुआ था। ये महोबा के राजा के आश्रित कवि थे। बुन्देलखण्ड

की ग्रामीण जनता के लिए आल्हखण्ड धर्म सट्टश काव्य-ग्रंथ है आल्हाखण्ड को लिपिबद्ध करने का कार्य सर चार्ल्स इलियट ने सन् 1865 में किया, जिसमें 23 लड़ाइयों का वर्णन किया गया है, परंतु बाद के आल्हखण्ड में 25, 56 और 64 लड़ाइयों का वर्णन मिलता है।

बुन्देली भाषा को विकसित कर उत्कर्ष तक पहुंचाने वाले ईसुरी का जन्म मऊरानीपुर के निकट मेढकी ग्राम में संवत् 1881 में हुआ था। ईसुरी खेत खलिहानों में बैठकर लोगों को बुंदेली भाषा में कविता बनाकर सुनाते थे। लोग इनकी कविता-लालित्य से युक्त गायन-काव्य सुन भाव विभोर हो जाते। यहीं से उनकी कविता से एक नवीन काव्य विधा का सृजन हुआ, जिसे 'फाग' नाम से प्रसिद्धि मिली। फाग साहित्य में ईसुरी श्रृंगार के रस सिद्ध कवि के रूप में अमर हो गए इस छंद में 28 मात्राएं होती हैं और 16 तथा 12 मात्राओं पर यति होती है। अपने काव्य में ईसुरी ने प्रेयसी के लिए काल्पनिक नाम 'रजऊ' प्रयोग किया है। स्वयं ईसुरी ने कहा है कि रजऊ को लक्षित कर रची गई फागों की संख्या 360 है।

रीतिकाल के उत्तरार्द्ध कवियों में बुंदेली धारा के प्रसिद्ध कवियों में से एक गंगाधर व्यास का जन्म संवत् 1906 में छतरपुर में और निधन संवत् 1973 में हुआ था। ईसुरी की काव्य परंपरा को विकसित करने में व्यास जी का महत्वपूर्ण स्थान है। बुन्देली त्रयी में ईसुरी और गंगाधर व्यास के अतिरिक्त ख्यालीराम आते हैं। इनका जन्म संवत् 1906 में चरखारी स्टेट के छोटे से गांव अठकोरा में रामसहायक जी लोधी राजपूत के घर हुआ था। यह ईसुरी के समकालीन थे।

रस्ता सुगम ईसुरी डारी अच्छी राम बिचारी ।

गंगाधर गट्टी पुरवा कें पक्की सड़क निकारी ।

जां जां झील परी बोधन ने ख्याली ख्याल सुधारी ।

पदम सिंह बिरछा लगवा कें करी घनेरी छांरी ।

ता ऊपर लाले उर मोती निगम खात नई हारी ॥

बुंदेलखण्ड के प्रसिद्ध कवि घासीराम व्यास से प्रेरणा प्राप्त करके झांसी के श्री रामचरण हयारण मित्र (जन्म 1905 ई0) का प्रारंभिक काव्य-सृजन मानक हिन्दी का है, किन्तु आगे चलकर इन्होंने विषुद्ध बुंदेली को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। मित्र जी ने अपने बुन्देली काव्य-सृजन से जताया कि मानक हिन्दी में सृजन की क्षमता रखकर भी मातृभाषा बुन्देली की सेवा को अपना प्राथमिक कर्तव्य बनाया जा सकता है। 'बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य' इनका विवेचना परक ग्रंथ है। मित्रजी के 'लोकगायनी' तथा 'लौलइया' शुद्ध बुंदेली कविताओं के संकलन हैं।

बुन्देली काव्य क्षेत्र में उरई निवासी श्री शिवानंद मिश्र 'बुन्देला' अपनी साहित्यिक प्रसिद्धि के कारण बुन्देला उपनाम से ही अधिक जाने जाते हैं। बुंदेला जी का सांस्कृतिक और नैतिक जागरण पर बल देता हुआ एक पद उनकी कविता 'कथा खेत खरयानन की' से यहां उद्धृत है -

तुम डिल्ली की बातें करो बड़े भइया  
हमें करन दो सेवा अपने गांवन की ।  
तुम कारन पै मलकौ मालपुआ गुलकौ,  
हमें कहन दो कथा खेत खरयानन की ।  
ठांडी कर गए छाया-बनाय मइइयन को,  
रात-रात सोई गीले में महतारी,  
पाल-पोस स्यानों कर गई सब भइयन कों ।

बुन्देली गद्य एवं काव्य के अप्रतिम रचनाकार डॉ दुर्गेश दीक्षित का बाल्य-काल पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के परिवार के साथ कुण्डेश्वर में व्यतीत हुआ। अभी भी वे कुण्डेश्वर में निवास करते हैं। श्रद्धेय चतुर्वेदी जी के संबल और मार्गदर्शन से इनमें काव्य सृजन की रुचि और क्षमता का विकास हुआ। कवि सम्मेलनों में श्रोताओं का सहयोग इनके उत्साह में निरंतर वृद्धि करता गया

डॉ दीक्षित ने अत्यंत परिश्रमपूर्वक अध्ययन करते हुए डी.लिट्. की उपाधि धारण की है। एक आलेख के रूप में उनका ललित बुन्देली गद्य इस पुस्तक की शोभा में श्रीवृद्धि कर रहा है।

पृथ्वीपुर में शिक्षक श्री रतिभान तिवारी 'कंज' को प्रगतिवादी विचारधारा का बुंदेली कवि माना जाता है। इनका जन्म संवत् 2007 में टीकमगढ़ जिले के नैनुआ ग्राम में हुआ था। श्री कंज को बुन्देली भाषा की सेवा पर उ.प्र. हिन्दी संस्थान लखनऊ द्वारा मैथिलीशरण गुप्त पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। कवि के पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति गहरे आक्रोश को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है -

उनके रोजउं मने दिवारी, मोरे घरे धंधक रई होरी ।  
उनकी पौर उटारी हंस रई, सूनी उरी टपरिया मोरी ।  
वे तौ हलुआ रबड़ी सूंटे, दूध धरें कुत्ता नौरा खों ।  
अदपेटां सोवंे हम रोजउं, तरस रए कौरा-कौरा खों ।

जगदीश सहाय खरे 'जलज' सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति संवेदनशील रहे हैं इनकी 1963 में लिखी बुन्देली रचना 'राम धईं खाय लेत महंगाई' बड़ी लोकप्रिय हुई -

चुटियां फीता छोड़ के रंग लो,  
करिया रामबांस कौ जोरा,  
दार उधार मुहल्ला भर की, अब नो नई चुकाई।  
कासैं में आवैं तिरकाई।

बुंदेल छंद नामक अनोखे छंद में बुन्देली रचनाएं करने वाले बिजावर के श्री संतोष सिंह बुन्देला ने भी बुन्देली काव्य साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना महती योगदान किया है। वहीं मही कुम्हरा मोंठ निवासी श्री अवध किशोर श्रीवास्तव 'अवधेश' ने झांसी के कवीन्द्र नाथूराम माहौर के संपर्क में रहकर काव्य रचना आरंभ की। उनकी बुन्देली आन, बान और शान को अभिव्यंजित करती ये पंक्तियां दृष्टव्य हैं -

बुन्देलों की सुनो कहानी, बुन्देलों की बानी में।

और

रामधईं खाएं लेत महंगाई

उतै लगत अब एक रुपइया जितै लगत को पाई।  
काकी होरी, काकी होरा ?  
कलजुग, परौ सबई पै तोरा,  
चिथरा भई तुमाई धुतियां,  
हम तौ कहत लपेड़ौ बोरा,  
अवधेश जी का बुन्देली भाषा के माधुर्य को स्पष्ट करता यह पद दर्शनीय है-  
लिखतन बुन्देली अखरी सी, बोलत में मिसरी सी,  
ब्रज संस्कृत की बड़ी बहिन, प्राकृत की छुकरी सी।  
कोट-कोट हिरदै में बस के, अधरन पै बिखरी सी,  
कएं 'अवधेश' मका की रोटी, नैनुं सैं चिपरी सी।।



लोकभाषाओं में रचे साहित्य को देखकर रमई काका के प्रथम कविता-संकलन 'बौछार' की भूमिका में डॉ रामविलास शर्मा ने लिखा है "ग्रामीण भाषाओं में सुन्दर कविता हो सकती है, यह संभावना आज सत्य बनकर हमारे सामने आ गयी है। यही नहीं, ग्रामीण भाषाओं में जिस कोटि की व्यंजना संभव है, वह खड़ी बोली में अभी सुलभ नहीं है। इन कविताओं को पढ़ने से पता लगता है कि हमारी उपभाषाओं में सैकड़ों ऐसे शब्द भरे पड़े हैं, जिन्हें अपनाने से हिन्दी समृद्ध होगी।' '

बानपुर के डॉ कैलाश बिहारी द्विवेदी का 'बुन्देली शब्द कोष' यदि हिन्दी का अमूल्य कोष बन गया है तो 'ददा' हमारे बानपुर के भी अक्षय कोष बन चुके हैं। ददा ने 'बुन्देली शब्द कोष' के प्राक्कथन में लिखा है "बुन्देली शब्द कोष के निर्माण सुनियोजित प्रयास सर्वप्रथम ओरछा नरेश स्व. महाराजा वीरसिंह जूदेव (द्वितीय) ने सन् 1940-42 के आस-पास करवाया था। इसके प्रभारी श्री कृष्णानंद गुप्त थे। पर्याप्त आर्थिक साधनों और समस्त सुविधाओं के होते हुए भी किन्हीं कारणोंवश यह कार्य नहीं हो सका। व्यक्तिगत स्तर पर भी स्व. बालकृष्ण तैलंग, स्व. मुंशी अजमेरी आदि ने भी शौकियातौर पर बुन्देली शब्द संकलन का कार्य किया था।' ' अल्प संसाधनों में रहकर भी ददा ने शब्दकोष बनाने का विशाल कार्य अकेले संपन्न कर दिखाया। मुझे विश्वास है यह शब्दकोष बुन्देली भाषा ही नहीं हिन्दी और भाषियों के लिए अमूल्य उपहार सिद्ध होगा। इससे भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के बीच परस्पर गमनागमन हेतु एक सेतु बन सकेगा। ददा एक शब्दकोषकार ही नहीं अपितु एक निर्भीक संपादक और निष्पक्ष आलोचक भी हैं।

संपादन के माध्यम से बुन्देली भाषा और साहित्य के साथ-साथ इतिहास और पुरा-सामग्री के अन्वेषक इतिहासकार टीकमगढ़ निवासी पं० हरिविष्णु अवस्थी का नाम अविस्मरणीय है। कुण्डेश्वर में निवास कर रहे पं० गुणसागर 'सत्यार्थी' का नाम बुन्देलखण्ड के साहित्य और यहां की धरोहरों को अपने कथ्य में उतारने के लिए प्रमुख रूप से लिया जाता है। इन पंक्तियों के लेखक के पूज्य पिता श्री पं० बाबूलाल द्विवेदी बानपुर के निकटस्थ एक लघु-ग्राम (छिल्ला) में रहते हुए अपने स्वाध्याय और सत्संगति के बल पर बुन्देली काव्य ही नहीं संस्कृत के अनुवाद तथा इतिहास और पुराणों सहित अनेक ऐतिहासिक स्रोतों का दर्शन-पारायण कर अहैतुक भाव से गवेषणापरक साहित्य सृजनरत हैं। यह पुस्तक और इसमें दिए गए उनके अनेक आलेख उनके कृतित्व को निरूपित करते हैं।

यहां उल्लेखनीय है कि बुन्देली भाषा और साहित्य के मात्र उपर्युक्त रचनाकार ही इस साहित्येतिहास में नहीं आते हैं। ऐसे अनेक अज्ञात, अल्पज्ञात तथा अभिज्ञात मूर्धन्य बुन्देली रचनाकार हैं, जिनका इस आलेख में स्थानाभाव तथा अज्ञानता के कारण उल्लेख और विवेचन नहीं हो सका है।

हमारे देश में लोक-साहित्य, लोकभाषा और लोक-प्रथाओं का अध्ययन 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ईसाई मिशनरियों तथा अंग्रेज अधिकारियों ने आरंभ किया था। इन यूरोपीय लोगों के देशों में इससे डेढ़ शताब्दी पहले ही राष्ट्रीयता के जागरण के फलस्वरूप यह काम प्रारंभ हो चुका था।

बुन्देलखण्ड में यह काम ओरछा नरेश श्री वीरसिंह जूदेव के संरक्षण में 'वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद' के तत्वावधान में आगे बढ़ा। इसके संस्थापक रायबहादुर डॉ श्यामबिहारी मिश्र 'मिश्र बंधु' तत्कालीन प्रधानमंत्री ओरछा राज्य थे। 1940 ई० में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने कुण्डेश्वर को साहित्यिक केन्द्र बनाकर वहां से 'मधुकर' नामक पाक्षिक पत्र निकाला। इस पत्र ने अपने पांच वर्ष के जीवनकाल में बुन्देली लोक-साहित्य के विविध अंगों की प्रचुर सामग्री एकत्र कर ली। इन्हीं दिनों टीकमगढ़ में कुछ विद्वानों के सहयोग से 'लोकवार्ता परिषद' की स्थापना हुई श्री कृष्णानंद गुप्त ने 'लोकवार्ता' नामक त्रैमासिक पत्रिका का संपादन किया। इन दोनों पत्रिकाओं ने हिन्दी क्षेत्र में लोकभाषा और लोक-साहित्य के प्रति लगाव उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण योगदान किया।

नव-जागरण की लहर ने छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, बुन्देली आदि सभी लोकभाषाओं को प्रोत्साहित किया और उनमें काव्य-सृजन होने लगा। प्रारंभ में कुछ लोगों को भय था कि इस प्रवृत्ति से मानक हिन्दी में बाधा उपस्थित होगी, परंतु उनकी शंकाएं निर्मूल सिद्ध हुईं। प्रमुख भाषा विज्ञानी और बुन्देली के विशेषज्ञ प्रो० कान्ति कुमार जैन के संपादन में 'ईसुरी' के अंकों में बुन्देली साहित्य की अमूल्य धरोहर को समाविष्ट किया गया है। सागर तथा झांसी विश्वविद्यालयों के अनेक विद्वान प्रोफेसरों द्वारा बुन्देली का विकास और संवर्द्धन किया गया है। छतरपुर के नर्मदा प्रसाद गुप्त ने 'मामुलिया' त्रैमासिक शोध पत्रिका के माध्यम से बुन्देली संस्कृति के गौरव संरक्षण में महत्वपूर्ण योगदान किया है।

संप्रति, बुन्देली के संवर्द्धन हेतु कई संस्थाएं और संगठन कार्यरत हैं। जिनमें अखिल भारतीय बुन्देलखण्ड साहित्य एवं संस्कृत परिषद भोपाल, बुन्देलखण्ड शोध संस्थान झांसी, वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद टीकमगढ़, बुन्देलखण्ड संस्कृति एवं सामाजिक सहयोग परिषद लखनऊ, बुन्देलखण्डी लोक सांस्कृतिक मंडल ललितपुर, बुन्देलखण्ड साहित्य अकादमी छतरपुर, बुन्देल शोध संस्थान सैवढ़ा, संयुक्त बुन्देलखण्ड प्रगतिशील जनवादी लेखक संघ झांसी, लोकमंगल उरई इत्यादि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त कई विद्यालयों के वार्षिकांक एवं व्यक्तिगत प्रयत्नों के आधार पर निकली स्मारिकाएं भी बुन्देली साहित्य और संस्कृति को लिपिबद्ध करते हुए उनके संचालन-प्रोत्साहन हेतु गतिमान हैं। इन सबके सामूहिक प्रयत्नों ने यह प्रमाणित किया है कि बुन्देली साहित्य और संस्कृति राष्ट्रभाषा हिन्दी को समृद्ध करने में किसी अन्य विभाषा या बोली से पीछे नहीं हैं। लोक भाषाएं हमारे जीवन को अभिसिंचित करती हैं। इनका प्रभाव कभी क्षीण नहीं होता है। इस उत्तर आधुनिक दौर में कभी बेजोड़ मानी जाने वाली ब्रज संस्कृति पर जहां पश्चिमीकरण हावी हो गया है, वहां बुन्देली गांवां की भाषा और संस्कृति अभी भी इस अपसंस्कृति के प्रभाव से बहुत कुछ बची है।

बानपुर और बुंदेलखंड संपादक डॉ राकेश नारायण द्विवेदी isbn 9788190891202 एवं ebook isbn 9788190891264 में प्रकाशित लेख के आधार पर

## ललितपुर जनपद के स्थान-नामकरण में आदिवासियों का योगदान

ललितपुर का नामकरण - बहुत समय पूर्व गौड़ राजा सुमेर सिंह ने अपने स्वास्थ्य संवर्धन के लिए एक सिद्ध झील में नहाया। यह राजा अपनी पत्नी के साथ इसी झील के किनारे रहने लगा। कुछ समय बाद इनके एक कन्या हुयी, जिसका नाम 'ललित कुंवर' रखा गया। इसी कन्या के नाम पर इस स्थान का नाम ललितपुर पड़ा। यह झील आजकल ललितपुर शहर के मध्य में सुमेरा तालाब के नाम से प्रख्यात है। ललितपुर जनपद के गजेटियर तथा 'एण्टिक्विटीज इन दि डिस्ट्रिक्ट ऑफ ललितपुर' में यह नाम सुम्मेरशाह की पत्नी के नाम पर बताया गया है वहीं ललितपुर स्मारिका में इसके संपादक द्वारा सुमेरसिंह गौड़ की पुत्री के नाम पर बसा हुआ बताया गया है। जबकि कल्हणकृत राजतरंगिणी में उल्लिखित कश्मीर नरेश ललितदिव्य के नाम पर उसके सेवकों ने इस स्थान का यह नामकरण किया। जो भी हो इतना अवश्य है कि ललितपुर के नामकरण और स्थापन में गौड़ राजा सुमेरसिंह का योगदान रहा है। इस नगर के विभिन्न मन्दिर और मूर्तियाँ इस निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं। प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की 150वीं वर्षगाँठ पर प्रकाशित डॉ राकेश नारायण द्विवेदी द्वारा संपादित पुस्तक 'बानपुर विविधा' में पंडित बाबूलाल द्विवेदी के आलेख 'इतिहास और जनश्रुतियों के आलोक में नगर ललितपुर' में दी गई एक जनश्रुति का उल्लेख है कि चन्देरा के राजा चन्द्रदेव की चार लड़कियों में सबसे छोटी ललिता का विवाह सुमेरसिंह के साथ हुआ। सुमेरसिंह के मुँह खोलकर सो रहा था, तभी एक सांप उसके पेट में चला गया। कृशकाय सुमेरसिंह रुग्ण रहने लगा। ललिता देवी को स्वप्न में सुमेरसिंह के स्वस्थ होने का उपाय पता लगा और उसने चन्देरा के निकट एक देवी मंदिर एवं अपने नाम पर एक नगर बसाया। इसी का नाम ललितपुर हुआ किन्तु इस जनश्रुति का उल्लेख कनिंघम की पुरातात्विक रिपोर्ट के भाग-10 में भी हुआ है, जिसके अनुसार यह किंवदन्ती देश के कई भागों में क्षेत्रीय परंपरा के अनुसार सुनी-सुनायी जाती है। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार इस नगर की जनसंख्या 111892 व्यक्ति तथा क्षेत्रफल 17.35 वर्ग किलोमीटर है, जबकि जिले की संपूर्ण जनसंख्या 977734 व्यक्ति तथा क्षेत्रफल 5039 वर्ग किमी है।

जनपद के कुछ स्थान-नामों से जुड़े दिलचस्प पहलुओं का विवेचन इस प्रकार है। स्थान-नाम के आगे कोष्ठक में तहसील का नाम दिया गया है।

1. देवगढ़ (ललितपुर)- ललितपुर गजेटियर के अनुसार स्वतंत्रतापूर्व इस क्षेत्र में प्रतिमाओं का इतना बड़ा भण्डार था कि यहाँ की जनसंख्या के प्रति दस व्यक्ति एक कलाकृति को पूज सकते थे। इस प्रकार देव मूर्तियों का गढ़ होने के कारण इसे देवगढ़ समझा गया, किन्तु यह देववंश के समय अपने उत्कर्ष पर रहने के कारण देवगढ़ कहलाया। यह सागर मठ भी कहलाता है क्योंकि सागर जैसी नदी के निकट चट्टान काटकर मन्दिर बनाए गये हैं।

वि०सं० 991 के गुर्जर प्रतिहार कालीन शासक भोजदेव के अभिलेख में देवगढ़ का नाम लुअच्छगिरि बताया गया है। देवगढ़ में पर्वत श्रंखला के नीचे 5वीं शताब्दी में निर्मित विश्वप्रसिद्ध गुप्तकालीन दशावतार मंदिर के भग्नावशेष मौजूद हैं। यहां का किला कनौज के प्रतिहारों ने 9वीं शताब्दी में डेक्कन के राष्ट्रकूटों से चुनौती लेने के लिए बनवाया था। देवगढ़ में जैन प्रतिमाओं का भी विशाल भण्डार है। देवगढ़ में प्राचीन कला एवं शिल्प के अतिरिक्त प्रकृति ने यहाँ के वातावरण को लावण्यमय बनाया है। गुप्त, गुर्जर, प्रतिहार, गोंड राजाओं तथा दिल्ली, कालपी एवं मालवा के मुगल शासकों, बुन्देलों, मराठों एवं अँग्रेजों के इतिहास में देवगढ़ का नाम रह-रहकर आया है। देवगढ़ ललितपुर से 33 किमी पश्चिम में सड़क मार्ग से जुड़ा है।

2. बानपुर(महरौनी)- महाभारत में उल्लिखित 'बाणपुर' को इसी स्थान से जोड़ा जाता है। पौराणिक मान्यता के अनुसार यहां बाणासुर नाम का दैत्य राज्य करता था। बाणाघाट, उषा कुण्ड, रमन्ना आदि इस असुर शासक के नाम पर हैं। यहां के चन्देलकालीन जैन मंदिर तथा नृत्य करती हुयी बाइस भुजी गणेश की मूर्ति अद्भुत हैं। नृत्य गणपति की इस मूर्ति का तांत्रिक रहस्य जिज्ञासुओं के लिए अबूझ है। जनसंख्या की दृष्टि से यह ललितपुर तथा तालबेहट नगर के बाद जिले का तीसरा सबसे बड़ा स्थान है। ललितपुर से इसकी दूरी वाया बिल्ला, छिल्ला 34 किमी है। पान की खेती यहां का एक अन्य आकर्षण है। अनेक अन्य मूर्तियों के अतिरिक्त वराहमूर्तियां भी यहां से प्राप्त होती रहती हैं।

3. दूधई(ललितपुर)- जिला मुख्यालय से यह गाँव 45 किमी दूर है। इतिहासकार अलबरूनी के विवरण में इस स्थान का उल्लेख मिलता है। यहां के प्रसिद्ध चंदेलकालीन तालाब से ही लोकमान्यता के अनुसार शहजाद नदी निकली है। दूधई के खण्डहर बताते हैं कि इनका कला सौष्ठव खजुराहो के मंदिरों से अधिक रूपवान था। चंदेलशासक देवलब्धि के नाम पर इसका नाम दूधई बताया जाता है।

4. पाली(ललितपुर)- मान्यता है कि यह स्थान लगभग 450 वर्ष पूर्व बुन्देला सरदार राव भुजबलसिंह ने बसाया था। पान यहां की मुख्य व्यावसायिक फसल है। त्रिमुखी नीलकंठ महादेव का एक चन्देलकालीन मंदिर यहां का प्रमुख आकर्षण है। इस मंदिर के पीछे महर्षि च्यवन का आश्रम बताया जाता है। यहां की वादियों नैनीताल से टक्कर लेती हैं। पाली नगर पंचायत है जो जिला मुख्यालय से 22 किमी दूर सड़क मार्ग से जुड़ा है।

5. तालबेहट(तालबेहट)- बानपुर नरेश मर्दनसिंह की कर्मभूमि रहा यह नगर ताल के किनारे बसा है। इसका प्राचीन नाम जिरियाखेड़ा था। मर्दनसिंह के पूर्वज बुन्देला शासक भरतशाह द्वारा यहां बनवाए गए किले को भारतगढ़ दुर्ग कहा जाता है। रूपा एंड कंपनी नयी दिल्ली से प्रकाशित आइएएस दंपत्ति विजय शर्मा एवं रीता शर्मा की पुस्तक 'दि फोर्ट्स आफ बुन्देलखण्ड' के पृष्ठ 78 के अनुसार भरतशाह ने चंदेरी किले के किलेदार गोदाराय के विद्रोह को दबाने में मुगलों की सहायता की थी। इसके बदले में भरतशाह को चन्देरी का राज्य मिला था। तालबेहट राष्ट्रीय राजमार्ग 26 के अतिरिक्त चेन्नई तथा मुंबई से दिल्ली रेलवे मार्ग से भी जुड़ा है।

6. मदनपुर(महरौनी)- चन्देल शासक मदनवर्मन के नाम पर इस स्थान का नाम पड़ा है। यहां अनेक प्राचीन वैष्णव एवं जैन मंदिरों के अतिरिक्त आल्हा-ऊदल की बैठकें बनी हैं। जनश्रुति के अनुसार परमाल के राजकवि जगनिक (आल्हखंड के रचयिता) का जन्म स्थान मदनपुर ही है। संवत् 1239 में पृथ्वीराज चौहान की चन्देलशासक परमर्दिदेव (परमाल) पर विजय का वर्णन यहां से प्राप्त एक शिलालेख में मिला है।
7. मड़ावरा(महरौनी)- श्री गणेश प्रसाद वर्णी स्मृति ग्रंथ के पृष्ठ के अनुसार संवत् 1650 के आसपास सागर से आकर मराठा पंडितों ने मड़ावरा से एक किमी पूर्व में स्थित कसई ग्राम में एक विशाल दुर्ग का निर्माण किया। किले के पश्चिमी मड़ावरा नगर को नये रूप में बसाकर उसका नाम मराठा गांव रखा। यह सम्बोधन संवत् 1870 तक प्रचलित रहा। स्व० नेमीचन्द्र ज्योतिषाचार्य के अनुसार मठम्बर शब्द से मड़ावरा अभिधान बन सकता है।
8. बालाबेहट(ललितपुर)- ललितपुर से 48 कि०मी० दूर दक्षिण में स्थित यह स्थान 18वीं शताब्दी में मराठा सरदार बालाजी द्वारा स्थापित किया गया था। जनपद में मड़ावरा के अतिरिक्त बालाबेहट में मराठों के किले बने थे। नवीं शताब्दी में कन्नौज के प्रतिहार राजा द्वारा देवगढ़ के किले को छोड़कर जिले के शेष किले चन्देरी राजवंशजों एवं उनके जागीरदारों द्वारा बनवाये गये। एक अन्य मत के अनुसार बालाबेहट गंगाराम नामक व्यक्ति द्वारा बसाया गया था। बालाबेहट के किले के भीतर एक झरने में शाश्वत पानी का एक सोता है।
9. बार(तालबेहट)- एक दंत कथा के अनुसार यहां 52 वावली एवं 12 बाग होने के कारण चौदहवीं शताब्दी में इसका नाम बहार था। जो कालांतर में बार हो गया। 1616 ई में रामशाह के पुत्र भरतशाह ने इसे अपनी जागीर का मुख्यालय बनाया था। बार में चंदेल शासक कीर्ति वर्मन के मंत्री वत्सराज द्वारा निर्मित तालाब बच्छ सागर के नाम से जाना जाता है। पहाड़ियों पर बुन्देला भवन एवं चन्दन के पेड़ बार को विशिष्टता प्रदान करते हैं।
10. बांसी(तालबेहट)- राष्ट्रीय राजमार्ग 26 पर बसे इस स्थान को चन्देरी नरेश भरतशाह (1612 - 1616 ई) ने अपने भाई कृष्णाराव को दे दिया था। इन्होंने 1618 ई में एक सुन्दर किले का निर्माण कराया था। यहां एक चन्देलकालीन तालाब भी है।
11. बिरधा(ललितपुर)- इस विकास खण्ड में स्लेब स्टोन प्राप्त होता है जो इमारत बनाने के काम में आता है। ललितपुर से इसकी दूरी 20 कि०मी० है।
12. महरौनी(महरौनी)- ललितपुर के पूर्व में 37 कि०मी० दूरी पर स्थित इस तहसील मुख्यालय में 1750 ई में चन्देरी नरेश मानसिंह द्वारा बनवाया गया पुराना किला है। जो 1811 ई में मराठा सरदार सिंधिया के लिये अंग्रेज कर्नल फिलौस द्वारा जीत लिया गया था।
13. धौरी(ललितपुर)- यह गांव हजारो वर्ष पुराना माना जाता है। कहा जाता है कि एक बार मगध के पौराणिक राजा जरासंध ने मथुरा पर आक्रमण करके कृष्ण एवं बलराम को रणभूमि छोड़ने को मजबूर कर दिया था जिससे श्री

कृष्ण का एक नाम रणछोर पड़ा। धौरी के निकटस्थ ग्राम धौजरी के जंगल में रणछोर जी का शिखर विहीन मंदिर मौजूद है। मंदिर में कृष्ण, सुभद्रा एवं बलराम की अभिराम प्रतिमायें हैं। इस मंदिर के निकट मुचकुन्द गुफा स्थित है। कहा जाता है कि मुचकुन्द ऋषि की गुफा में काल यवन से युद्ध करते हुए श्री कृष्ण भागकर छिप गये थे। मुचकुन्द ने कालयवन को भस्म कर दिया था। सेना द्वारा श्री कृष्ण की तलाश/खोज करने के कारण इस स्थान का नाम धौरी पड़ गया। यह ग्राम ललितपुर से लगभग 29 कि०मी० दूर रेल तथा सड़क मार्ग से जुड़ा है।

14. पवा(तालबेहट)- इस स्थान पर सन् 1738 में पावागिरि नाम के जैन मंदिर स्थापित किये गये। जैनियों का यह सिद्ध क्षेत्र है। तालबेहट से यह स्थान 5 कि०मी० उत्तर पूर्व में है।

15. सीरौन खुर्द(ललितपुर)- यह गांव ललितपुर से उत्तर पश्चिम में 20 कि०मी० दूर सड़क मार्ग से जुड़ा है। यहां से डा० हाल द्वारा खोजे गये सीयडॉणि अभिलेख में ब्राह्मण धर्म के विभिन्न देवीदेवताओं के पक्ष में किये गये व्यक्तिगत दानों का उल्लेख मिलता है। जो पुरातात्विक सर्वेक्षण रिपोर्ट विकास खण्ड जखौरा के अनुसार वर्तमान में यहां के शान्तिनाथ मंदिर की धर्मशाला की दीवार में लगा हुआ है।

16. सौरई(महरौनी)- मझवरा के समीपवर्ती इस ग्राम में साहरण के अन्तिम राजा बखतवली द्वारा एक बड़े बाग का निर्माण कराया गया था। सौरई के किले को महाराजा छत्रसाल बुन्देला के पोते पृथ्वीसिंह ने बनवाया था। सौरई में रॉक फॉस्फेट तथा यूरेनियम धातु की खोज करने की योजना वर्तमान ग्रामीण विकास राज्य मंत्री प्रदीप जैन आदित्य द्वारा बनायी जा रही है।

17. धौरीसागर(महरौनी)- यहां महाराजा छत्रसाल ने इम्पीरियल सेना को 1668 ई में हराया था। यहां एक विशाल झीलनुमा तालाब है।

18. नाराहट(महरौनी)- शेर चीतों जैसे वन्य पशुओं की आहट के कारण इस स्थान का नाम नाराहट पड़ा। भारी करारोपण के कारण 8 अप्रैल 1842 को यहां के जमीदार मधुकर शाह व उनके छोटे भाई गणेशजू ने अंग्रेज सिपाहियों पर हमला कर दिया इसे बुन्देला विद्रोह के नाम से अभिज्ञात किया गया है। ओरछा के राजा रूद्रप्रताप सिंह के उत्तराधिकारी राव कल्याण राय (1594 ई) के परिवार के लिये यह गांव उवारी (राजस्व की पूरी छूट) के रूप में प्रदान किया गया था। 1867 ई में जमींदारी शासन लागू होने के बाद भी यहां के सामन्त उवारीदार कहे जाते थे।

19. कैलगवां(महरौनी)- 1811 ई में सिंधिया द्वारा चंदेरी को जीतने पर यहां के राजा मोर प्रहलाद को कैलगवां सहित 31 गांव जागीर में प्रदान किये गये थे। 1830 ई तक मोर प्रहलाद ने अपना निवास रखा। 1830 में मोर प्रहलाद बानपुर रियासत के राजा बन गये थे। कैलगवां के समीप बीजरी एवं पुराधंधकुआ खदानों में डायस्फोर एवं गौरा पत्थर (पैराफ्लाईट) प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

20. पूराकल्ला(तालबेहट)- फारसी भाषा के 'कल्ला' का अर्थ ज्येष्ठ या बड़ा होता है। कहा जाता है कि इसका पुराना नाम सेंवड़ा था। एक यादवी वृद्धा ने संवेवड़ा तथा इसके समीपस्थ खेरे के निवासियों से चुगली कर दी कि कोदों की फसल में दूसरे गाँववालों ने गायें छोड़ दी हैं। इस पर दोनों गाँवों के लोग आपस में लड़ गए। पंचायत हुयी, जिसमें इस वृद्धा की कारगुजारी सामने आयी। लड़ाई से गाँव खण्डहर हो गया। जब यह गाँव पुनः बसाया गया तो पूर्णता के अर्थ में इसका नाम 'पूरा' पड़ा। लड़ाई के बाद की बर्बादी के आशय -पूरे हो गए- से भी इसे जोड़ा जा सकता है। बाद में इसके पास इसी से निकले लोगों ने एक अन्य छोटा गाँव बसाया जो पूरा खुर्द कहा गया। पूरा गाँव के विजयसिंह चौबे पास के खेरे में रहने लगे, जिससे इनके नाम पर यह खेरा विजयपूरा कहा जाता है। चौबे जी ने अपनी आत्मरक्षा हेतु बाँसी के ठाकुरों को यहाँ बसा लिया था। समाजशास्त्र के हवाले से कहा जाता है कि ब्राह्मण एवं बनिया अपने आवास हेतु कभी नयी जगह नहीं चुनते, जहाँ कुछ लोग पूर्व से ही निवास करते आए हों, वहीं ये निवास करते हैं। हाँ इन लोगों के नाम पर स्थानों का नामकरण अवश्य मिलता है। चुगलखोरी के प्रसंग में इस गाँव के आसपास 'सेंवेड़े की डुकरिया' कहावत प्रसिद्ध है। यह गाँव तालबेहट के उत्तर पूर्व में स्थित है। यह सन् 2001 की जनगणना के अनुसार 6449 व्यक्तियों के साथ विकासखण्ड तालबेहट का खौदी के बाद दूसरा सबसे बड़ा गाँव है।

21. लड़वारी(तालबेहट)- यहाँ के पँवार (परमार) क्षत्रियों ने यह स्थान हुक्का तथा चिलम में अपना निशाना लड़ाकर प्राप्त किया था, जिससे यह लड़वारी कहलाया। लॉजी धान की पैदावार यहाँ अच्छी होती है। विकासखण्ड मुख्यालय बार से उत्तर में इसकी दूरी 5 किमी है।

22. तेरा(ललितपुर)- लड़वारी से जाकर तेरह परिवार यहाँ निवास करने लगे इन्होंने अपने गाँव का नाम 'तेरा' रखा। कलचुरि शासकों की देवी त्रिपुरी से भी इस स्थान का नाम जुड़ा हो सकता है। कलचुरि क्षत्रियों का उल्लेख रामायण तथा पुराणों में मिलता है। महाभारत काल के हैहय क्षत्रिय, शिशुपाल के पितामह चिदि के नाम पर हुए तो त्रिपुरासुर के वंशज चुराकर (बुन्देली में चुरना उबलने के लिए कहा जाता है) मदिरा बनाने के कारण कल्यचुरि कहे गए। 550 ई से 1200 ई तक के काल में कलचुरि सभ्यता एवं संस्कृति के संकेत प्राप्त होते हैं।

23. धमना(तालबेहट)- विकासखण्ड मुख्यालय बार से सटा यह गाँव बानपुर नरेश द्वारा अपने कथावाचक पटैरियाजी को यहाँ बसा देने के कारण प्रसिद्ध हुआ था। यह कथावाचक गोस्वामी हुए। गोस्वामी का धाम होने के कारण यह गाँव धमना गुसाईं आज भी कहा जाता है।

24. धनगौल(तालबेहट)- यहाँ ज़मीन में गड़ा गोड़ों का धन होने के कारण यह धनगौल कहलाया। यह गाँव बार विकासखण्ड तथा तालबेहट तहसील के वनप्रान्तर में स्थित है।

25. भैलोनी सूबा(तालबेहट)- राजस्थान से सतलौनियां परिवार यहाँ आकर निवास किया। भाषा-परिवर्तन से सतलौनियां भाई से 'भाईसतलौनी' , फिर भैलोनी बना। बानपुर नरेश के पूर्वज इस गाँव में बसे, जिससे इसके आगे 'सूबा' जुड़ गया।

26. ऐरा (ललितपुर) - 'एरका' - महाभारत में वर्णित कथा के अनुसार श्री कृष्ण के पुत्र साम्ब ने अपने पेट पर वस्त्रों को लपेट कर सप्तर्षियों का मजाक किया था। ऋषियों के मजाक के कारण साम्ब के पेट से मूसल निकला। यदुकुल के राजकुमारों को पता था कि यही मूसल उनके विनाश का कारण बनेगा। अतः उन्होंने इस मूसल का चूरा बना दिया और उसे समुद्र में बहा दिया। कालांतर में वही चूरा 'एरका' नामक घास बन गया। इसी घास की तीखी नोकों से यदुकुल विनाश को प्राप्त हुआ। ऐरा बुन्देली बोली में सिंचाई करने की भूतकालिक क्रिया भी है।
27. सौल्दा (महरौनी) - उत्तरी राजस्थान के बीकानेर से अलवर तक फैले हुए बड़े भूभाग का नाम 'साल्व' था। मेड़ता और जोधपुर इलाका भी उसी के अन्तर्गत था। इस प्रदेश के नागौरी बैल प्रसिद्ध रहे हैं। सम्भवतः यहां के बैलों का ललितपुर के इस स्थान पर विपणन होता रहा होगा, जिससे इस स्थान का नाम सौल्दा (साल्व \$ स्थल) साल्व प्रदेश से आयातित होने के कारण पड़ा।
28. उशा कुण्ड-बानपुर के पास जमझर नदी में (तहसील महरौनी) - पुराण प्रसिद्ध बाणासुर की पुत्री उषा एवं अनिरुद्ध की प्रणय गाथा श्रीमद्भागवत (10, 62) में सविस्तार वर्णित है। उषा कुण्ड का अभिज्ञान इस शिवभक्त बाणासुर की पुत्री उषा से है। केदारनाथ (उषाराखण्ड) के समीप उसी मठ करबे से तथा भरतपुर (राजस्थान) में स्थित उखा मन्दिर से भी 'उषा' का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।
29. चंदावली (महरौनी), चांदरो, चन्द्रापुर (तालबेहट), चांदौरा, चंदेरा, चांदपुर (ललितपुर) - चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है। ज्योतिष के अनुसार चंद्र कर्क राशि का स्वामी है। वहीं चंद्र जल तत्व का देवता है। आयुर्वेद में इसकी प्रवृत्ति कफ की है। वायव्य दिशा, स्त्रीलिंग, सत्वगुण, लवण रस, सर्पवाद, स्थूल आकार, मोतीमणि, सौम्य स्वभाव, छाती और गले की पीड़ाकारक, समदृष्टि जाति चन्द्रमा की विशेषताएं होती हैं। किन्तु दूसरी व्याख्या के अनुसार शोण नदी का उद्गम चन्द्र पर्वत माना गया है। शिशु पुराण में नर्मदा नदी को सोमोद्भवा कहा गया है। यह चंद्र पर्वत अमरकंटक (विन्ध्याचल) का दूसरा नाम है।
30. डोंगरा कलां (ललितपुर) - महाभारत (सभा पर्व 52, 13 तथा 27, 18) के वर्णन क्रम में दार्व जनपद का उल्लेख दो घटनाओं के सन्दर्भ में आया है जिनमें एक प्रसंग में अर्जुन दार्व जनपद को अपनी विजय यात्रा के अवसर पर पराजित करता है। एक अन्य प्रसंग में युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के अनुसार पर दार्व के नृपति द्वारा उपहार भेंट करना वर्णित है। एक मत के अनुसार डुग्गर जाति के लोगों का मूल स्थान जम्मू कश्मीर है और डुग्गर जाति ही प्रचीन दार्व जाति थी। यही डुग्गर जाति आज डोंगरा जाति के नाम से जम्मू में निवास करती है। कुछ अन्य विद्वान भारत की उषार-पश्चिमी सीमा पर स्वात नदी में मिलने वाली पंजकोर नामक सहायक नदी की घाटी को दार्व जनपद का आदि स्थान स्वीकारते हैं। यहां एक कस्बा दीर ;कपतद्ध के नाम से जाना भी जाता है। पाण्डवों का सम्बन्ध जिला ललितपुर के वर्तमान में सुदूर वन प्रान्तर से भी बताया जाता है। इस लिये डोंगरा स्थान नामों का तादात्म्य 'दार्व' से देखा जा सकता है।



31. धसान नदी - धसान का पुरातन नाम दशार्ण था। दशार्ण नाम से एक जनपद भी रहा है जो महाभारत के सभा पर्व (29, 4-5) में वर्णित है। यह जनपद भीमसेन द्वारा पदाक्रान्त किया गया था। पद्म पुराण में (स्वर्ग खण्ड, अध्याय 6, श्लोक 36) यह जनपद मेकल के साथ गिनाया गया है। ब्रह्मपुराण के अध्याय 6 में इसका नाम मेकल, उत्कल, भोज एवं किष्किन्धा के क्रम में रखा गया है। बौद्ध जातकों तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र (भाग-2) में भी दशार्ण का वर्णन आया है। कालिदास के मेघदूत (पूर्व मेघ 24-28) में यहां के प्राकृतिक सौन्दर्य का सजीव वर्णन किया गया है। टॉलेमी ने दशार्ण का नाम 'दोसारा' (भूगोल 8, 1, 77) कहा है।

दशार्ण का अर्थ है, दस नदियों अथवा दस दुर्गो वाला प्रदेश। ये दोनों विशेषताएं इस क्षेत्र में विद्यमान हैं। धसान की सहायक नदियों द्वारा यह प्रदेश सिंचित है। जमड़ा धसान की एक प्रमुख सहायक नदी है। इसी में उषा कुण्ड बानपुर के पास स्थित है। वायु पुराण (पूर्वार्द्ध अध्याय 45, श्लोक 99-101) में ऋक्ष पर्वत से निकलने वाली नदियों (यथा-शोण, महान, नर्मदा, मन्दाकिनी, दशार्ण तमसा इत्यादि) में भी इसका नाम आता है। पं० हरिविष्णु अवस्थी ने दशार्ण (धसान) नदी को बुन्देलखण्ड की संस्कृति वाहिनी कहा है। अवस्थी जी ने प्रो० बलभद्र तिवारी की पुस्तक 'बुन्देली समाज और संस्कृति' के आधार पर प्रहलाद को दस ऋणों से मुक्ति होने कारण इस प्रदेश को दशार्ण और यहाँ बहने वाली नदी को भी दशार्ण कहा बताया है। यह कथा गर्ग संहिता में आयी है।

32. बछरई (महरौनी) बछलापुर (ललितपुर) - चांदपुर ग्राम, जो देवगढ़ तथा दूधई (ललितपुर) में मध्य में स्थित है, से एक स्तंभलेख उपलब्ध हुआ, जो किसी अज्ञात पुरुष का लेख है, यह महाप्रतिहारान्वय बच्छ गोत्रीय है। कदाचित् इसी आधार पर इन स्थानों का नामकरण हुआ होगा।

33. चौतराघाट (ललितपुर) - चन्देलों का राज्यकाल उनकी विजयों तथा वीरता के लिए ही प्रसिद्ध नहीं है। स्थापत्य तथा ललित कलाओं की भी इस युग में पर्याप्त उन्नति हुयी है। अनेक तालाब, मन्दिर, बैठक तथा चबूतरों का निर्माण इस युग में हुआ। चन्देल शासक मदन वर्मन (1128-1164 ई०) द्वारा स्थापित मदनपुर (महरौनी) ग्राम उनकी यशगाथा का बखान करता है। ललितपुर के चन्देल कालीन यशः शेष देवगढ़ चांदपुर, दूधई, सीरोन खुर्द (ललितपुर) तथा बानपुर (महरौनी) में भी दृष्टव्य हैं।

34. बमनौरा (ललितपुर) - महाभारत (सभा पर्व 51, 5) में एक ब्राह्मण जनपद का उल्लेख आया है। ग्रीक लेखक एरियन ने इसे ब्रह्मनोई ; ठंतीउंदवपद्धनाम से सम्बोधित किया है।

35. विधाखेत (ललितपुर) - विधा महावत (ललितपुर) - पुराणों में पर्वतीय क्षेत्र के 53 उप विभागों (क्षेत्रों) का वर्णन हुआ है। इन उपविभागों में से एक का नाम 'विहा' है।

36. जिजरवारा (तालबेहट) - रामायण (4, 40) में वानरों द्वारा सीता जी की खोज में पूर्व दिशा की ओर की गयी यात्राओं का वर्णन है। इसके अनुसार वानरों ने यवद्वीप (जावा) के बाद शिशिर पर्वत को पार किया। विष्णु पुराण (2,

2, 27-त्रिकूटःशिशिरश्चैव पतंगो रुचकस्तथा) में इस पर्वत की स्थिति मेरु पर्वत (आधुनिक पामीर) के दक्षिण में बताई गयी है। विष्णु पुराण के (2, 4, 5) एक वर्णन के अनुसार राजा मेघा तिथि के पुत्र शिशिर के नाम पर प्लक्ष द्वीप के एक भूभाग का नाम प्रसिद्ध हुआ। इसे शिशिर वर्ष भी कहते हैं। एक ऋतु विशेष “शिशिर वसन्तौ पुनरायातः (आद्य शंकराचार्य कृत चर्पट पंजरिका स्तोत्र) का नाम भी शिशिर है।

ललितपुर जनपद के बहुत से स्थान-नाम आदिवासियों द्वारा लोकमाताओं के नाम पर रखे गए हैं। इनका विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है-

लोकमाताओं पर आधारित स्थान नाम- ललितपुर जनपद के बहुत से स्थान आदिवासियों द्वारा बसाए गए थे। इनके नाम लोकमाताओं के नाम पर रखे गए। प्रथम अध्याय में ललितपुर जनपद के परिचय से हमने जाना कि यह क्षेत्र कभी गोंड तथा सहरिया आदिवासियों के अधीन रहा है। आदिवासियों का अपने जीवन-संघर्ष में जिन बीमारियों से सामना हुआ, उन्हें मानवीकृत करके उनकी उपासना से तत्संबंधी बीमारी दूर करने की पद्धति अपनायी गयी। प्रकृति के जिस उपादान को आदिवासियों ने देखा-भाला, प्रायः उसी पर देवी-देवता का भी नामकरण कर दिया। लोकदेवताओं के नाम किसी अनजानी अनदेखी बीमारी के निवारण के लिए, किसी विष-व्याधि के शमन के लिए, पारिवारिक उपद्रवों के निवारण के लिए, किसी अचानक उपजी व्याधि के निराकरण के लिए तथा किसी स्थान, काल या दिशादि के महत्व को स्वीकार करने के कारण रखे गए। इन देवी-देवताओं को स्मरण करने का तरीका उनके नाम पर ही स्थान का नामकरण करने से अच्छा और क्या हो सकता था, अस्तु। सभ्यता-विकास के क्रम में प्रकृति-आदिवासी-जीवन संघर्ष-देवी देवता-स्थान नाम, कुछ इस क्रम में स्थानों का नामकरण ललितपुर जनपद में किया गया। जिले में ‘डग डग देवी पग पग देव’ की कहावत है। अतः इसमें संदेह का कोई कारण नहीं है कि लोकदेवताओं और प्रकृति के ऊपर स्थानों के नाम इस जनपद में रखे गये। मातृदेवियों के नाम पर स्थानों का नाम रखने के पीछे यह धारणा थी कि ऐसा करने से देवी खुश हो जाएगी, रोग-शोक कम होगा, फसलें बेहतर होंगी और आमतौर पर कल्याण की वृद्धि होगी, किन्तु अब ऐसी लोकमान्यताओं के धरातलीय साक्ष्य विद्यमान नहीं रहे।

ललितपुर के पठारी क्षेत्र और उसकी तलहटी में सहरियों, भीलों, गोंडों, राजगोंडों जैसे आदिवासी समूह निवास कथित रूप से पाण्डवों के पूर्व से निवास करते आए हैं। सहरिया आदिवासी उत्तर प्रदेश में सर्वाधिक ललितपुर जिले में हैं। इस जनजाति के अनेक देवी-देवता हैं। ठाकुरदेव बच्चों और बूढ़ों की रक्षा करने वाला ग्राम देवता है। इनकी स्थापना गाँव से बाहर किसी पेड़ के नीचे की जाती है। जिले के ‘दा’ प्रत्ययांत स्थान-नाम देववाची हैं। भैरोंदेव बांझ स्त्री को पुत्र देने वाले देवता हैं। महरौनी तहसील का ‘भैरा’ गाँव इसी लोकदेवता का स्मरण कराता प्रतीत होता है। सहरियों के नाहरदेव पालतू पशुओं की रक्षा करते हैं। मूलतः यह बाघ या शेर की पूजा है यथा नाराहट (महरौनी)। नाराहट नाम श्री भगवत नारायण शर्मा पूर्व प्राचार्य नेहरू महाविद्यालय ललितपुर के अनुसार जंगल से शेर एवं अन्य वन्य पशुओं की आहट सुनने के कारण रखा गया किन्तु यह स्थान-नाम की भाषा वैज्ञानिक व्याख्या ही है।

कैलामाता कार्यसिद्धि की देवी हैं। जिले के कैलगुवां तथा कैलोनी (महरौनी) जैसे स्थान नामों में इसी लोकमाता का पुण्य स्मरण झांकता है। अगरिया जनजाति के नाम पर जिले की महरौनी तहसील में अगौड़ी, अगौरी, अगरा इत्यादि ग्राम प्राप्त हैं। भुरतिया जनजाति का रहा होगा गाँव भरतिया (महरौनी) है। पठारी जनजाति पुजारी वर्ग की है। ये लोग मुख्य रूप से तुर्किन की पूजा करते हैं। ललितपुर तहसील के गांव पठारी, पठरा, पठागोरी महरौनी तहसील का पथराई पठारी जनजाति से संबद्ध प्रतीत हैं। पथराई जैसे नाम पथ की देवी से भी संबंधित हो सकते हैं।

पनिका जनजाति के बारे में कहावत है -

पानी से पनिका भए, बूंदन रचे शरीर। आगे-आगे पनिका भए पाछे दास कबीर।।

ललितपुर से सटा हुआ गाँव पनारी इनकी याद कराता है।

जैसा कहा गया है आदिवासी अपने जीवन में भय, बीमारियों से डर और दैवी आपदाओं से बचने के लिए कई मनगढ़ंत देवी-देवताओं की उपासना करते हैं। जरा सा भय हुआ नहीं कि आदिवासी उसकी देव की तरह पूजा करने लगता है। इन लोगों का जब चेचक की व्याधि का पता नहीं था तो इन्होंने इसे शरीर में उठी गर्मी के बुलबुले माना और देह में शीतलता के संचार के लिए शीतला माता जैसी देवी की कल्पना और प्रतिष्ठा कर दी। बीमारियों का यह देहीकरण 7वीं-8वीं शताब्दी में शुरू हुआ।

शीतला को रोढ़ि भी कहा गया है। जिले का रोड़ा (ललितपुर) गाँव रोढ़ि माता का पुण्य स्मरण है। रोड़ी माता (घूरे की माता) से भी यह संबंधित हो सकता है। मान्यता है कि इसकी पूजा से कृषिवृद्धि एवं खुशहाली आती है। भाटी राजपूतों की देवी रुण्डी माता हैं। रोड़ा रुण्डी के अधिक निकट हैं। इस गाँव में ठाकुर परिवारों का निवास भी अच्छी संख्या में है।

गाँव के बाहर किसी स्थान को यक्ष-यक्षिणी की पूजा का प्रतीक बनाया गया। जिले का जाखलौन (ललितपुर) तथा जखौरा (तालबेहट) यक्ष तथा यक्षिणी पूजा पर आधारित स्थान नाम हैं। जाखमाता यक्षिणी से संबंधित है। यक्ष-यक्षिणियों की पूजा-परंपरा के विषय में डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल का कहना है कि भारतीय कला और धर्म में संभवतः यक्षों के समान प्राचीन लोकव्यापी और लोकप्रिय कोई दूसरी परंपरा नहीं है। यक्ष आज भी समाज में बीरों या यकसों के नाम से पूजित हो रहे हैं। जिले के प्रत्येक गाँव में भी बीर नाम से यक्ष के चौरा विद्यमान हैं। कहावत है गाँव-गाँव कौ ठाकुर गाँव-गाँव को बीर। कहीं-कहीं ऐसी मान्यता है कि जो औरतें बच्चा जनते समय अथवा डूबकर मर जाती हैं। वे ही ऐसी प्रेतात्मा (यक्षी और डाकिनी) या पिशाची बन जाती हैं और उन्हें इस नाम से पूजा जाता है।

साडूमल (महरौनी) गाँव बगड़ावतों में से प्रमुख भोज की गूजर स्त्री साडूमाता के नाम पर अनुकृत प्रतीत होता है। साडूमाता से ही देवनारायण नामक लोकदेवता का जन्म हुआ। बुन्देलखण्ड की रिछावर देवी के नाम पर ललितपुर तहसील के गाँव रीछपुरा और रिछा बसे हैं। यह देवी मनोकामना पूर्ण करने वाली मानी गयी हैं। जिले के प्रत्येक गाँव

में खेड़ापति हनुमानजी के मंदिर होते हैं। खेड़ा अर्थात् गाँव का उन्हें स्वामी बनाया गया है। गाँव मनुष्यों द्वारा समूह में बसायी गयी बस्तियों की प्राचीनतम इकाई है। इस प्रकार हनुमान को खेड़ापति की पदवी देकर सार्वभौमिक लोकदेवता बना दिया है। वे गाँव की सीमा के हनुमान के नाम पर जिले में स्वतंत्र स्थान नाम भी मिलते हैं यथा - हनूपुरा (तालबेहट)।

धर्म-दर्शन के ग्रंथों में सात तन्मात्राएं विहित हैं, जो प्रवृत्तियों को निर्धारित एवं नियंत्रित करती हैं। लोक में सात माता इन्हीं को कहा गया है। जिले का सतवांसा (महरौनी) गाँव में सात माता की ध्वनि झांकती दिखायी पड़ती है। यह संत निवास तथा सात लोगों के आवाससूचक अर्थ से भी झंकृत है। ममतामयी मातृदेवी पार्वती को गणगौर भी कहा गया है। इनका प्रतीक स्थान नाम जिले में गनगौरा (ललितपुर) है। वर्षा की देवी काजल माता (इन्द्र की पुत्री) की पूजा काकड़ (गाँव की सीमा) की पूजा करने के बाद की जाती है। जिले के ककड़ारी (तालबेहट एवं महरौनी) गाँव काकड़ से अनुमित किए जा सकते हैं। काकड़ को ध्रुवदेवी भी कहते हैं। वर्षा देवी वराई माता भी कही गयी। भील समुदाय बलि और दारु धार से वराई माता की पूजा करता है। बिरारी (ललितपुर) गाँव इस माता का स्मरण कराता है। इस देवी के थानक के निकट मामादेव का थानक भी होता है। मामदा (ललितपुर) मामादेव का गाँव है। मामादेव और वराई माता की एक साथ तथा एक समान पूजा होती है।

भैंसासरी माता की पूजा वस्तुतः दुर्गा के महिषासुरमर्दिनी रूप की पूजा है। यह तंत्र-मंत्र की देवी भी कही गयी हैं। जिले के गाँव भैंसाई (ललितपुर) तथा भैंसनवारा कलां तथा भैंसनवारा खुर्द (तालबेहट) के नाम इसी लोकमाता के नाम पर रखे गए हैं। मोतीझिरा बुखार के बिगड़े रूप, जिसे आजकल टायफायड कहा जाता है, के देवता हैं। मोतीखेरा (तालबेहट) गाँव इसी लोकदेवता का स्मरण कराता है। नागदेव (सर्प) पूजा के लिए वर्ष में एक दिन नागपंचमी विहित है। इस पूजा को याद करते हुए जिले में नगदा (तालबेहट), नगवांस (तालबेहट) तथा नगारा (महरौनी) गाँव बसे हैं।

पशुओं और गाँव की रक्षा के लिए बैमाता की प्रतिष्ठा है। इसी के प्रतीक स्थान नाम विहामहावत (ललितपुर) इत्यादि हैं। बै गीत में विधाता की शक्ति एक कुम्हारिन के रूप में दिखायी देती है। गाँवों में 'परजापति' कहे गए कुम्हारों के यहां इसकी पूजा होती है। खों-खों मइया (खांसी माता), बराई माता (खाज-खुजली माता) के सूचक स्थान नाम क्रमशः खोंखरा (ललितपुर) तथा बिरारी (ललितपुर) हैं, जिनकी सीमाएं परस्पर सटी हुयी हैं।

विवाह के रतजगे का लोकगीत सतगठा है, जिसमें पितर-पूर्वज देवी-देवताओं का उल्लेख है। जिले का सतगता (ललितपुर) गाँव इस लोकगीत का मधुर स्मरण है। सतगता शक्तावतों की सतियों का स्थल भी संभव हो सकता है। भील आदिवासियों में प्रचलित झूमर नृत्य जिले के झूमरनाथ (तालबेहट) स्थान से साम्य रखता है। यह नृत्य करमा नृत्य का एक भेद है। सात अप्सराओं को सती आसरा कहा गया। इसके नाम पर जिले के असउपुरा (तालबेहट) तथा गैर आबाद ग्राम असौरा (महरौनी) हैं।

प्रसिद्ध गणितज्ञ एवं समाज विज्ञानी डॉ डी डी कोसाम्बी ने अपनी पुस्तक 'मिथक और यथार्थ' में भारत की सांस्कृतिक संरचना का अध्ययन किया है। इस पुस्तक में एक स्वतंत्र अध्याय मातृदेवी पूजास्थलों के अध्ययन पर है, जिसके अनुसार मातृदेवियां असंख्य हैं। इनमें से बहुतों का उल्लेख वर्गबद्ध या समूहबद्ध रूप से हुआ है, खास नाम से नहीं। उनमें प्रमुखतम हैं- मावलाया, जो अप्सराएं (जलदेवियां) हैं और जिनका उल्लेख सदैव बहुवचन में ही होता है। सातवाहन अधिकार क्षेत्र में मामालहार और मामले का उल्लेख है। मातृदेवी पूजा प्रचलन के कारण क्षेत्र का नाम मावल पड़ गया। यह नाम दो हजार वर्ष से भी पहले से ज्ञात है। गढ़ी हुयी मूर्तियों जैसी उनकी कोई प्रतिमाएं नहीं हैं। उनके प्रतीक हैं सिंदूर लगे बहुतेरे अनगढ़ छोटे-छोटे पत्थर, या तालाब के किनारों पर, या चट्टान पर, या पानी के समीप किसी पेड़ पर लगे लाल निशान। ललितपुर जनपद का गाँव मावलैन (तालबेहट) इन्हीं मातृदेवियों का प्रतीक अभिधान है।

डॉ कोसाम्बी ने लिखा है ये देवियां हैं तो माताएं (मातृदेवियां) किन्तु अविवाहित हैं। जिस समाज में इनका उद्भव था, उसकी दृष्टि में किसी पिता का होना आवश्यक नहीं था। अतः यह स्पष्ट है कि उस समय का समाज मातृसत्तात्मक था। आगे चलकर इनका विवाह किसी पुरुष देवता से होने लगा। विशेष बात यह है कि इन मातृदेवियों की पूजा आज भी महिलाओं द्वारा ही की जाती है, भले ही पुरोहितगण पुरुष हों। गाँवों में रक्तबलियां देने का रिवाज रहा किन्तु जहाँ-कहीं ऐसी पूजा ब्राह्मणीकृत हो गयी अर्थात् तत्संबद्ध देवी का एकात्म्य किसी पौराणिक देवी से कर दिया गया, वहाँ बलि पशु को देवी के सामने नहीं काटा जाता, देवी को उसका दर्शन भर करा देते हैं और तब उसे कुछ दूर ले जाकर काटते हैं। यद्यपि अब इस पद्धति का भी अधिकांश जगहों पर ब्राह्मणीकरण हो गया है।

इल-इला पौराणिक उपाख्यान से पता चलता है कि नवरात्र के दौरान महाराष्ट्र के आदियुगीन वननिकुंजों में मूलतः पुरुषों का प्रवेश बिल्कुल निषिद्ध था, क्योंकि जो पुरुष प्रवेश करता उसे स्त्री में बदल दिया जाता। अब स्थिति उलट गयी है। पुरोहिताई के प्रवेश से अब नवरात्रों में महिलाओं का प्रवेश निषिद्ध हो गया है। ललितपुर के चौरसिल (ललितपुर) तथा भौरसिल (ललितपुर) स्थान इल-इला नामक उपाख्यान का स्मरण हैं।

मातृदेवियों की पूजा प्रारंभ में पूजा के पाषाण के उपर कोई छाया या छत न रखकर तथा खुला आसमान रखकर की जाती थी। मान्यता थी कि उसके उपर छत डाल देने से पथभ्रष्ट पुजारी पर भारी विपत्ति आ पड़ती है, लेकिन गांववाले जब पर्याप्त धनी हो जाते तब प्रायः देवी को मनाकर इसके लिए राजी कर लेते। अतः डॉ कोसाम्बी के अनुसार यह पूजा पद्धतियां उस ज़माने की हैं जब घर बनाने का चलन नहीं था और जब गाँव चलते-फिरते हुआ करते थे। इससे एक प्रबल संभावना बनती है कि इन पूजा प्रतीकों के नाम पर ही स्थानों के नाम रखे गए।

बस्तियां बसने के समय गाँव के लोग भूस्वामित्व नहीं रखते थे। गाँव बनने के समय भरपूर लौह उपकरण ईजाद नहीं हुए थे। ज़मीन हल से जोती नहीं जाती थी। अतः कितों (नियत प्लाट) में ज़मीन नहीं बँटी थी। वैसे भी जंगली लोगों के लिए ज़मीन अमलदार होती है, संपत्ति नहीं। गाँवों में स्थानीय देवताओं, आत्माओं तथा भूत-प्रेतों को

तुष्ट करने की प्रथा थी। हर आदमी को सात या नौ दिन के लिए गाँव की आवासीय सीमा से बाहर जाकर रहना पड़ता था और इस अरसे में बस्ती बिल्कुल वीरान हो जाती थी। इस प्रकार तब गाँव चलती-फिरती बस्तियां हुआ करती थीं।

यमाई देवी यदि प्रसन्न नहीं है तो दुःस्वप्न देकर सोना हराम कर देती है। अतः गाँव वाले उसे मुर्गा या आम तौर पर नारियल चढ़ाते हैं। इसके बावजूद गाँवों में इस देवी का कोई मंदिर नहीं मिलता। ललितपुर का जमौरा (महरौनी) तथा जमौरामाफी (तालबेहट) इस मातृदेवी का स्मरण है।

आदिवासी लोकमाताओं की एक कहानी है कि बाघा भील की कन्या बुधली अपने समय की सबसे सुन्दर और साहसी कन्या थी। उसकी सुन्दरता और वीरता का बखान पूरे अरावली पठार पर होता था। उसका मुख्य हथियार 'दाव' या 'डाव' था। जिले के दावनी (ललितपुर) तथा दाँवर (ललितपुर) गाँव इस हथियार से अनुकृत प्रतीत होते हैं। महिषासुरमर्दिनी का मुख्य हथियार भी यही खड्ग (दाव) है। बुन्देलखण्ड का वर्तमान हँसिया या दाँती दाव ही है। पाणिनिकालीन भारतवर्ष के अनुसार उदीच्य देश में दाव को दात्र तथा प्राच्य देश में दाति कहा जाता था।

लोकमाताओं से संबंधित एक कथा के अनुसार भीलनायक संभा एक वीर योद्धा था। किसी युद्ध में मर जाने पर वह आकरा भैरव बन गया। उसकी स्थापना माता के स्थान से नीचे तल में की गयी। संभा अपने जीवन काल में खोह माता का दर्शन करता। रविवार को बकरे की बलि करता। दारू की धार रोज लगाता। दारूतला (महरौनी) गाँव इसी का प्रतीक स्मरण कराता है। देवदारू, पीतदारू नाम के वृक्ष भी होते हैं किन्तु ललितपुर के पठारी भूभाग तथा शुष्क जलवायु में ये वृक्ष नहीं पाए जाते हैं। संभा को जब भाव आता तो वह उत्पात मचाता हुआ माता के देवरे की तरफ भागता। महरौनी तहसील के ही देवरा तथा देवरी नामक स्थानों पर वह माथा टेकता। वह बड़ी-बड़ी साँकलें लेकर अपने बदन पर मारता, जिससे उसे साँकलिया भैरव कहा गया। स्वयं माता ने बाद में उसे साँकरिया अर्थात् शांत भैरव बनाया, तब से उसने अपना स्थान कायम किया। शांत भैरव के नाम से ललितपुर तहसील के साँकरवार कलां एवं साँकरवार खुर्द गाँव अनुकृत प्रतीत होते हैं। भैंसाई (महिषासुरमर्दिनी) माता का स्थान स्वयं संभा ने बनवाया। माता का देवरा उसके पूर्वजों का बनाया हुआ था। पहले मूरत पठार की शिला पर रखी थी। संभा नायक ने उसे पक्का चबूतरा बनवाकर स्थापित करवाया। ललितपुर तहसील का चौतराघाट गाँव इसी माता के चबूतरे की याद में बसाया गया। माता के खप्परों (छप्पर) को जहाँ झुलाया जाता, वे स्थान वर्तमान में महरौनी तहसील के छपरट, छपरौनी, छापछौल कहे गये।

महरौनी तहसील के अमौदा, अमौरा गाँव माता अम्बा की याद में बसाए गए स्थान हैं। इन स्थान नामों में मुख्य शब्द अंब है जो आम की अनुकृति प्रतीत होने लगा। महरौनी तहसील के स्थान बारई, बारयो, बारचौन, बारौन इत्यादि वराह पूजा के कारण बसे। विष्णु के वर्तमान पूजित रूपों से पूर्व जिले में वराह की पूजा की जाती रही। जिले के अनेक स्थानों से वराह के कई रूपों की मूर्तियां प्राप्त हुयी हैं।

तालबेहट तहसील का भँवरकली स्थान भ्रामरी (भँवर) माता के नाम पर बसा है। भ्रामरी माता पुराण देवी के रूप में लोकमान्य हैं। दुर्गासप्तशती के 11वें अध्याय में भ्रामरी देवी को असुरमर्दिनी और लोकहितकारिणी माता के अवतार रूप में उल्लिखित किया गया है। जनजातियों की गेय गाथाओं में भी भ्रामरी या भँवर माता का उल्लेख मिलता है। जिले के भौरसिल (ललितपुर), भौरट (महरौनी) इत्यादि स्थान नाम भी भँवरमाता की आस्था को जीवित रखे हुए हैं।

गोरा (ललितपुर) गाँव लोकजीवन में गौरी माता को लाड़-दुलारवश पूजने की याद में बसा स्थान है। आदिवासी समुदाय की यह आस्था देवी है। जिस प्रकार पुराण देवी महिषासुरमर्दिनी लोक में भैंसासरी या भैंसाई माता है, उसी प्रकार हमारी जगमाता पुराणों में पार्वती, गौरी या गिरिजा हैं तो लोकमाता के रूप में वह गौरी।

भैंसाई माता के जगह-जगह स्थान हुआ करते थे। घाटा नामक स्थान पर इस माता का निवास होने के कारण जिले का घटवार (ललितपुर) गाँव बसा है। सड़कोरा (महरौनी) स्थान साड़ा माता के आधार पर बसा है। साड़ा माता का मंदिर हाड़ा जागीरदारों द्वारा बनवाया गया। हाड़ा राजपूतों को महिषासुरमर्दिनी का इष्ट था। इस प्रकार साड़ा माता भी भैंसाई माता का अन्य स्वरूप है। यों भी लोकमाताएं अतिनिकट का संबंध रखती हैं। इनमें कोई छोटी या बड़ी नहीं हैं। अपने मूल रूप में यह लोककल्याणकारी समझी गयीं। पीपरी माता के नाम पर ललितपुर तहसील के पिपरई, पिपरौनियां, पिपरिया; तालबेहट तहसील के पिपरा, पिपरई तथा महरौनी तहसील के पिपरट, पिपरिया इत्यादि गाँव बसे हैं। पीपल का वृक्ष पवित्र माना गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण वृक्ष है क्योंकि इससे मनुष्यों हेतु आवश्यक ऑक्सीजन गैस सर्वाधिक निःसृत होती है। लोकमाता पीपरी सुहाग-पूत की रखवाली करती हैं। रोग-शोक सभी दूर करती हैं। पीपरी माता व नौ वीरांगनाओं ने अपने प्राण देकर शरणागतों तथा अपने राजपरिवार की प्राणरक्षा में अपने प्राण न्यौछावर कर दिये थे।

तालबेहट तहसील का हिंगौरा गाँव हिंगलाज माता के स्मरण में बसा है। हिंगलाज माता का मूल स्थान अफगान के कोटड़ी में है। वहाँ आज भी इसकी पूजा एक अफगान परिवार करता है। यह मुसलमान परिवार चोगला-चारणों का मूल बताया जाता है, जिसने अपना धर्म-परिवर्तन कर लिया था। वहीं से किसी समय 'जोत' (ज्योति) लाकर भारत के अन्य भागों में हिंगलाज माता के देवरे और मंदिर स्थापित किए गए। एक विरद के अनुसार हिंगलाज माता को आदिशक्ति का प्रथम अवतार माना गया है। अफगान में हिंगलाज माता की पूजा कन्या ही कर सकती है। पूजा करने वाले परिवार का मुखिया कोटड़ी का पीर कहलाता है। ऊमर (गूलर) की माता के ऊमरी (महरौनी), भादवा माता के कारण भदौरा (महरौनी), भदौना (तालबेहट) स्थान बसे हैं। भादवा की माता बीजासन माता का रूप मानी गयी हैं। लोकमान्यता के अनुसार 'बीजासन' को दुर्गा का बीसवां रूप माना गया है।

तरावली माता या खेतरमाता को ओकड़ी या होकड़ी माता के नाम से भी जाना जाता है। यह माता शंखोद्धार तीर्थ पर स्थित देवी थी। भील समुदाय इस माता को विशेष रूप से पूजता रहा है। तरावली (महरौनी) गाँव इसी माता

का स्मरण है। मोड़ शिखर निर्माण की एक अभियांत्रिक युक्ति है। मोड़ शिल्प के कारण जिले के स्थान मुड़ारी (ललितपुर) तथा मुड़िया (महरौनी) स्थापित हुए। मनगुवां (ललितपुर) गाँव आदिवासी समूह मीणा के नाम पर बसा संभव है।

स्थान-नामिक प्राचीनता- प्राचीन युग में चरागाह में पशु स्वच्छन्द चरते थे। उनके लिए चारे की उपलब्धि के अनुसार नई-नई गोष्ठ बना दी जाती थीं। छोड़ी हुयी पहली भूमि को गोष्ठीन कहा जाता था। ललितपुर का गोठरा (महरौनी) इसी कारण बसा है। वर्तमान में गोष्ठी का अर्थपरिवर्तित होकर विचार-विमर्श करने के लिए होने वाली सभा के अर्थ में किया जा रहा है। पशुओं को खाने के लिए भुस और कडंकर या कुट्टी दी जाती थी, उसे खाने वाले कडंकरिय (हिन्दी में डंगर) कहे जाते थे। जिले के डोंगरा नामक स्थान इसी डंगर के आधार पर बसे प्रतीत हैं।

कंथा जिसके आधार पर कैथोरा (ललितपुर) गाँव स्थापित होना संभव है। मूलतः शक भाषा के इस शब्द का अर्थ नगर होता है। देश में कुछ स्थानों पर यह शब्द परपद के रूप में स्थान नामों से संयुक्त है। इकौना (महरौनी) इक्षुवण (गन्ने का वन) का भाषा परिवर्तन है। सिरसी (तालबेहट) शिरीषवन के कारण बसा। सिंधु प्रांत या सिंध नद के निचले कांठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजधानी रोरुव थी। ललितपुर का रारा (तालबेहट) गाँव इससे अनुकृत प्रतीत है। सौवीर जनपद का सीधा संबंध ललितपुर जनपद से विदित नहीं है किन्तु रारा से मिलते-जुलते अभिधान प्रदेश के अन्य जिलों रूरा-महोबा, रूरा-कानपुर, रूरा-अड्डू जालौन में भी मिलते हैं। भोंड़ी (महरौनी) गांव का संबंध भृगुकच्छ से संभव है। ब्राह्मणक जनपद की तरह शौद्रायण लोग भी सिकन्दर से लड़े थे। शौद्रायण का यूनानी रूप सोडराई होता है। ललितपुर तहसील का सूडर गाँव का संबंध इसी से प्रतीत है। भौगोलिक स्थिति के अनुसार ललितपुर जनपद भारत के मध्य में है। पूर्वोत्तर के राज्यों को छोड़कर देश के चारों कोनों के रास्ते का यदि मध्य बिन्दु तलाशना हो तो ललितपुर जनपद का भूभाग इसमें आएगा। भारत का वर्तमान राष्ट्रीय राजमार्गों का चतुर्भुज भी इसी के आसपास बनता है। अतः यहां संस्कृति में हुए चतुर्दिक परिवर्तनों का प्रभाव दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है।

सक्तू (महरौनी) का संबंध सक्तू खाद्य से है। पाणिनि ने साल्व जनपद की नस्ल के बैलों को साल्वक कहा है। उत्तरी राजस्थान के बीकानेर से अलवर तक फैले हुए बड़े भूभाग का नाम साल्व था। मेड़ता और जोधपुर इलाका भी इसी के अंतर्गत था। इस प्रदेश के नागौरी बैल आज तक प्रसिद्ध हैं। राजस्थान से बैलों को लाकर लोग विपणन करते रहे हैं। महरौनी तहसील के सौल्दा स्थान इसी कारण बस गया संभव है।

खैरा (तालबेहट) शब्द उक्षतर शब्द से निष्पन्न हुआ है। वर्तमान में खदिर से इसका अर्थ जोड़ा जाता है, किन्तु 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में जिस बछड़े को शकट (बैलगाड़ी) आदि में जोतने के लिए बधिया करते थे। वह पूरा जवान होने पर उक्षा और अधेड़ अवस्था का होने पर उक्षतर कहा जाता था। उक्षतर से हिन्दी का खैरा शब्द बना है (उक्षतर-उक्खयर-उखड़र-खड़रअ-खैरा)



जिस बछड़े के दूध के दौत न टूटे हों उसे उदन्त कहा जाता था। तालबेहट तहसील का उदगुवां स्थान इससे संबंधित संभव है। किन्तु 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में कुओं की सफाई करने वाले लोग उदगाह या उदकगाह कहलाते थे। उदगुवां का भाषा-परिवर्तन इसके निकट भी है।

खेड़ा शब्द खेट से निष्पन्न हुआ है। 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' के अनुसार मध्य देश से लेकर पश्चिम में गुजरात तक यह परपद प्रयुक्त होता है। पाणिनि के अनुसार कुत्सित नगर खेट कहलाते थे। खाईखेरा (ललितपुर) तथा खिरिया पूर्व तथा परपद के स्थान नाम जिले में दो दर्जन से अधिक हैं। पाय (महरौनी) गाँव का नाम कदाचित अंग्रेजों ने पता नहीं किस कारण पाह कर दिया। इसे पंजाब तथा राजस्थान में पाइ तथा बुन्देलखण्ड में प्या या पैला कहलाता है। चीमना (ललितपुर) गाँव बौद्ध पृष्ठभूमि के चीवर का संकेत करता है। यह वस्त्र बौद्ध भिक्षुओं को पहनाते हैं। गृहस्थ या ब्रह्मचारी के वस्त्रों के लिए चीवर नहीं चलता था।

जिजरवारा (तालबेहट) स्थान का संबंध गालव ऋषि से प्रतीत होता है। शैशिरि शाखा में गालव को शौनक का और शाकटायन को शौशिरि का शिष्य कहा गया है। कठवर (तालबेहट) जिजरवारा के निकटस्थ बसा ग्राम है। पाणिनि ने कठों का स्वतंत्र उल्लेख किया है। कठ लोग गाँव-गाँव में फैल गए थे (ग्रामे-ग्रामे च काठकं कालापकं न प्रेच्यते, भाष्य 4/3/101)। मेगस्थनीज ने पंजाब में कंबिस्थोलोइ लोगों का उल्लेख किया है, जिनके देश में इरावती नदी बहती थी। ज्ञात होता है कि कपिष्ठलों का प्रदेश इरावती के आसपास के भूभाग में कठों के समीप ही था। कठों ने वहीं पर अपने प्रदेश में जाते हुए सिकंदर का मार्ग रोका था।

कठों के अतिरिक्त जनपद ललितपुर सहित भारतवर्ष के अनेक भागों में मर, भर, जर संस्कृति का उल्लेख मिलता है, किन्तु 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में इनका उल्लेख नहीं है। भर हिन्दुओं की एक अस्पृश्य जाति मानी जाती थी। यह जाति उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में रहती थी। जिले के भारौनी (महरौनी) इत्यादि स्थान नाम इस जाति का संकेत करते हैं। मर जाति का संकेत करते स्थान नाम मरौली (महरौनी) तथा जर जाति से संबंधित जरया (महरौनी) तथा जरावली (महरौनी) इत्यादि स्थान नाम हैं।

आदिवासी समाज का वैचारिक मूल्यांकन संपादक रवि कुमार गाँड़ एवं चंद्रेश्वर यादव आगमन प्रकाशन हापुड़ 2014 आइएसबीनएन 9788192947426 में प्रकाशित

## पुस्तक को पाठक एवं पाठक को पुस्तक

(हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में)

देश में 2001 की जनगणना के अनुसार 41 प्रतिशत जनसंख्या हिंदी भाषी तथा उसके बाद क्रमशः बंगाली (8.1 प्रतिशत) तेलगु (7.2 प्रतिशत), मराठी (7 प्रतिशत) तथा तमिल (5.9 प्रतिशत) भाषा भाषी हैं। भारत में प्रकाशन व्यवसाय अंग्रेजों के समय से चला आ रहा है। 200 वर्ष पूर्व से अधिक समय हुआ, जब भारत में अंग्रेजों ने प्रकाशन उद्योग की शुरुआत की। अंग्रेजों ने भारत में मिशनरी शिक्षा के लिये प्रकाशन उद्योग का सूत्रपात किया, साथ ही उन्हें अपने बच्चों को अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करनी थी, जिससे यह उद्योग आरंभ किया गया। भारत के स्कूलों, कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों के लिये 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में अंग्रेजों ने ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, मैकमिलन, ब्लैकीज इत्यादि के कार्यालय भारत में खोल दिये थे। 1947 में देश की स्वाधीनता के समय तक भारत में भारतीय भाषाओं के प्रकाशन उद्योग का समुचित विकास नहीं हो सका था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में तेजी से शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना हुयी, जिनकी पाठ्य-पुस्तकों संबंधी आवश्यकतायें पूरी करने के लिये भारत के प्रकाशकों ने इस व्यवसाय में अपने पैर जमाने शुरू किये। इस क्रम में देश में जिन सरकारी प्रकाशन संस्थाओं का उदय हुआ, उनमें से 1961 में एन सी ई आर टी (राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद) प्रमुख है। 1960 के अंत तक देश के राज्यों में पाठ्यक्रम बोर्डों का गठन हो गया। सरकारी प्रकाशनों में नेशनल बुक ट्रस्ट तथा प्रकाशन विभाग का भी उल्लेखनीय स्थान है। हमारे देश में सरकारी की तुलना में निजी क्षेत्र में प्रकाशन संस्थायें कहीं अधिक हैं। इनका प्रसार पूरे देश में है, किंतु इनमें से अधिकतर वर्ष में एक दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित नहीं कर पा रही हैं। भारत की सभी प्रकाशन संस्थाओं में से लगभग दस प्रतिशत ही प्रकाशक वर्ष में 50 पुस्तकों से अधिक प्रकाशित करते हैं। भारत के अधिकांश प्रकाशकों के पास प्रिंटिंग प्रेस तथा वितरण नेटवर्क उपलब्ध नहीं है। फिर भी, क्योंकि हमारा देश बहुत विशाल है, अतः संपूर्णता में मिलाकर देखा जाये तो दुनिया के सात सर्वोच्च प्रकाशन उद्योगों में हमारे देश की गणना की जाती है।

देश का प्रकाशन उद्योग अत्यंत प्राचीन होने के बावजूद अभी तक हमारे यहां ऐसी व्यवस्था नहीं बन पायी है, जिसमें देश के प्रकाशित प्रत्येक शीर्षक (टाइटल) का समुचित लेखा-जोखा मिल सके अर्थात् पुस्तक कहां से, किस लेखक अथवा संपादक की, कब, कितनी प्रतियां और किस विषय की प्रकाशित हुयी है और इसकी प्राप्ति का स्थान क्या है। पुस्तकों के लिये आवंटित होने वाला आई एस बी एन तथा पत्रिकाओं के लिये आई एस एस एन से भी पाठक परिचित नहीं हैं। लेखक तथा संपादक भी इन्हें प्राप्त करने की प्रक्रिया और उद्देश्यों से भली-भांति जानते नहीं हैं।

यद्यपि यूजीसी वेतनमानों को प्राप्त करने के लिये इन्हें जब से आवश्यक बना दिया गया है, तब से उच्च शिक्षा में इसकी व्याप्ति और समझ बढ़ गयी है। 1976 में राष्ट्रीय अनुप्रयुक्त आर्थिक अनुसंधान परिषद (एन सी ए ई आर) ने सर्वप्रथम भारत के प्रकाशन उद्योग की दशा पर व्यवस्थित अध्ययन किया। परिषद ने 1985 में लघु प्रकाशकों की समस्याओं का भी अध्ययन किया, किंतु यह दोनों अनुसंधान पुराने हो गये हैं। इनसे मात्र प्रारंभिक महत्व की जानकारी हमें प्राप्त होती है। इसलिये अब इनकी उपयोगिता कम हो गयी है।

वर्तमान में प्रकाशन उद्योग के आंकड़ों की प्रामाणिक और पूरी जानकारी उपलब्ध नहीं है। अनुमानों से काम चलाया जा रहा है। प्रकाशन उद्योग की सांख्यिकी को जानने का एक विश्वसनीय स्रोत नेशनल पुस्तकालय कोलकाता के नेशनल बिब्लियोग्राफिक सेंटर द्वारा कराया गया एक अध्ययन है। इस सेंटर ने डिलिवरी आफ बुक्स अधिनियम द्वारा जो पुस्तकें प्रकाशित हुरीं, उनके भाषावार आंकड़े जुटाये हैं, जो इस प्रकार हैं-

अवधिवार प्राप्त पुस्तकों की संख्या<sup>1</sup>

भाषा	1990&91	1991&92	1992&93	1993&94	1994&95	1995&96
असमी	232	220	250	263	331	219
बंगाली	1337	1603	1489	1588	1586	1804
अंग्रेजी	7368	8169	8119	5082	4493	5907
गुजराती	1140	362	435	480	331	219
हिंदी	<b>1882</b>	<b>1702</b>	<b>1514</b>	<b>1547</b>	<b>1815</b>	<b>1367</b>
कन्नड़	1138	748	744	309	385	933
कश्मीरी	12	12	10	10	12	15
मलयालम	860	774	631	646	673	682
मराठी	1119	973	849	828	1913	108

उड़िया	383	376	178	148	155	150
पंजाबी	405	402	402	273	301	332
संस्कृत	77	50	62	65	76	47
सिंधी	57	40	20	8	31	89
तमिल	958	2072	2341	1524	1572	1172
तेलुगु	686	719	727	706	641	605
उर्दू	377	241	253	311	189	279
अन्य	34	30	27	36	19	15
कुल	18065	18493	18051	13824	14523	14883

इस तालिका से स्पष्ट है कि वर्ष 1995-96 में 40 फीसदी पुस्तकों के साथ अंग्रेजी भाषा कर पुस्तकें प्रकाशित हुईं हैं। इस वर्ष इसके पीछे क्रमशः बंगाली, हिंदी तथा तमिल हैं। परंतु नेशनल पुस्तकालय के यह आंकड़े देश के प्रकाशन उद्योग के वास्तविक परिदृश्य को नहीं प्रदर्शित करते। जानकार मानते हैं, इन आंकड़ों में अंग्रेजी भाषा में 20 प्रतिशत तथा अन्य भाषाओं में 30 प्रतिशत इजाफा करने से स्थिति की वास्तविकता के समीप पहुंचा जा सकता है। सी ए पी ई एक्स आई एल के आकलन के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष 50000 टाइटल्स प्रकाशित होते हैं। वर्ष 1997 में भारत में प्रकाशित होने वाली कुल 57386 पुस्तकों की संख्या में 16026 पुस्तकों के साथ हिंदी शीर्ष स्थान पर आ गयी है। इसके पीछे क्रमशः अंग्रेजी, तमिल, बंगाली, मराठी भाषाओं की पुस्तकें हैं। इंटरनेशनल पब्लिशर्स एसोशियेशन के दिये आंकड़ों के अनुसार वर्ष 1997 में सर्वाधिक पुस्तकें छापने वाले देशों में भारत का स्थान दुनियां में पांचवां है, जबकि 1,02,102 पुस्तकों के साथ इंग्लैंड सर्वोच्च स्थान पर है।<sup>2</sup>

एक वेबसाइट पर नवीनतम वर्ष 2001-02 के आंकड़े प्राप्त हुये हैं, जिसके अनुसार हिंदी में देश की सर्वाधिक पुस्तकों का प्रकाशन हो रहा है। यह कोई अस्वाभाविक स्थिति नहीं है। हिंदी में वर्ष 2001-02 में कुल 18 भाषाओं में 69000 से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है।<sup>3</sup> यह स्थिति तब है, जब देश में अभी मात्र 62.5 प्रतिशत साक्षरता है। देश की निरक्षरता हिंदी भाषी क्षेत्र में अधिक है। 37.5 प्रतिशत व्यक्ति आने वाले समय में साक्षर होंगे। अतः यह सहज बोधगम्य है कि देश में हिंदी भाषा की पुस्तकों का बाज़ार और अधिक बढ़ेगा। वर्ष 2001-02 के बाद के आंकड़े

प्राप्त नहीं हो सके हैं। भारतीय प्रकाशकों का संघ (एफ आई पी) की एक पुस्तक 50 Years of Book Publishing in India since Independence में दिये गये आकलन के अनुसार भारत में 11000 प्रकाशक हैं, जो लगभग 60000 टाइटल्स प्रतिवर्ष प्रकाशित करते हैं।<sup>4</sup>

हमारे देश में बहुत थोड़ी पुस्तकों की लाखों प्रतियां, तो बहुतों की सैकड़ों प्रतियां ही प्रकाशित की जाती हैं। हिंदी की पुस्तकों के प्रकाशन की संख्यात्मक स्थिति बाद के वर्षों में मजबूत हुयी है। अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि हिंदी पुस्तकों के प्रकाशक पाठकों के लिये पुस्तकें नहीं छापते, बल्कि वे सरकारी और सांस्थानिक थोक खरीद के लिये पुस्तकें छापते हैं। यह पुस्तकें आलमारियों की शोभा बढ़ाती हैं। थोक खरीद के लिये छपी इन पुस्तकों का मूल्य इतना अधिक होता है कि आम पाठक इन्हें खरीद नहीं पाता। इनका मूल्य इसलिये अधिक रखा जाता है क्योंकि प्रकाशकों को इन पुस्तकों को पुस्तकालयों को बेचना होता है। सबका कमीशन भी तो रखना है। पुस्तक की प्रतियां भी आमतौर पर 500 रखी जाती हैं। अधिक बेचने की गुंजाइश भी तो नहीं। ऐसे में पुस्तक को पाठक प्राप्त नहीं हो पाते और पाठक को पुस्तक भी प्राप्त नहीं हो पाती। यहां पर एक अन्य दुःखद वास्तविकता का उल्लेख करना आवश्यक है कि हिंदी के पाठक की आर्थिक स्थिति मजबूत नहीं है, जिससे वह पुस्तकों को खरीद कर पढ़ सके। इस पर समाज के एक बड़े वर्ग का यह कहना है कि हिंदी पढ़ी में पढ़ने की आदत देश के अन्य भागों की तुलना में कम ही है। देश के हिंदी भाषी क्षेत्र की तुलना में बंगला, तमिल और मराठी भाषी छोटे से क्षेत्रों में अपनी-अपनी भाषा की पुस्तकों को पढ़ने की आदत खूब है। इस प्रकार भाषा भाषी जनसंख्या के प्रतिशत से यदि देखा जाये तो देश में हिंदी साहित्य की पठनीयता की स्थिति असमी और कांकेणी जैसी भाषाओं से भी दयनीय हो जाती है। हिंदी भाषी क्षेत्र के लोगों में गुटखा-सिगरेट जैसे व्यसनो पर महीने में हजारों रुपये खर्च करने में कोई संकोच नहीं है, किंतु पुस्तक या पत्रिका यहां तक कि समाचार-पत्र के नाम पर कुछ रुपये खर्च करने में कष्ट होता है। हिंदी भाषी क्षेत्र की एक चौंकाने वाली वास्तविकता यह भी है कि बिहार में ही हिंदी के सर्वाधिक पाठक दिखाई पड़ते हैं, जबकि बिहार हिंदी भाषी राज्यों में सर्वाधिक अभावग्रस्त है। हिंदी भाषी राज्यों में सर्वाधिक पाठक बिहार में क्यों हैं, इसका खुलासा बिहार के एक पाठक के इस पत्र से होता है-

“मैं भी तद्भव का पाठक हूं। दुर्भाग्यवश इच्छा के बावजूद सारे अंक पढ़ नहीं पाता, लेकिन आज समस्तीपुर के सर्वोदय बुक स्टाल पर खड़े-खड़े पत्रिका के पन्ने पलट रहा था कि अचानक लेखकों के परिचय के पृष्ठ पर अपने जिले के लेखक मो० आरिफ का नाम, पता देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य लगा। सच कहूं भोजन न कर पत्रिका खरीद ली। ट्रेन में ही उनकी कहानी ‘चोर सिपाही’ पढ़ डाली। कहानी पढ़ने के दरम्यान आंखों में दो बार पानी भी आया।

हालांकि कहानी मैंने अपने जिले के लेखक को पढ़ने के उद्देश्य से ही शुरू की थी लेकिन ज्यों ही अपना पांव कहानी रूपी सरिता में रखा तो धीरे-धीरे वह सरिता अपने में बहाते हुये कहानी के महासमुद्र में ले गयी जहां न भौगोलिक सीमायें थीं न खोजने से कोई अपना मिलता। आग में जला अहमदाबाद राख का ढेर मालूम पड़ा। जहां

गांधी की स्मृतियां गोडसे के भय से दुबकती हुयी भागती दिखायी पड़ीं। फिर अचानक प्यार का दीपक जलता दिखायी पड़ा। शंभु शरण यादव, समस्तीपुर, बिहार। ’ ’ 5

विज्ञापन और प्रकाशन का गठजोड़ भी आज के बाज़ारवादी युग की वास्तविकता है। अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं को महंगे विज्ञापन मिलने का कारण यह भी है कि अंग्रेजी का पाठक अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध है। इनसे बाज़ारवादी ताकतों को पोषण मिलता है, जबकि हिंदी भाषी क्षेत्र में दैनिक समाचार-पत्र भी मांग कर पढ़ लिया जाता है और अगर न भी पढ़े तो “अखबार पढ़कर होना भी क्या है?” ऐसी मानसिकता के कारण पठनीयता हिंदी भाषी क्षेत्र के सांस्कृतिक व्यवहार का हिस्सा नहीं बन पायी है। पढ़ना यहां के अधिकांश लोगों के लिये या तो फालतू समय गुजारने का शगल है या फिर किसी कैरियर, व्यवसाय अथवा प्रतियोगिता जनित ज़रूरत का हिस्सा। यह स्थिति तब है, जब पूरी दुनिया में ‘सूचना का विस्फोट’ हो रहा है। जानकारियां घर के दरवाज़े पर आकर दस्तक दे रही हैं और जानने समझने के बहुत बेहतर साधनों का विकास हो रहा है। रेडियो, टेलीविजन, केबिल, टेलीफोन, कैमरा, रिकॉर्डर, कंप्यूटर इंटरनेट आदि की यह दुनिया मोबाइल थ्री जी के सहारे हस्तामलक हो गयी है।

हमारे पास भारत और दुनिया भर में फैले कम-से-कम हिंदी के 30-40 करोड़ पाठक होंगे या जिन्हें पाठक बनाया जा सकता है। जिस भाषा को इतना बड़ा बाज़ार मिला हुआ हो, उसमें दो-चार सौ प्रतियां बेचकर प्रकाशक संतुष्ट हो जाये तो यही मानना चाहिये कि उसकी महत्वाकांक्षा बहुत बड़ी नहीं है। भले ही लिखे हुये में ज्यादातर कूड़ा-करकट हो, लेकिन कुछ उसमें बहुमूल्य भी होगा। इस लाभ की कामना पाठक के मन में बसाने का काम अत्यंत आवश्यक है। किसी देश की सभ्यता और संस्कृति को जानने और प्रसारित करने का काम पुस्तकों के माध्यम से पूरा और प्रामाणिक हो सकता है। प्रायः हिंदी की सारी पुस्तकें दिल्ली में ही छपती हैं, क्योंकि बजट और सरकारी खरीद का मामला यहीं तय होता है। परंपरागत प्रकाशन केंद्र जैसे बनारस, पटना, लखनऊ, इलाहाबाद और भोपाल आदि फीके पड़ते जा रहे हैं। दो-एक अपवादों को छोड़कर हिंदी में कोई भी प्रकाशक नयी पुस्तक पेपरबैक संस्करण में प्रकाशित नहीं करता। ‘बेस्ट सेलर’ रह चुकीं पुस्तकों के पेपरबैक संस्करण बाद में निकालना और बात है, क्योंकि पुस्तक की मुख्य उत्पादन लागत और ज्यादातर लाभ वे पहले ही वसूल चुके होते हैं। हर तरफ से सिर्फ लाभ कमाना ही उनका ध्येय है, लेकिन पाठकों को पुस्तक की उपलब्धता की परवाह करने वाला प्रकाशक शायद ही कोई है। जिसे पुस्तक की ज़रूरत है, उसे वह सुलभ नहीं है।

विदेशों में हिंदी पुस्तकों का एक बहुत बड़ा बाज़ार है। भारत से बाहर लगभग 125 विश्वविद्यालयों व संस्थानों में हिंदी पढ़ायी जाती है। वहां विदेशी मुद्रा में हिंदी पुस्तकें बिकती हैं। जो पुस्तक भारत में 200 रुपये में बिकती है, वह विदेशों में 20 पौंड या 25 डॉलर में बेची जाती है। यह सारा का सारा लाभ प्रकाशकों को अतिरिक्त रूप में होता है। प्रकाशकों द्वारा की जा रही इस चोरबाज़ारी में लेखकों का भी कम योगदान नहीं है। लेखकों के अपने संकीर्ण निहित स्वार्थ हैं। उन्हें बस अपने ‘बायोडाटा’ को आकर्षक बनाने और दो-चार पत्रिकाओं-अखबारों में प्रायोजित

क्रिस्म की समीक्षा छपवाने भर से मतलब रहता है। यह विडंबनापूर्ण है कि जहां हिंदी का प्रकाशन बढ़ा है, वहां उसके पाठकों की संख्या घटी है।

प्रकाशन उद्योग सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की धुरी बन सकता है, बशर्ते हमारे प्रकाशक व्यावसायिक ईमानदारी बरतें। वे उपभोक्ता उन्मुख हों। पुस्तकों के वास्तविक उपभोक्ता उसके पाठक हैं। हिंदी की पठनीयता प्रकाशन को पाठकोन्मुख बनाकर ही बढ़ायी जा सकती है। पुस्तकों को सीधे पाठकों के पास ले जाना होगा। पाठक को भी समझना होगा कि पुस्तक का कोई विकल्प नहीं है। जीवन में पुस्तकों की जगह रेडियो, टेलीविजन, इंटरनेट, मोबाइल इत्यादि साधन नहीं ले सकते हैं। पुस्तकों की जगह पुस्तकें ही ले सकती हैं। वर्जीनिया वुल्फ ने अपनी एक कविता में पुस्तक को फूल की तरह बताया है। जिस फूल से मधुमक्खी रस निकालती है, उसी फूल के इर्द-गिर्द तितलियां मंडराती हैं। तितलियां कुछ भी हासिल नहीं कर पातीं। इसी फूल से मकड़ा अपने लिये ज़हर भी निकालता है। देशों की सभ्यता का ज्ञान पुस्तक के माध्यम से ही प्राप्त होता है। भारतीय जनमानस में पुस्तकों के प्रति अपार श्रद्धा एवं विश्वास है। अतः पुस्तक उद्योग को बढ़ावा देने के लिये भारत सरकार को राष्ट्रीय पुस्तक नीति का निर्माण कर लेना चाहिये। बंगलादेश, श्रीलंका जैसे देशों के पास भी पुस्तक नीति है। पुस्तकों के निर्यात को प्रोत्साहित करना चाहिये। राष्ट्रीय अनुवाद ब्यूरो की स्थापना करके भाषायी आदान-प्रदान संभव हो सकेगा। प्रकाशन एवं मुद्रण को पूर्णकालिक एवं पेशेवर बनाया जाये। डाक दरें कम हों, जिससे पुस्तकें गांव-गांव पहुंचायी जा सकें। आज के बदलते राजनीतिक-वैचारिक समीकरण और आर्थिक तकनीकी संदर्भों को खोजने की ज़रूरत पुस्तकों और उसकी पठनीयता द्वारा ही पूरी की जा सकती है। पुस्तक मेला जैसे कार्यक्रमों का इसमें बड़ा योगदान है। पुस्तक मेलों ने इसीलिये अपना एक महत्व अर्जित कर लिया है। इस वर्ष का फरवरी में प्रगति मैदान नयी दिल्ली में चला 19वां विश्व पुस्तक मेला में जैसा लेखक-लेखिकाओं में होड़ मची थी कि जिसकी पुस्तक का लोकार्पण नहीं हुआ, वह मानो साहित्य के इतिहास से बाहर हो जायेगा। इस पुस्तक मेला में हिंदी की लगभग 150 पुस्तकों के लोकार्पण हुये।<sup>6</sup>

संदर्भ-स्रोत

- 1- [http://www.education.nic.in/cr\\_piracy\\_study/cpr6.asp](http://www.education.nic.in/cr_piracy_study/cpr6.asp) searched on 4.11.10
2. राष्ट्रीय सहारा हस्तक्षेप, 5 फरवरी 2000
3. <http://delhiprinter.org/books.pb.ktm> searched on 7.11.10
- 4 [http://www.education.nic.in/cr\\_piracy\\_study/cpr6.asp](http://www.education.nic.in/cr_piracy_study/cpr6.asp) searched on 4.11.10
5. तद्भव, अंक 20, संपादक अखिलेश, पृष्ठ 237
6. हंस, मार्च 2010, हट रहा मेला, भारत भारद्वाज, पृष्ठ 91

साहित्य की पठनीयता: दशा एवं दिशा विषय पर 22-23 नवंबर 2010 को रामस्वरूप ग्रामोद्योग महाविद्यालय पुखरायां कानपुर देहात में आयोजित सेमिनार की प्रासीडिंग में प्रकाशित

## 26

### ललितपुर जनपद की सहरिया जनजाति

सन् 2001 की जनगणना के अनुसार ललितपुर जनपद में 44587 सहरिया निवास करते हैं। इस जनगणना वर्ष के समय जिले के सहरिया अनुसूचित जाति में सम्मिलित थे।<sup>1</sup> संविधान (अनुसूचित जनजाति) (उत्तर प्रदेश) आदेश 1967 के अनुसार उत्तर प्रदेश में - भोटिया, बुक्सा, जानसारी, राजी तथा थारू - पाँच जनजातियाँ मान्य की गयीं किन्तु सन् 2003 में दूसरी अनुसूची में संशोधन करके नियम 10 स्थापित किया गया, जिसके अनुसार ललितपुर के सहरिया- जनजाति के अंतर्गत स्वीकार कर लिए गए। इस संशोधन में सहरिया के अतिरिक्त प्रदेश के पूर्वी जनपदों में निवास कर रही जातियाँ - गोंड़, धुरिया, नायक, ओझा, पठारी, राजगोंड़, खरवार, खैरवार, परहिया, बेंगा, पंखा, पनिका, अगरिया, पतारी, चैरो, भुइयां तथा भुइया- भी सम्मिलित हो गयीं।<sup>2</sup> इस प्रकार उत्तर प्रदेश में संप्रति पंद्रह जनजाति समूहों में विभक्त 23 जनजातियाँ निवास कर रही हैं।

ललितपुर की सहरिया जनजाति को जनजाति कोटि का आरक्षण इस संविधान आदेश के संशोधन होने तक नहीं मिल पाया, जिससे सहरिया जनजाति की गरीबी में कोई मात्रात्मक कमी नहीं आ सकी। देश में कुल 75 प्रमुख जनजाति समूह चिन्हित किए गए, जिनमें एक सहरिया भी है।<sup>3</sup> प्रदेश की दृष्टि से सहरिया उत्तर प्रदेश की सर्वाधिक तीन बड़ी जनजातियों में से एक है। सहरियों का निवास उत्तर प्रदेश में मुख्य रूप से ललितपुर जिले में ही है। पड़ोसी जनपद झांसी के बबीना क्षेत्र में भी कुछ सहरिया परिवारों का निवास है।

सन् 2001 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश की तीन सबसे बड़ी जनजातियाँ, जो प्रदेश के निम्नलिखित पाँच जनपदों में जनजातियों की संख्या की दृष्टि से प्रथम तीन स्थान पर हैं<sup>4</sup>

जनपद	गोंड़	खरवार	सहरिया
सोनभद्र	132946	64738	--
देवरिया	82993	--	--
ललितपुर	--	--	44587



बलिया	33116	--	--
मऊ	14424	--	--

2001ई की ही जनगणना के अनुसार देश के निम्नलिखित जनपदों में सहरिया जनजाति का निवास प्रथम तीन अनुसूचित जनजाति के रूप में है<sup>5</sup>

देश में सहरियों की जनसंख्या (अवरोही क्रम में)

क्रम संख्या	जनपद	राज्य	ज0सं0 अनुसूचित जनजाति के अंतर्गत जिले में	स्थान
1	शिवपुरी	मध्य प्रदेश	139124	प्रथम
2.	शेवपुर	मध्य प्रदेश	107935	प्रथम
3.	गुना (अविभाजित)	मध्य प्रदेश	102601	प्रथम
4.	बारां	राजस्थान	74246	द्वितीय
5.	ललितपुर	उत्तर प्रदेश	44587	2001 ई की जनगणना में अनुसूचित जाति की श्रेणी के अंतर्गत जिले में द्वितीय स्थान पर, किन्तु जनजाति का दर्जा प्राप्त होने के बाद यह प्रथम स्थान पर है।
6.	ग्वालियर	मध्य प्रदेश	33239	प्रथम
7.	विदिशा	मध्य प्रदेश	30872	प्रथम
8.	गंजाम	उड़ीसा	23150(शाबर) व 13068 (सावरा)	क्रमशः प्रथम एवं द्वितीय
9.	दतिया	मध्य प्रदेश	7754	प्रथम
10.	मुरैना	मध्य प्रदेश	7143	प्रथम

सहरिया जनजाति मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान एवं उड़ीसा के अतिरिक्त आंध्र प्रदेश, असम, पश्चिम बंगाल तथा बिहार में भी छुट-पुट संख्या में पाए जाते हैं।<sup>6</sup>

वेदों में उल्लिखित सावर को ही सहरिया जाना गया। बाद में महाभारत के एक वर्णन में आया है कि पाण्डवों ने इन्हें हराया था। कहा जाता है कि ललितपुर जनपद में पाण्डवों ने अपना अज्ञातवास बिताया था। जिले के अनेक स्थान-नाम पाण्डवों से सम्बन्धित हैं। नग्न-सावर एवं पर्ण-सावर सहरियों को ही कहा गया है। वराहमिहिर ने इनकी भाषा को सावरी कहा है। इतिहासकार टालमी एवं प्लिनी ने अपने वर्णनों में स्वारी तथा सबराई को कहा है कि ये पत्ते खाते थे। रामायण की रामभक्त शबरी को सहरियों में से जोड़कर माना जाता है। सहरिया के बाद ललितपुर परिक्षेत्र में गोंडों का आधिपत्य हुआ। 7 गोंड राजा सुम्मेरसिंह ने अपनी पत्नी ललिताकुँवर के नाम पर ललितपुर नगर बसाया था। 8 बहुत समय पूर्व गोंड राजा सुमेर सिंह ने अपने स्वास्थ्य संवर्धन के लिए एक सिद्ध झील में नहाया। यह राजा अपनी पत्नी के साथ इसी झील के किनारे रहने लगा। कुछ समय बाद इनके एक कन्या हुयी, जिसका नाम 'ललित कुँवर' रखा गया। इसी कन्या के नाम पर इस स्थान का नाम ललितपुर पड़ा। यह झील आजकल ललितपुर शहर के मध्य में सुमेरा तालाब के नाम से प्रख्यात है। ललितपुर जनपद के गजेटियर तथा 'एण्टिक्विटीज इन दि डिस्ट्रिक्ट ऑफ ललितपुर' में यह नाम सुम्मेरशाह की पत्नी के नाम पर बताया गया है वहीं ललितपुर स्मारिका में इसके संपादक द्वारा सुमेरसिंह गोंड की पुत्री के नाम पर बसा हुआ बताया गया है। जबकि कल्हणकृत राजतरंगिणी में उल्लिखित कश्मीर नरेश ललितदिव्य के नाम पर उसके सेवकों ने इस स्थान का यह नामकरण किया। जो भी हो इतना अवश्य है कि ललितपुर के नामकरण और स्थापन में गोंड राजा सुमेरसिंह का योगदान रहा है। इस नगर के विभिन्न मन्दिर और मूर्तियाँ इस निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं। प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की 150वीं वर्षगाँठ पर प्रकाशित पुस्तक 'बानपुर विविधा' में पंडित बाबूलाल द्विवेदी के आलेख 'इतिहास और जनश्रुतियों के आलोक में नगर ललितपुर' में दी गई एक जनश्रुति का उल्लेख है कि चन्देरा के राजा चन्द्रदेव की चार लड़कियों में सबसे छोटी ललिता का विवाह सुमेरसिंह के साथ हुआ। सुमेरसिंह के मुँह खोलकर सो रहा था, तभी एक सांप उसके पेट में चला गया। कृशकाय सुमेरसिंह रुग्ण रहने लगा। ललिता देवी को स्वप्न में सुमेरसिंह के स्वस्थ होने का उपाय पता लगा और उसने चन्देरा के निकट एक देवी मंदिर एवं अपने नाम पर एक नगर बसाया। इसी का नाम ललितपुर हुआ किन्तु इस जनश्रुति का उल्लेख कनिंघम की पुरातात्विक रिपोर्ट के भाग-10 में भी हुआ है, जिसके अनुसार यह किंवदन्ती देश के कई भागों में क्षेत्रीय परंपरा के अनुसार सुनी-सुनायी जाती है।

सहरिया जनजाति अन्य जनजातियों की भाँति जंगलों में निवास करती रही। शेष मानव सभ्यता से उसका जुड़ाव नगण्य स्तर पर रहा। वन-उत्पादों पर यह जनजाति निर्भर रही है। इसलिए लिखित एवं पुरातात्विक इतिहास प्राप्त नहीं होता है।

सहरिया शब्द के कई अर्थ मिलते हैं। सह का अर्थ साथी तथा हरिया चीता को कहा गया है। अतः सहरिया का अर्थ हुआ चीता का साथी (Companion of the Tiger)<sup>9</sup> दूसरे अर्थ के अनुसार सहरिया जंगलवाची अरबी शब्द सहारा से निकला है। कहा जाता है कि मुस्लिम शासकों ने इन्हें जंगलों में बसाया और 'शह' नाम दिया, जिससे यह सहरिया कहलाए।<sup>10</sup> इनकी बस्ती को सहाराना कहा जाता है। यह बस्तियाँ अत्यंत पिछड़ी हुयी हैं। नेहरू

महाविद्यालय ललितपुर के अवकाशप्राप्त इतिहास प्रवक्ता श्री बिहारीलाल बबेले ने अपने एक लेख में सहर का अर्थ कुल्हाड़ा बताया है, जो मिथ्या एवं भ्रामक है। हाँ, जिस प्रकार भील जनजाति की पहचान धनुष-बाण से होती है, उसी प्रकार सहरिया जनजाति का भी प्रमुख हथियार कुल्हाड़ी है। सहरियों को सौर बाबा कहकर भी यहाँ के लोग पुकारते हैं। इनका निवास सभ्यता के प्रागैतिहासिक काल से ही रहा, इसलिए इन्हें आदिवासी कहा जाता है।

ललितपुर जनपद में सहरिया जनजाति को अनेक अन्य नामों से भी जाना जाता है। इन्हें संबोधन किया जाने वाला शब्द 'राउत' एक पदवी नाम है, जो जंगल का राय (राजा) के अर्थ में ज्ञात है किन्तु सहरिया जनजाति की विपन्नतम दशा को देखते हुए कहा जा सकता है कि इस शब्द का अर्थसंकोच हो गया। जिले की जनबोली में यह शब्द जैसे हीनता का अर्थ उत्पन्न करने लगा है। सहरिया लोगोें को यहाँ की बोली में बरखा भी कहा जाता है, जो स्पष्टतः वनरक्षक का बोली परिवर्तन रूप है।

जिले की सहरिया जनजाति के व्यक्ति अपेक्षाकृत छोटे ऋद के एवं चपटे नाक-नकश के होते हैं। जहाँ भील अधिकांशतः लंबे एवं हृष्ट-पुष्ट होते हैं, वहीं सहरिया कुछ दुबले एवं श्याम वर्ण के होते हैं। जनपद की महारौनी एवं ललितपुर तहसीलों में सहरिया जनजाति के व्यक्तियों की संख्या अधिक है।<sup>11</sup> सहरिया हिन्दू देवी-देवताओं जैसे राम, कृष्ण, हनुमान एवं भवानी आदि की भक्ति करते हैं। यह सूर्य, चंद्र एवं गाय की पूजा करते हैं। स्थानीय हिन्दुओं की भाँति अधिकांशतः हिन्दू त्योहार मनाते हैं। स्वभाव से ये सीधे, सरल तथा निष्कपट होते हैं। चोरी नहीं करते। सुबह से ही अपने पेट भरने की तलाश में लकड़ी काटने, जड़ी-बूटियाँ बटोरने, शहद इकट्ठा करने, खण्डा (पत्थर) काटने या मजदूरी करने निकल जाते हैं और रात्रि 7-8 बजे घर पहुँचते हैं। रात में खेतों की रखवाली का काम भी ढबुआ (छप्पर का गुंबदनुमा घर) अथवा टपरिया (लकड़ियों एवं पत्तों/पुयाल से बना घर) डालकर करते हैं। खुन्ता (खूँटानुमा) से कृषि-कार्य करते हैं। इनको फटेहाल देखकर कहना पड़ता है कि फटे एवं मैले कपड़े पहनना इनकी मानो नियति है।

सहरिया जनजाति में गोत्रों का बड़ा महत्व है। 14-15 वर्ष की आयु में प्रायः लड़के-लड़कियों का विवाह हो जाता है। इनके प्रमुख गोत्र हैं- सनोरया, नकटेले, रजौरया, सुरबइया, सड़ोरिया, उमरिया, सोलखिया, डांगिया, खड़इया, मसूरिया आदि। गोत्रों के हिसाब से ही यह शादियां करते हैं, किन्तु दहेज का लेन-देन नहीं करते। इनमें विधवा विवाह चलते हैं। पुत्र या पुत्री के जन्म पर समारोह मनाते हैं। अत्यधिक परिश्रमी एवं दरिद्र होने के बावजूद आमोद-प्रमोद में भी रुचि लेते हैं। सहरिया पुरुष नृत्य भी जानते हैं। वाद्यों की धुनों पर स्त्रियों के वस्त्र धारण करके यह बहुत अच्छा पारंपरिक नृत्य करते हैं। इनकी स्त्रियाँ अच्छी गायिकाएं होती हैं, किन्तु उनका नृत्य वर्जित है।<sup>12</sup> मध्यभारत के इतिहास के लेखक हरिहरनिवास द्विवेदी ने इन्हें 'प्राचीनतम पृथ्वीपुत्र' कहा है।<sup>13</sup>

सहरिया जनजाति लोकदेवताओं में विश्वास रखती है। इनमें ठाकुरबाबा, घटौरिया बाबा, नारसिंह बाबा, गाड़ीवान बाबा इत्यादि को पूजा जाता है। किसी भी रोग के निदान के लिए सर्वप्रथम ये अपने लोकदेवताओं की

मनौती करते हैं। यह मांसाहारी होते हैं तथा विशेष अवसरों पर मदिरापान भी करते हैं। यह मुर्गा, मछली, भेड़, बकरा, अंडा, पक्षी, खरगोश एवं अन्य जंगली पशु-पक्षियों का मांस खाते हैं। घास की कोटि के जंगली अन्न- फिकार, सामा, कुटकी आदि- खाते हैं। यह अन्न बिना बोए ही उग जाते हैं। सरकार की विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं से इनके जीवन-स्तर में थोड़े परिवर्तन की बात कही जाती है, किन्तु धरातलीय साक्ष्य इसके विपरीत ही हैं। भुखमरी एवं तंगहाली के कारण जब-तब इनकी आत्महत्याओं की खबरें आती रहती हैं। सहरिया जनजाति की बस्तियाँ अलग होती हैं। ये अपना समय अधिकांशतः खेत-जंगल में बिताते हैं। समाज के अन्य वर्गों से इनका सरोकार अत्यन्त सीमित होता है। इनके पास खेती के लिए जमीन पूर्व से ही नहीं थी, उस पर सन् 1919 तथा 1935 के वन संरक्षण अधिनियमों के चलते इनकी वनों से बेदखली ने कोढ़ में खाज का काम कर दिया। इनके सामने रोजी-रोटी का संकट अन्य वर्गों के मुकाबले अधिक है।

ललितपुर की सहरिया जनजाति से संबंधित आंकड़ों के लिए सन् 2011 की जनगणना की प्रतीक्षा रहेगी। सन् 2001 की जनगणना में इनके जिले की अनुसूचित जाति में सम्मिलित रहने से इनके लिंग अनुपात, साक्षरता दर, कामगार संबंधी आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। इनकी कारुणिक ज़मीनी सच्चाई अवश्य हमारी संवेदनाओं को झकझोर देती है।

आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार की मुंडा भाषा सहरिया जनजाति की मूल भाषा है<sup>14</sup> किन्तु वर्तमान में यह भाषा जिले के सहरिया लोगों की भाषा नहीं रह गयी है। इनके उच्चारण और कुछ बुन्देलीतर शब्दों का प्रयोग इनकी भाषा को विशिष्टता प्रदान करता है। सहरिया जनजाति की भाषा एवं ध्वनिगत प्रयोगों को लेकर एक सर्वेक्षण-शोध की आवश्यकता है, जिससे इनकी भाषा और शब्दों की धरोहर को सुरक्षित एवं संरक्षित किया जा सके।

सन्दर्भ स्रोत-

1. [http://www.censusindia.gov.in/Dist\\_File/datasheet\\_0937.pdf](http://www.censusindia.gov.in/Dist_File/datasheet_0937.pdf) searched on 17.09.2009
- 2- <http://lawmin.nic.in/legislative/election...> searched on 17.09.2009
- 3- [http://www.mpgov.in/tribal/TSP\\_Notes.pdf](http://www.mpgov.in/tribal/TSP_Notes.pdf) searched on 7.11.2009
- 4- <http://www.censusindia.gov.in> searched on 17.09.2009
- 5- -do- searched on 17.09.2009
- 6- <http://tribes-of-india.blogspot.com/2008/11/tribes-of-india-saharia-tribe.html> searched on 17.09.2009
- 7- Report on the Antiquities in the District of Lalitpur, Poorno Chandra Mukherjee, page 1, Indological Book House, 1972
8. बानपुर विविधा, संपादक डॉ राकेश नारायण द्विवेदी, पृष्ठ 177, प्रकाशक पं० जानकी प्रसाद द्विवेदी स्मृति सेवा समिति छिल्ला (बानपुर) जनपद ललितपुर 2008
9. <http://en.wikipedia.org/wiki/saharia> searched on 17.09.2009

10- <http://baran.nic.in/saharia2.htm> searched on 17.09.2009

11. ललितपुर जनपद के स्थान-नामों का भाषावैज्ञानिक अनुशीलन (यूजीसी की अप्रकाशित लघुशोध परियोजना), डॉ राकेश नारायण द्विवेदी, पृष्ठ 53 प्रकाशित स्थान नाम समय के साक्षी, जानकी प्रकाशन 2012 isbn 9788190891226

12. उत्तर प्रदेश जिला गजेटियर्स ललितपुर, प्रमुख संपादक डॉ वीरेन्द्र सिंह, जिला गजेटियर्स विभाग उ०प्र० शासन लखनऊ, 1997

13. उद्धृत 'चौमासा' , जुलाई-अक्टूबर 2008, संपादक डॉ कपिल तिवारी, वर्ष 24 अंक 77 आदिवासी लोककला एवं तुलसी साहित्य अकादेमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद् भोपाल

14. <http://tribes-of-india.blogspot.com/2008/11/tribes-of-india-saharia-tribe.html> and [http://www.indianetzone.com/9/saharia\\_tribe.htm](http://www.indianetzone.com/9/saharia_tribe.htm) searched on 17.09.2009

बुंदेली बसंत 2010 संपादक डॉ बहादुरसिंह परमार आइएसएसएन 09758011 में प्रकाशित

## तुलसी की भक्ति: श्रीरामचरितमानस के संदर्भ में

भक्ति 'भजसेवायाम्' अर्थ को अनुस्यूत करता हुआ शब्द है। इसे इस प्रकार कहा गया है 'भक्ति: सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् जिसकी ईश्वर में अनुरक्ति हो, वह भक्ति है।

गोस्वामी तुलसीदास ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम को अवतारी राम के रूप में चित्रित किया है। तुलसीदास भक्तिकाल की सगुण काव्य परंपरा के प्रमुख कवि हैं। तुलसीदास भक्त और कवि दोनों रूपों में हमारे सम्मुख आते हैं, परंतु उन्होंने स्वयं को कवि नहीं कहा। वह कहते हैं-

नानापुराण निगमागम सम्मतं यद्

रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।

स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा

भाषा निबंध मति मंजुल मातनोति।।

तुलसी ने विभिन्न पुराणों और शास्त्रों का पारायण किया और अपने मानसिक सुख के लिए उन्होंने इसे भाषा में निबद्ध कर दिया। उन्होंने मानस में ही लिखा है-

कवि न होउं नहि चतुर कहावउं। मति अनुरूप राम गुन गावउं।

इस प्रकार उन्होंने अपने कविरूप को अस्वीकार कर अपने को भक्त ही माना है, किंतु तुलसी जितने निष्ठावान और ऊंची कोटि के भक्त हैं उतने ही बड़े वह कवि भी हैं। रामानंद के बीज मंत्र 'राम' को कबीर जहां निर्गुण भक्ति के अंतर्गत चरितार्थ करते हैं, गोस्वामीजी ने उसे सगुण भक्ति में जिया और आचरित किया है। भक्तिकाल में सूरदास ने जहां ईश्वर के लोकरंजक रूप पर अपना ध्यान केंद्रित करते हुए लीलाधर कृष्ण को अपना चरित नायक बनाया, वहां तुलसी ने उसके लोकरंजक और लोकरक्षक, दोनों रूपों पर अपने को समान रूप से केंद्रित किया है। लोकरक्षक को ही लोकमंगल कहा गया है।

लोकमंगल की भावना में मानव अपने संपूर्ण स्वार्थों का परित्याग कर देता है। 'सर्वे भवंतु सुखिनः' और 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना उसके लिए सर्वोपरि होती है। 'सबमें हम' और 'हममें सब' यहां एक दूसरे में समाहित हो जाते हैं। 'लोकमंगल' की भावना में तुलसी की दृष्टि केवल धार्मिकता की ओर न होकर नैतिक जीवन मूल्यों की ओर भी थी। तुलसी के राम इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं-

विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार।।

गोस्वामीजी ने मानस में भक्ति के सभी नौ रूपों का विस्तृत चित्रण किया है। अरण्यकांड में शबरी प्रसंग में वह नवधा भक्ति का सांगोपांग विवेचन करते हैं। तुलसीदासजी भक्ति और ज्ञान को भवसागर पार करने का माध्यम मानते हैं। तुलसी समन्वयवादी कवि हैं, उन्होंने तत्कालीन समाज में निर्गुण-सगुण, भक्ति-ज्ञान, शैव-शाक्त, गार्हस्थ-वैराग्य, अवधी-संस्कृत भाषा इत्यादि दो विरोधी प्रचलित पराकोटियों का समन्वय करने का अभूतपूर्व कार्य किया। उन्होंने लिखा है-

जानिहि भगतिहि नहि कछु भेदा। उभय हरहि भव संभव खेदा।।

ज्ञान की अगमता और उसकी बाधाओं के चलते उन्होंने भक्ति को ही जनसामान्य के लिए उपयोगी बताया है। भक्ति में किसी आडंबर और पाखंड को उन्होंने कोई स्थान नहीं दिया। भक्ति का सरलतम रूप नामस्मरण है। उन्होंने कहा है-

राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ सकल अघ खग गुन बधिका।।

राम और उनके चरित्र को केन्द्र बिंदु बनाते हुए गोस्वामीजी ने भारतीय समाज को भक्ति और आदर्श का एक सबल ग्राह्य आधार प्रदान किया।

तुलसी के राम व्यक्ति नहीं हैं। वे व्यक्तित्व नहीं है। तुलसी के राम व्यक्ति न होकर एक मूल्य हैं और इस प्रकार मानस कथा न होकर नैतिक मूल्यों की अवधारणा की स्थापना है। राम की यह चेतावनी और सिद्धांत दोनों हैं कि -

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि लोकतंत्र की बुनियादी आवश्यकता नैतिक शुभ मूल्य की जीवन में स्थापना है और तुलसी का रामचरितमानस इन शुभ मूल्यों की प्रतिष्ठा का एकमात्र संकल्पबद्ध प्रयास है।

27 नवंबर-18 दिसंबर 2007 तक गोवा विश्वविद्यालय गोवा में रिक्रेशर कोर्स में वीडियो रिकार्ड प्रस्तुति

## 28

### व्यक्ति नामों का अध्ययन और सूचना प्रौद्योगिकी

भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्ति नाम किसी भाषा के व्याकरणिक और सामाजिक प्रयोग क्षमता संपन्न शब्द होते हैं। शब्दों के समान इनका भी कोई एक निश्चित अर्थ होता है। व्यक्ति नामों के अध्ययन से संब; भाषा-भाषी समाज की विशेषताओं को समझा जा सकता है। व्यक्ति नामों से समाज की दशा, धर्म, जाति, संप्रदाय आदि के बारे में संकेत प्राप्त होते हैं तथापि, व्यक्ति नामों या अभिधानों के बारे में व्यक्त किए गए जी आर स्टेवर्ट नामक विद्वान के इस मत से असहमत नहीं हुआ जा सकता कि 'व्यक्ति अभिधान कोई एक शब्द या कुछ शब्दों का वह समूह है जो किसी एक व्यक्ति के समग्र अस्तित्व का द्योतक होता है तथा उसके द्वारा संबंधित व्यक्ति विशेष के गुणों और लक्षणों का अनिवार्य रूप से बोध नहीं होता।' लोकोक्ति भी है-

अमरसिंह को मरते देखा मांगत देखे धनपतराय।

लक्ष्मी कंडा बीनत देखीं भले बने मेरे ठनठनराय।।

कदाचित् इसी कारण विलियम शेक्सपियर ने अपने किसी नाटक ग्रंथ में कहा है 'नाम में क्या रखा है' किंतु व्यक्ति का रूप उसके नाम के अधीन है और नाम के बिना रूप का ज्ञान नहीं हो सकता; जैसा श्रीरामचरितमानस में कहा गया है- देखिअहिं नाम रूप आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना।।

नामों के संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार भी दृष्टव्य हैं 'विशिष्ट से सामान्य और सामान्य से विशिष्ट बनने वाले नामों की भी एक कहानी होती है। कहीं किसी इष्ट का प्रसाद मानकर नाम रख दिया जाता है और कभी किसी घटना के संदर्भ में कोई नाम रख दिया जाता है।'

व्यक्ति नामों का अनुशीलन विदेशों में 'एंथ्रोपोनेमी' विधा के अंतर्गत हुआ है। Anthroponymy is the study of personal names. This word is derived from the Greek words 'anthropos' which means man, mankind or person and 'onoma' which means name as detailed given- Personal names, Surnames, Clan names, Patronyms, Tekonyms, Nicknames, Ethnonyms.



अपने देश में व्यक्ति नामों पर कार्य स्वल्प ही हुआ है। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम टंपल ने 1883 ई में पूर्वी पंजाब के सभी धर्मों के ग्रामीण नामों पर कार्य किया। 1952 में डॉ धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में श्री विद्याभूषण 'विभु' का 'हिंदी प्रदेश में प्रचलित पुरुष नाम' एक शोध प्रबंध इलाहाबाद विश्वविद्यालय में स्वीकृत है जो 1958 में हिंदुस्तानी अकेडमी द्वारा 'अभिधान अनुशीलन' नामे प्रकाशित हुआ। इससे पूर्व श्री एच डी सांकलिया ने 1949 में गुजरात के अभिलेखीय व्यक्ति नामों का अध्ययन किया। 1963 में डॉ वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाणिनिकालीन मनुष्यों व स्थानों के नामों पर समीक्षात्मक प्रकाश डाला है। बंगाली नामों का निर्वचन 1966 में श्री भवतरण दया ने कोलकाता विश्वविद्यालय में स्वीकृत अपने शोध प्रबंध ए लिग्विस्टिक स्टडी आफ पर्सन नेम्स एंड सरनेम्स इन बंगाली में किया है। हिंदी क्षेत्र में डॉ शिवनारायण खन्ना द्वारा 1978 में हिंदी साहित्यकारों के उपनामों का अध्ययन किया गया है।

व्यक्ति नामों का स्रोत भाषा है। किसी प्रदेश या अंचल के व्यक्ति नाम संबद्ध बोली या भाषा के प्रतिबिंब हुआ करते हैं। उदाहरण के लिए कृष्टि शब्द बंगाल में संस्कृति के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता रहा है। अमरकोश में इसका अर्थ है पंडित, अमरकोश में पंडित शब्द के बंधु पर्याय दिए गए हैं। इसके अन्य अर्थ हैं- उत्कृष्ट, खनन, कर्षण। मेदिनीकोश में कृष्टि के दो अर्थ हैं पुल्लिंग में बुध अर्थात् बुद्धिमान तथा स्त्रीलिंग में इसका अर्थ है आकर्षक, वहीं हिंदी तथा उसकी बोलियों में यह शब्द अप्रचलित और अमान्य है। हमारे देश में व्यक्ति नाम सामाजिक पद्धतियों, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परंपराओं पर आधारित हैं। ये हमारी संस्कृति, धार्मिक सजगता, परंपरा, रीति रिवाज, विविध नैतिक मर्यादाओं, सौंदर्य बोध, जातीय इतिहास और परिवर्तित सामाजिक दृष्टिकोण को परिलक्षित करते हैं। व्यक्ति नामों के अनुशीलन से अनेक रोचक, दिलचस्प एवं महत्वपूर्ण पहलू उजागर हो सकते हैं।

हमारे विविध भाषी और अनेक नामधर्मी देश में शोधकार्यों की वर्तमान स्थिति और उनकी रोचकता, महत्ता और उपयोगिता को देखते हुए व्यक्ति नामों का निर्वचन और विश्लेषण करने की आवश्यकता समूचे भारतीय साहित्य में बनी हुई है। आशा है हमारे विद्वानों का ध्यान निकट भविष्य में इस दिशा की ओर आकृष्ट होगा जिससे व्यक्ति नामों को केंद्र में रखकर हम अपने देश की सभ्यता और संस्कृति के अनेक अनछुए प्रश्नों तक पहुंच सकें।

व्यक्ति नामों की विभिन्नता और अनेकरूपता को समझने के लिए जिला गजेटियर्स, मतदाता सूचियों, परिवार रजिस्ट्रों, जिला आपूर्ति कार्यालय इत्यादि की पंजिकाओं को उपलब्ध करने के लिए जिस श्रम, समय और धन की आवश्यकता होगी, उसे पूरा करने के लिए वर्तमान युग में सूचना प्रौद्योगिकी सहायक हो सकती है। विभिन्न नामों को जानने और उनसे संबंधित अनेक जानकारियां अब हमसे बस एक क्लिक ही दूरी पर हैं। सूचना प्रौद्योगिकी एक ज्ञानात्मक संवेदन है और इसके द्वारा हम संवेदनात्मक ज्ञान की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

18 नवंबर से 15 दिसंबर 2004 तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी में आरियंटेशन कोर्स में प्रस्तुत

## 29

### स्थान नामों का अर्थतात्विक विवेचन

‘नाम’ की व्युत्पत्ति हलायुध कोश के अनुसार ‘म्नायते अभ्यस्यते यथात्’ अर्थात् जिसे बार-बार दोहराया जाय (म्ना- अभ्यास करना)<sup>1</sup> वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत हिंदी कोश में भी ‘नाम’ की परिभाषा इसी प्रकार दी गई है- ‘म्नायते अभ्यस्यते नम्यते अभिधीयते अर्थोनेन वा’ अर्थात् जिससे किसी को पुकारा जाय या अर्थ ग्रहण किया जाय।<sup>2</sup>

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में ‘नाम’ की व्यापक परिभाषा है- ‘नाम वह शब्द अथवा लघु शब्द समूह है, जो किसी समूह अथवा इकाई विशेष के समूचे अस्तित्व अथवा सत्ता की ओर संकेत करता है। यह आवश्यक नहीं कि वह उसके गुण विशेष को भी इंगित करे।’<sup>3</sup>

‘नाम’ शब्द की ही भांति कल्पित और यादृच्छिक होते हैं, फिर भी यह समाज के लिए अनिवार्य हैं। उसके बिना मानव समाज का न तो संगठन ही संभव है, न कोई अन्य कार्य ही चल सकता है।<sup>4</sup>

डॉ विद्याभूषण विभू, डॉ लक्ष्मीनारायण शर्मा सहित पाश्चात्य भाषा शास्त्री ए गार्डिनर जैसे विद्वानों के एक वर्ग का मानना है कि ‘नाम’ और शब्द एक ही हैं। शब्द ही नाम है किंतु विद्वानों के दूसरे वर्ग का मानना है कि नामों की निर्मिति हमारे चिरपरिचित शब्दों से तो होती है, परंतु शब्द जब एक बार ‘नाम’ के रूप में प्रयुक्त होते हैं, तब वे शब्द नहीं रह जाते। ‘नाम’ संकेतार्थक होते हैं, जबकि शब्द स्वगुणार्थक।

शब्द विज्ञान (Etymology) जिसमें शब्दों की व्युत्पत्ति का अध्ययन किया जाता है, भाषा विज्ञान की एक शाखा है। शब्द विज्ञान की उपशाखा नाम विज्ञान (Onomastics or Onomatology) है। इसी नाम विज्ञान की शाखा स्थान नाम विज्ञान (Toponymy or Toponomastics) है। नाम विज्ञान की एक अन्य शाखा व्यक्ति नाम विज्ञान (Anthroponomastics) है।

यहां हमारा प्रतिपाद्य स्थान नामों का अर्थतात्विक विवेचन करना है, हम ललितपुर जनपद के स्थान नामों को केंद्र में रखकर इसे पूरा करेंगे। स्थान नामों की उत्पत्ति में अनेक राजनीतिक, सामाजिक और वैयक्तिक कारण होते हैं।<sup>5</sup> स्थान नाम विज्ञान एक साथ भाषा-भूगोल, व्युत्पत्ति शास्त्र तथा कोश विज्ञान को स्पर्श करता है, क्योंकि

इसके द्वारा जहां एक ओर देशीय संस्कृति, क्षेत्रीय भाषिक विशेषताएं और बोली भूगोल के अनुसार विवरण प्राप्त होता है, वहीं शब्दों की व्युत्पत्तियों के माध्यम से उस भाषा का कालक्रमानुसार ज्ञान प्राप्त होता है।<sup>6</sup>

ललितपुर जिले के स्थान नाम अर्थ तत्व के धरातल पर समग्र से एक की ओर उन्मुख हुए हैं-

समग्र- खिरिया

बम्होरी

पुरा

खैरा

एक या विशिष्ट-

खिरिया मिश्र

बम्होरी सर

पुरा धंधकुआ

खैरा डांग

पठा गोरी

उपर्युक्त प्रथम वर्ग में अंकित स्थान नामों में अर्थगत समग्रता है। खिरिया का अर्थ क्षेत्र, बम्होरी का ब्रह्मा और विष्णु, पुरा का अर्थ प्राचीन बस्ती, खैरा का एक अर्थ खदिर तथा एक अन्य अर्थ भी है, जिस बछड़े को शकट (बैलगाड़ी) आदि में जोतने के लिए बधिया करते थे, वह पूरा जवान होने पर उक्षा और अधेड़ अवस्था का होने पर उक्षतर कहा जाता था। उक्षतर से हिंदी का 'खैरा' शब्द बना। (उक्षतर-उकखयर-उखड़र-खड़रअ-खैरा)<sup>7</sup>

दूसरे वर्ग में इन स्थान नामों के साथ विभेदक संयुक्त हो गए, जिससे उनका 'समग्र' अर्थ 'विशिष्ट' अर्थ में परिवर्तित हो गया। प्रारंभिक दशा में 4-6 घरों की बस्ती के लिए 'खिरिया' पद पर्याप्त था, पर किसी जाति के आस्पद विशेष व्यक्ति की यश पिपासा के कारण खिरिया पद के साथ विभेदक मिश्र संयुक्त हो गया और स्थान नामों के रूप में खिरिया मिश्र समग्र पद अस्तित्व में आ गया। प्रथम वर्ग से द्वितीय वर्ग में अर्थतत्व सूक्ष्म हो गया। इसी प्रकार सरोवर, कामधंधा (इस गांव में गौरा पत्थर की खदानें हैं), जंगल और किसी युवती के कारण दूसरे वर्ग के स्थान नाम खिरिया मिश्र के बाद क्रमशः बम्होरी सर, पुरा धंधकुआ, खैरा डांग और पठा गोरी हुए।

ललितपुर के कुछ स्थान नामों की रूप रचना विभेदकों के अतिरिक्त मात्र प्रत्ययों के योग से भी हुई है-

साहित्यिक शोध में समय, समाज और संस्कृति

- क- व्यक्तिबोधक- बानौनी, पड़वां क्रमशः बाणासुर और पांडव  
ख- पदार्थबोधक- निवारी, गेंदोरा क्रमशः निमौरी और गेंद  
ग- जलाशयबोधक- झरर, अंडेला क्रमशः झरना और अरण्य सर  
घ- गुणबोधक- सतगता (सद्गति)  
च- भूमिदशाबोधक- पठरा, टौरिया क्रमशः पठार और छोटी पहाड़ी  
छ- वृक्षबोधक- कैथोरा, ऊमरी क्रमशः कैथ और गूलर  
ज- जातिबोधक- सौरई, बमनौरा क्रमशः सहरिया और ब्राह्मण  
झ- वनस्पतिबोधक- खेरी, कपासी क्रमशः खैर और कपास  
ट- पशुबोधक- भैंसाई, रिछा क्रमशः भैस और रीछ  
ठ- पक्षीबोधक- सुकाड़ी, चकोरा क्रमशः तोता और चकोर  
ड- अवस्थाबोधक- जरया, बूढ़ी (बुढ़ापा)  
ढ- विपन्नताबोधक- भैरा, पीड़ार  
ण- चंद्रमा संबंधी- चांदरो, चंदेरा

स्थान नामों में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक अर्थों का सन्निवेश होता है, यथा-

- क- सर्पपूजक शिल्पी- कुरु के नाम पर कुरौरा  
ख- मौर्यवंश- मैरती  
ग- मेव(तुगलककालीन एक आतंकवादी)- महोली  
घ- वाकाटक तथा गोंड- तालबेहट, बालाबेहट  
च- प्रतिहार- पहारी  
छ- कल्चुरि- कलौथरा

पिपरिहा शाब्दिक अर्थ में पीपल से संबंधित है, पर यह राजपूतों की एक शाखा या अल्ल है।<sup>8</sup> ललितपुर जनपद में पिपरई, पिपरौनियां आदि स्थान नाम मिलते हैं।

इस प्रकार स्थान नामों का अध्ययन हमें अनेक मौलिक स्थापनाओं और निष्कर्षों की संभावना प्रदान करता है।

संदर्भ-

- 1- हलायुध कोश, उद्धृत नाम विज्ञान, डॉ चितरंजन कर, पृ 40 विवेक प्रकाशन रायपुर प्रथम संस्करण 1982
- 2- संस्कृत हिंदी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1969 पुनर्मुद्रण 1997
3. A name may be defined, broadly, as a word or small group of words indicating a particular entity in its entirety without necessarily or essentially indicating any special quality of the entity. - Encyclopaedia Britannica Vol. 15, P.1156 उद्धृत 'उपनाम: एक अध्ययन, डॉ शिवनारायण खन्ना, पृष्ठ 1-2 30प्र0हिंदी संस्थान, लखनऊ
- 4- अभिधान अनुशीलन, डॉ विद्याभूषण विभु, पृ 11-12 हिंदुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1958
- 5- पाणिनिकालीन भारतवर्ष, डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ 37 चौखंबा प्रकाशन वाराणसी तृतीय संस्करण 1996
- 6- शब्दश्री, डॉ कैलाशचंद्र भाटिया, पृ 143, प्रभात प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण 1984
- 7- पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ 215-216
- 8- www.pustak.org के शब्दार्थानुसार
- 11 फरवरी से 3 मार्च 2009 तक चले रिक्रेशर कोर्स में दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली में प्रस्तुत

पुस्तक समीक्षा

## भारतीय लोककलाओं के विविध आयाम

लोककला संरक्षक श्री अयोध्याप्रसाद गुप्त 'कुमुद' के संपादन में संस्कार भारती लखनऊ द्वारा 'भारतीय लोककलाओं के विविध आयाम' सुरुचिपूर्ण पुस्तक सन् 2003 में प्रकाशित हुई है। पुस्तक तीन भागों- लोकचिंता, लोक अभिव्यक्ति तथा लोक साधना- में विभक्त विभिन्न लोकचित्रों द्वारा सुसज्जित है। इसमें देश के लगभग प्रत्येक क्षेत्र के लोकसंगीत, लोकनृत्य, लोकनाट्य, लोकचित्रकला एवं अन्य सांस्कृतिक विधाओं के बारे में प्रसिद्ध कलाविदों के जानकारीपरक, सारगर्भित एवं लोकमहत्व के लेख संकलित हैं।

आज जब हमारी संस्कृति पर चतुर्दिक हमले हो रहे हैं। अपसंस्कृति की बौछार हो रही है। कला के नाम पर भोंड़े, विद्रूप और अश्लील प्रदर्शनों द्वारा सांस्कृतिक प्रदूषण फैलाया जा रहा है। कला के नाम पर ही चलचित्र और टेलीविजन लोकमान्यता प्राप्त कर रहे हैं। ऐसे में इस प्रदूषण से कैसे निबटा जाए? संपादक की दृष्टि में यह यक्ष प्रश्न है।

लोकचिंता नामक प्रथम भाग में लोक और उसकी अवधारणा पर विचार किया गया है। लोक शब्द के दो अर्थ हैं- धातुज अर्थ में 'देखने वाला' तथा रूढ़िगत अर्थ में 'सामान्य लोग' । लोक फोक नहीं है और न यह ग्राम्य मात्र। इसमें नागर और ग्रामीण दोनों विधाएं आती हैं। 'लोककलाएं मृत वस्तु या इतिहास के पृष्ठ नहीं हैं अपितु वे जीवित संदर्भ कोश हैं।' इनके द्वारा व्यक्ति अतीत बोध प्राप्त करने के साथ-साथ जीवंत और प्रभावकारी बनता है।

पुस्तक के लोक अभिव्यक्ति नामक दूसरे भाग में लोककला के विविध पक्षों के देशव्यापी प्रचलित स्वरूपों का वर्णन है। इस क्रम में सर्वप्रथम साहित्य के नोबल पुरस्कार विजेता एकमात्र भारतीय साहित्यकार गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की लोकाभिव्यक्ति को एक विद्वान लेखक द्वारा वर्णित किया गया है। गुरुदेव टैगोर ने अपनी रचना सामग्री भले ही उपनिषदों तथा प्रतीच्य साहित्य से ली हो, पर इसमें बंगाल के लोकसाहित्य, लोककलाओं और लोकसंगीत का योगदान कम न था। उनके योगदान के महत्व को उनके ही नाम पर चली संगीत विधा 'रवींद्र संगीत' से समझा जा सकता है। विद्वान लेखक के अनुसार लोक साहित्य, लोक संगीत और लोक कला को लोग मां के दूध के साथ पीते हैं। बचपन की स्मृतियों को लोरी गीतों के सहारे भली भांति समझा जा सकता है। टैगोर के कथन को लेखक

ने प्रस्तुत किया है कि 'हमारे अलंकार शास्त्रों में नौ रसों का उल्लेख है, पर लोरियों में जो रस प्राप्त होता है, वह शास्त्रोक्त रसों के अंतर्गत नहीं है। अभी-अभी जोती हुई जमीन से जो गंध निकलती है या शिशु के नवनीत कोमल देह से जो स्नेह को उबाल देने वाली गंध है, उसे फूल, चंदन, गुलाबजल, इत्र या धूप की सुगंध के साथ एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। सभी सुगंधों के मुकाबले उसमें जो अपूर्व आदिमता है, उसी प्रकार की आदिम सुकुमारता लोरियों में है। इसकी मधुरता को बाल्यरस नाम दिया जा सकता है। वह तीव्र नहीं है, गाढ़ा नहीं है, वह बहुत ही स्निग्ध और सरस किंतु युक्ति तथा संगीत से हीन है।

कहावत संबंधी एक लेख में कहा गया है कि कहावतें समाज के अनुभवों को अनुस्यूत किए हुए विशेष कथन होते हैं। इनको संपादक-लेखक द्वारा दी गई संज्ञा 'लोकजीवन के नीतिशास्त्र' समीचीन ही है। कहावतों में व्यक्त अनुभव किसी एक क्षेत्र के निवासियों के ही नहीं होते, इसीलिए एक क्षेत्र की कहावतों को भाषा और शब्द-भेद से अन्य क्षेत्रों में भी सुना जाता है।

इस भाग के अन्य लेखों में लोकपर्वों, उत्सवों, व्रतों और लोकचित्रों की विवेचना की गई है। लोकचित्रों के प्रतीकात्मक महत्व को लोग आज की चकाचौंध की आक्रामक संस्कृति में भुला बैठे हैं। इन चित्रों में प्रकृति पूजा द्वारा पर्यावरण संरक्षण, जीव-जंतु व पशु-पक्षियों की आकृतियों द्वारा ऐश्वर्य, शक्ति, दृढ़ता, गति, प्रेम, संपन्नता आदि संदेश सन्निहित हैं। ऐसे ही संदेशपूर्ण चित्रों के कारण मधुबनी की चित्रकला को विश्वव्यापी प्रसिद्धि मिली हुई है।

लोक नृत्य पर लिखे लेखों में लोकनृत्य को आंचलिक जीवन की आनंद और उल्लासपूर्ण मादक अभिव्यक्ति माना गया है। लोक नृत्य में विचित्र सम्मोहन, शिशु का सा उल्लास और यौवन की मादकता रहती है। इनकी सरलता और सृजनशीलता जनसमुदाय को आंतरिक एकसूत्रता में निबद्ध कर लेती है। पाषाणकालीन शैलचित्रों के लेखों में संबंधित चित्र पुस्तक की सुंदरता में अभिवृद्धि करने के साथ ही मूक कहानियां सुनाने का आनंद देते हैं जो बच्चों को दिशाभ्रष्ट और कल्पनाशून्य कर देने वाले हिंसक कार्टूनों से कहीं अधिक उपादेय और मार्गदर्शनकारी हैं।

इस प्रकार पुस्तक का यह भाग कश्मीर से कन्याकुमारी और उड़ीसा के राज्यों से लेकर गोवा तक के क्षेत्रों के लोक साहित्य, लोक संगीत, लोक नाट्य, शैलाश्रय चित्र, लोक चित्रकला के विविध स्वरूपों का दिग्दर्शन कराता है।

पुस्तक का अंतिम और महत्वपूर्ण भाग है लोक साधना। इसमें लोककला की प्रासंगिकता और उसकी अस्तित्व रक्षा पर समकालीन विचारकों एवं कलाविदों द्वारा विचार किया गया है। वस्तुतः यह प्रश्न देश के वृहत्तर सरोकारों से संबंध रखता है। इसके समाधान द्वारा भारतवर्ष की खुशहाली देखी जा सकती है। भूमिका में संपादक द्वारा उठाए गए इस यक्ष प्रश्न का उड़ीसा देने का प्रयास इस भाग में हुआ है। 'सांस्कृतिक प्रदूषण से मुक्ति के लिए इन लोककलाओं को संजीवनी के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। प्रदूषित संस्कृति के कार्यक्रमों के विकल्प के रूप में इनका प्रदर्शन और प्रस्तुतीकरण उपयोगी होगा। इन लोककलाओं तथा उनकी विविध कला शैलियों का प्रचार-प्रसार, संवर्द्धन एवं पोषण एक सामयिक आवश्यकता है।' ' ' ' ' ' ' लोककलाएं राजाश्रय नहीं, लोकाश्रय

चाहती हैं। वे अनपढ़ शिलाखंडों की तरह ऊबड़-खाबड़ मार्ग और परंपरा के गतिमान प्रवाह के थपेड़ों से टकराकर 'शालिग्राम' बन जाती हैं। उनके साधक भी वंदनीय बन जाते हैं। इसीलिए लोक में कलासाधकों के सम्मान की गरिमामयी परंपरा है।'

पुस्तक के प्राक्कथन एवं प्रथम भाग में लेखकों द्वारा लोक को अंग्रेजी के फोक शब्द से जोड़कर देखा गया है, किंतु फोक और लोक में रिलीजन और धर्म जैसा अंतर है। लोक कला का अनुवाद फोक आर्ट्स के रूप में नहीं, वरन् लोकसभा, लोकनायक, लोकमान्य जैसे शब्दों की तरह (जिनके अनुवाद प्रचलित नहीं हैं) ही यथावत् किया जाना उपयुक्त होता। लोककला शब्द में व्यापकता, मंगलमयता और शुभता की ध्वनि प्रकट होती है।

यह सजिल्द ग्रंथ 191 पृष्ठों में मुद्रित रु0 250/- मूल्य का है। पुस्तक के पन्नों का आकार कुछ बड़ा हो गया है। कदाचित् लोकचित्रों को साथ में प्रकाशित करने और तकनीकी अगमता के कारण ऐसा हुआ हो। पुस्तक की वर्तनी त्रुटियां खिन्न करती हैं, पर वे स्वल्प ही हैं। अंग्रेजी लेखों का रूपांतर नहीं होने से हिंदी भाषियों को अस्वाभाविकता हो सकती है। कुछ स्वर्गवासी साहित्यकारों के लेखों के स्रोत दिया जाना उपयुक्त होता।

अंत में कहा जा सकता है कि यह पुस्तक इतिहास, साहित्य और ललितकलाओं तथा रंगमंच के शोधेच्छुओं के लिए समादृत एवं संग्रहणीय होगी।

यह समीक्षा 2003 के अंतिम महीनों में लिखी गई, पुस्तक संपादक ने इसे अपने पास प्रकाशित कराने हेतु रख लिया था, कहीं प्रकाशित हुई या नहीं; ज्ञात नहीं है।



पुस्तक समीक्षा

### प्रतिप्रश्न- एक पुरुषवादी पीड़ा

स्त्री पुरुष के दहकते प्रश्नों से टकराता हुआ 'प्रतिप्रश्न' सुरेंद्र नायक का पहला उपन्यास है। इसमें लेखक ने समाज में फैले स्वैराचार एवं स्वच्छंदता का बेबाक चित्रण किया है। यह उपन्यास हिंदी साहित्य में चल रहे स्त्री विमर्श के अनसुलझे सामाजिक प्रश्नों को उठाता है। उपन्यासकार ने कथा की नायिका निधि के माध्यम से एक ऐसी स्त्री का चित्र खींचा है जो समाज के पितृसंवात्मक स्वरूप को चुनौती देती है। वह महिला खुलेपन की हामी है। जिंदगी को वह अपनी तरह से जीती है, पर पुरुषों से दैहिक संबंध स्थापित करने में उसे कुछ भी अमर्यादित एवं गैर पारिवारिक नहीं लगता। निधि अपने पति डॉ रत्नेश के सहयोग से अपनी पढ़ाई पूरी करती है और जिस महाविद्यालय में रत्नेश प्राचार्य है, उसी में सहायक प्रोफेसरी हासिल करती है। इसी प्रसंग में शिक्षा-व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार का भी चित्रण हुआ है कि किस तरह नियुक्तियों में रिश्वतखोरी चलती है। डॉ निधि के स्वैराचारी जीवन का अंत भी तनाव, कुंठा, अधूरापन एवं अतृप्ति में होता है।

दूसरी ओर निधि का पति रत्नेश पारंपरिक भारतीय मानसिकता का प्रतीक है। निधि और रत्नेश दोनों जमींदार परिवारों से आते हैं। जमींदारी हनक और इसके समाप्त होने का प्रलाप उपन्यास में वर्णित है। रत्नेश जमींदार परिवार से आने के बावजूद शोषक और दमनात्मक नहीं है, अपितु उसकी प्रकृति सहयोगी है। वह अपने महाविद्यालय के छात्रों की हर तरह से सहायता करता है। उसे निधि के दहकते प्रश्नों से तब जूझना पड़ता है जब निधि रत्नेश के पौरुष को ललकारती है और इस आधार पर अन्य पुरुषों से संबंध बनाने की छूट लेती है। तब रत्नेश प्रश्न करता है कि यदि उसमें पौरुष की कमी है तो क्या विजय, संता और रंजन में भी पौरुष की कमी है, क्या वे भी पूरे मर्द नहीं हैं? आखिर उसे कितने मर्द और चाहिए? यहां वस्तुतः उपन्यासकार स्त्रियों द्वारा पुरुषों के प्रति किए जा रहे भावनात्मक दोहन को रेखांकित करना चाहता है।

स्त्रियों द्वारा पुरुषों को दिए जा रहे ऐसे उलाहनों और छलावों को स्वयं स्त्रियां भी अपने साहित्य में चित्रित कर रही हैं। एक जर्मन लेखिका मार्गिट श्राइनर का उपन्यास 'हाउस फ्राउएन, सेक्स' हिंदी में अमृत मेहता द्वारा अनूदित होकर 'घर, घरवालियां, सेक्स' के नाम से आया है। इस उपन्यास की कथा भूमि भले ही मध्य यूरोप की हो, पर भावबोध और सरोकार पूर्णतः जुदा और सार्वभौमिक हैं। जिस प्रकार श्राइनर का यह उपन्यास समसामयिक रचनाभूमियों की मुख्यधारा का अतिक्रमण करता है, उसी प्रकार 'प्रतिप्रश्न' भी प्रचलित स्त्रीवादी साहित्य को चुनौती देता है। अंतर मात्र रचनाकार के लिंग का है।

हमारे देश में स्त्रियों के पक्ष में सभी तरह के तर्कों को रखकर उन्हें औचित्यपूर्ण बनाया जाता है और ऐसे लोग अपने को प्रगतिशील और धन्य हुआ मानते हैं किंतु मुद्दे का दूसरा पहलू ऐसे 'प्रगतिशील आलोचक' अनसुना कर देते हैं। मार्गिट श्राइनर कहती हैं 'स्त्री को जो अच्छा लगता है, उसे प्राप्त कर लेती हैं और फिर भी न्यायाधीश, परिवार परामर्शदाता, पैरोकार स्त्री का ही पक्ष लेते हैं।

सुरेंद्र नायक के इस उपन्यास 'प्रतिप्रश्न' में भी स्त्री को परनिर्भर, चतुर, स्वतंत्र एवं महत्वाकांक्षी माना गया है। उपन्यास में कथानायक डॉ रत्नेश समर्पित, उदार एवं निष्ठावान व्यक्ति के रूप में चित्रित हुआ है। दिल की बीमारी के कारण निधन होने तक वह कहीं विद्रोही तेवर नहीं दिखाता है और वह पत्नी की स्वच्छंदता को अपनी नियति के रूप में स्वीकार कर लेता है।

इस उपन्यास में रत्नेश और निधि की कहानी के अतिरिक्त कंगना और रंजन की असफल प्रेम कहानी भी दिखाई गई है। कंगना रत्नेश और निधि की इकलौती पुत्री है। वह भी माता-पिता के उच्च शिक्षित परिवार में पली-बढ़ी महत्वाकांक्षी महिला है। बाइस वर्षीय कंगना अपने पिता के महाविद्यालय के ही पचपन वर्षीय एक प्रोफेसर रंजन से प्रेम विवाह करती है। उसे इस अनमेल विवाह पर जल्दी ही पश्चात्ताप होने लगता है, ऐसे में लेकिन जब वह रंजन से पीछा छुड़ाना चाहती है तब उसे अपने पूर्व प्रेमी निमिष का प्रेम और सहकार नहीं मिल पाता।

अनाथ बालक निमिष को कंगना के पिता डॉ रत्नेश ने ही पढ़ाया लिखाया है। कंगना के पिता निमिष से कंगना का विवाह कराना चाहते हैं। कंगना भी यही चाहती है, पर कंगना के कदम अचानक बहक जाने से यह समीकरण गड़बड़ा जाता है। कंगना सिविल सर्विसेज की परीक्षा उपासीर्ण करने का सपना देखती है और प्रशासनिक अधिकारी बनकर अपनी जिंदगी अपनी इच्छा से जीना चाहती है। कंगना से विवाह के पहले रंजन के दैहिक संबंध कंगना की मां से भी रहे हैं। मां बेटी के बीच सौत का यह संबंध त्रासद है। कंगना ऐसे परिवेश से निकलकर स्वयं भी निर्द्वंद्व एवं स्वच्छंद होना चाहती है। उपन्यास में विवाहेतर संबंधों की भरमार है। रचनाकार ने समाज के ऐसे पक्षों की ओर अपनी दृष्टि गड़ाई है, जो समाज का एक समस्यात्मक पहलू है। भौतिकवादी विकास के साथ-साथ समाज में ये स्थितियां भी आई हैं, जिसमें परंपरावादी मूल्य बदल रहे हैं। संबंधों की जड़ता कोई वरेण्य स्थिति नहीं। स्त्री पुरुष के

मध्य परस्पर आकर्षण बना रहे, इसके लिए पुरातनता और आधुनिकता का सामंजस्य जीवन में आवश्यक है। उपन्यास में अवसाद, कुंठा और अतृप्ति को मनुष्य के उन्मुक्त जीवन का प्रतिफल बताया गया है।

उपन्यास में यह दिखाया गया है कि स्त्री द्वारा पुरुषों के भावनात्मक शोषण की समस्या अभी भी समाज के बहुत बड़े हिस्से की समस्या नहीं है। यह उच्च मध्य वर्ग की समस्या है। निम्न और निम्न मध्य वर्ग में विवाहेतर संबंधों का गुप्त प्रचलन है किंतु इसके कारण तनाव और अवसाद जैसी समस्याएं इस वर्ग में नहीं हैं। उच्च वर्ग में स्त्री पुरुष एक दूसरे को काफी व्यक्तिगत स्पेस देते हैं, इसलिए इस समस्या का स्वरूप और स्तर इस वर्ग में काफी अलग होता है।

उपन्यासकार प्रगतिशीलता की कथित चेतना को चुनौती देता है और स्त्री पुरुष के उन शाश्वत प्रश्नों से उलझने की हिम्मत जुटाता है, जिन प्रश्नों से उनका सामना होता है किंतु उनसे वे बचकर निकल जाना चाहते हैं। समाज के इसी दोहरेपन के विरुद्ध उपन्यासकार अपना हथौड़ा चलाता है। उपन्यास की जीवंत एवं क्षिप्र कथावस्तु पाठक को प्रारंभ से अंत तक बांधे रखने में सक्षम है।

कथा में जो लिखा जाता है वह लेखक का होता भी है और नहीं भी। जिस लेखन में पाठक अपना जितना अधिक अक्स देखे, वह उतनी ही सफल रचना कहलाती है। इस उपन्यास का अनुशीलन करते हुए पाठक को अपनी जिंदगी के किसी न किसी कालखंड की कोई प्रतिच्छाया अवश्य दृष्टिगोचर होती है। यहीं पर पाठक लेखकीय पाठ के अतिरिक्त अपना स्वयं का पाठ रचता जाता है। यही उपन्यास की सफलता है।

समीक्ष्य कृति प्रतिप्रश्न, सुरेंद्र कुमार नायक पवनपुत्र पब्लिकेशन लखनऊ, 2011

‘युद्धरत आमआदमी’ जनवरी-मार्च 2012 से साभार

## बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक के हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-विमर्श

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक (1990-2000) में कुछ हिन्दी उपन्यास प्रकाशित हुये हैं, ऐसे उपन्यास हैं- नासिरा शर्मा का शाल्मली (1991), मृदुला सिन्हा का ज्यों मेंहदी कौ रंग (1992) तथा घरवास (1993), मेहरून्निसा परवेज का ढहता कुतुबमीनार (1993), सिम्मी हर्षिता का यातना शिविर (1990), तथा बन्जारन हवा (2000), सुनीता जैन का धूप हरीले मन की (1995), मैत्रेयी पुष्पा का चाक (1997), आवा (1999), मृदुला गर्ग का कठगुलाब (1996)। इसी कालखण्ड में प्रभा खेतान द्वारा अनुवादित फ्रांसीसी लेखिका सीमोन द वोउवार की विश्व चर्चित कृति 'द सेकेण्ड सेक्स' (1949) का हिन्दी अनुवाद 'स्त्री उपेक्षिता (1990) के नाम से आया।<sup>1</sup> यह कृति स्त्री विमर्शकारों की प्रेरणा की केन्द्र बिन्दु बनी है।

इस शोध-पत्र का प्रतिपादन उपर्युक्त कृतियों पर आधारित है। 20वीं शताब्दी के अन्तिम दशक के उपर्युक्त हिन्दी उपन्यासों का मुख्य विषय स्त्री विमर्श है। स्त्रीवादी लेखन में स्त्री अपनी स्वाधीनता की घोषणा करती है। वह स्त्री लेखिका द्वारा स्त्रियों की अनुभूति को लेकर स्त्रियों के लिये किये जाने वाले लेखन को ही स्त्री विमर्श मानती है। इस तरह किसी पुरुष साहित्यकारी द्वारा अथवा महिला लेखिका द्वारा स्त्रियों के विषय में न किया जाने वाला लेखन स्त्री विमर्श नहीं हो सकता।

स्त्री विमर्श में एक वर्ग ऐसा है जो स्त्री की स्वाधीनता का प्रारंभ उसकी देह से मानता है। स्त्री की देह पर मात्र और मात्र नारी का अधिकार है। इसीलिये 'चाक' की रेशमा विधवा होने के बावजूद अवैध संतति को जन्म देने की आकांक्षा पालती है। वह कहती है- 'पेड़ हरा-भरा रहे तो फल-फूल क्यों नहीं लगेंगे' ? क्या ऐसा हो सकता है कि ऋतु आये और वल्लरी न फूले?<sup>2</sup> कठगुलाब उपन्यास में भी स्त्री, प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष करती है, लेकिन एक घरेलू महिला के रूप में पति को उसकी इच्छानुसार भोजन और शरीर लिये हमेशा सन्नद्ध रहती है, जबकि पति

अपनी पत्नी की बहन का भी भोग कर लेता है। उपन्यास की दृष्टि पर सुनीता जैन कहती हैं “.....कठगुलाब जैसी रचना को न हम यथार्थवादी लेखन के फुट्टे से नाप सकते हैं, न उत्तर- आधुनिकता के फतवे देकर अलग कर सकते हैं। यह उपन्यास गहरें आत्मनिरीक्षण का अवसर देकर यह चेतावनी देता है कि नारी को ऊसर करती जा रही सामाजिक व्यवस्था, आत्मघाती नहीं तो क्या है?3

स्त्री विमर्श के अनुसार स्त्री पुरुष और सत्ता के सबसे निकट रहती है, पुरुष उस पर निर्भर भी सबसे अधिक रहता है। अतः वह स्त्री को समाप्त नहीं करना चाहता, वरन् अपने से कमतर दर्जा देकर अपने पास रखता है और उस पर शासन भी करता है। आग में एक ऐसी ही स्त्री नमिता की संघर्षपूर्ण जीवन गाथा कही गयी है। यह दस साल की उम्र में मौसा और बाद में मजदूर आन्दोलन से जुड़ने पर उसके नेता अन्ना साहब के विकृत यौनाचार का शिकार बनती है। घोर आर्थिक संकटों के बीच से नौकरी की तलाश में भटकते देखकर नमिता को दलालों द्वारा संजय कनोई तक पहुंचा दिया जाता है। संजय को विवाहित जानती हुयी वह उसकी गर्भिता बन जाती है किन्तु अन्ना साहब की आकस्मिक हत्या से उसका गर्भस्राव हो जाता है। फिर तो संजय कनोई अहं चीत्कार करते हुये वास्तविकता उगल देता है। “मैं रंडियों से बाप नहीं बनना चाहता था, जिनके लिये बच्चें पैदा करना महज सौदा भर हो और जो अनेकों से सौदा कर चुकी हो, मुझे नहीं गवारा ऐसी किराये की कोख! मुझे सिर्फ उस लड़की से औलाद चाहिये थी, जो पेशेवर न हो, पवित्र हो, जो मुझसे प्रेस कर सके। सिर्फ मेरे लिये मंा बने, सिर्फ मुझसे सहवास करे।4

स्त्री लेखिकाओं के मत से स्त्रियों को प्रेम ने सम्पन्न बनाया है, गुलाम नहीं।:चाक’ की सारंग नैनी अपनी चिन्तन और परिस्थिति से यह दिखाती है कि पति गृह स्वर्ण पिंजर लगने लगे, दूर न रह जायें, तो स्त्री क्या करे? तभी विवाहेत्तर सम्बन्ध बनते हैं तथा विवाह मुक्ति का द्वन्द्व पलता है। क्या यह द्वन्द्व पाप है? लडाई पहले विचारों के धरातल पर जीत जाती है, फिर बाहरी दुनियंा में। वह सोचती है, विवाह ही नारी जीवन का लक्ष्य क्यों हो? क्या स्त्री का अपना स्वतंत्र जीवन नहीं हो सकता? विवाह होने के बाद चयन की उसकी स्वतंत्रता समाप्त क्यों ंहो जाती है? और स्वतंत्र रहकर चयन का अधिकार सुरक्षित कैसे रह सकता है? ग्राम पंचायत के चुनाव में अपने विदेर्ाही और मुखर तेवरों के साथ सारंग नैनी अपनी उम्मीदवारी का पर्चा भर देती है, जिससे गांव भर में तहलका मच जाता है, “रंजीत की बहू पर्चा भर आयी है। खसम को तो हवा भी नहीं लगने दी। जुलम पल्लो! कलयुग की मार।’ ’ 5

स्त्री लेखिकाओं में मेहरून्निसा परवेज और नासिरा शर्मा ने मुस्लिम समाज की स्त्रियों को लेकर लेखन कार्य किया है, किन्तु नासिरा शर्मा के उपन्यास “शाल्मली’ ’ में एक हिन्दू स्त्री के दाम्पत्य जीवन का चित्रण है। पति के रूप में पुरुष अपनी पत्नी को भी गुलाम सज़ता है। इस उपन्यास में शाल्मली और नरेश के बीच की घुटन, क्रिया प्रतिक्रिया, कुंठा और क्रूरता से उपजे द्वंद का चित्रण किया गया है, फिर भी शाल्मली की प्रतिक्रिया शालीन बनी रहती है- “स्वावलम्बी होने का यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि वह परिवार को तोड़ डाले और इन सारी भावनाओं से मुकर जाये, जो उसकी पहचान नहीं, जरूरत भी है।’ ’ 6 लेखिका के चिंतन को शाल्मली के शब्दों में कहा जा सकता है। “औरतों

के पास दो अभिव्यक्तियाँ हैं: सर झुका देना या समस्या को अधूरा छोड़, सर कटा लेना। मेरा विश्वास न घर छोड़ने पर है, न तोड़ने पर, न आत्महत्या पर है, न अपने को किसी के लिये स्वाहा करने में हैं मैं तो घर के साथ औरत के अधिकार की कल्पना भी करती हूँ और विश्वास भी।<sup>7</sup>

सिम्ली हर्षिता के उपन्यास 'यातना शिविर' में स्त्री-जीवन के दुःखों-यातनाओं का मार्मिक चित्रण हुआ है। समाज में नारी की जीवनावस्थाओं के अनुसार जो पड़ाव निर्धारित किये गये हैं, जगह-जगह स्त्री की गति को नियंत्रित करने वाले शिविर रूपी अवरोधक खड़े हैं, वे नारी के लिए यातना घर ही सदृश सिद्ध होते हैं। इस उपन्यास में दहेज उत्पीड़न की भयावहता भी उजागर की गयी है।

स्त्री जीवन के जीवत आत्मविश्वासों को प्रस्तुत करती कृति 'घरवास' है। निम्न वर्ग की स्त्री को मुख्य पात्र बनाकर मृदुला जी ने स्त्री विमर्श की परिसीमाओं का विस्तार किया है। "कलिया मुसहर की बेटी और बहू थी, इसलिये कली नहीं, कलिया थी।" <sup>8</sup> मृदुला जी के एक अन्य उपन्यास "ज्यों मेंहदी कौ रंग" में विकलांग जीवन की मर्मांतक पीड़ा से जूझती एक ऐसी स्त्री शालिनी का चित्रण है जो यौवन के द्वार पर कदम रखने के साथ ही पैर कट जाने के कारण विकलांग बन जाती है। इसी कारण वह अपने परिजनों एवं समाज से कटने लगती है। उसका पति राजेश दूसरी शादी कर लेता है। शालिनी को अपना शेष जीवन विकलांग आश्रम में रहकर बिताना पड़ता है। वह आश्रम के विकलांग ददा जी के प्रेमपाश में आबद्ध होकर समाजसेवा में निमग्न हो जाती है।

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में फ्रांसीसी लेखिका सीमोन द बोउवार की विश्व चर्चित कृति 'द सेकेण्ड सेक्स' (1949) का भारत में पहली बार 1990 में हिन्दी रूपान्तर "स्त्री उपेक्षिता" प्रकाशित हुआ। स्त्री विमर्शकारों के लिये इस कृति से प्रेरणा प्राप्त हुयी। कृति का केन्द्रीय भाव है "स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि उसे बना दिया जाता है।" पुस्तक में स्त्री की स्थिति को ऐतिहासिक और जैविक परिवेश में विस्तृत एवं बेवाक ढंग से चित्रित किया गया है। पुस्तक से एक उद्धरण को देना यहाँ अनुपयुक्त न होगा "स्त्री यह मानती है कि विश्व उन पुरुषों का है जिन्होंने इसे बनाया, इस पर अधिपत्य स्थापित किया और जो आज भी शासन कराते हैं। स्त्री अपने को विश्व के निर्माण की जिम्मेदार नहीं समझती। वह पुरुष पर आश्रित और उससे निम्न स्तर पर रहती है। उसने हिंसा और विद्रोह के पाठ नहीं पढ़े हैं। समूह में अन्य सदस्यों के सम्मुख वह कभी कर्ता के रूप में नहीं आती। वह अपने ही शरीर तक सीमित रहती है।.... वह पुरुषों के मुखड़े वाले देवताओं के सम्मुख हमेशा शांत रहती है। ये ही नर-देव उसके जीवन के लक्ष्य और मान्यताओं के निर्धारक होते हैं। स्त्री को 'चिर शिशु' मानने वाली कहावत सही है। .....स्त्री को सम्मानपूर्वक पुरुष की आज्ञा माननी चाहिये, यही उसका भाग्य है। न व्यवहार में और न विचारों में यथार्थ पर स्त्री का अधिपत्य होता है।" <sup>9</sup>

‘द सेकेण्ड सेक्स’ की हिन्दी रूपान्तरकार डॉ० प्रभा खेतान स्त्री विमर्श पर न सिर्फ क्रान्तिकारी और बिन्दास आत्मचित्रण किया है, वरन स्त्री की पराधीनता की स्थितियों से लोहा लेते हुये अपनी मेधा और शक्ति प्रमाणित की है।

प्रभा जी ने अपने अनुभव से लिखा है “दस साल के दौरान एक भी ऐसी स्त्री से परिचय नहीं हुआ जो अपने आप से अपनी देह से, रूप-रंग से सन्तुष्ट हो। औरत इस हद तक वस्तु हो जाती है कि अपनी ही देह की एक-एक परत को दूसरों की नजर से तोलती रहती है और नापने, जोखने तौलने के बाद ही अतृप्ति, पूर्णता हासिल नहीं कर पाने की हार और थकान औरत को तोड़कर रख देती है। मीडिया स्त्री देह की एक खूबसूरत मगर असंभव सी तस्वीर को औरत के सामने आदर्श रूप में प्रस्तुत करता है तथा स्त्री इस छवि को एक परम आदर्श एवं सुखकारी रूप में स्वीकार लेती है। .....आदर्श को हासिल न कर पाने के अभाव से वह त्रस्त हो जाती है।” 10

यद्यपि स्त्री विमर्श में पुरुष का विरोध नहीं, पुरुषों पर निर्भरता का विरोध है, तथापि तेज रफ्तार से भागती स्त्री को कुछ सतर्कता की भी आवश्यकता है। मुक्ति के नशे में उन प्रतिबद्धताओं का भी ध्यान रखना चाहिये, जो किसी स्थायी सम्बन्ध के लिये जरूरी है। विद्रोह एक महत्वपूर्ण मूल्य है। परन्तु रमण का भाव भी कम मूल्यवान नहीं। विवाह से मुक्ति पाने का आधार भी वस्तुपरक होना चाहिये, द्वेष अथवा प्रतिक्रियापरक नहीं। आशा है स्त्री विमर्शकार इसे पुरुषवादी दृष्टि नहीं कहेंगे।

संदर्भ:-

1. समकालीन महिला लेखन, डा० ओमप्रकाश शर्मा, पूजा प्रकाशन, दिल्ली, 2002 पृ०-220
2. उद्घृत अनभै, वर्ष 5, अंक 16-17, अक्टूबर-मार्च, 2008, पृष्ठ-173
3. हंस, सितम्बर 1998, पृष्ठ-109
4. चित्रा मुद्गल, आवाँ, पृ०-539, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, 1999
5. मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ०-413 राजकमल प्रकाशन, 1997
6. नासिरा शर्मा, शाल्मली पृ०-166, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, 1991
7. नासिरा शर्मा, शाल्मली पृ०-164, सरस्वती प्रकाशन, दिल्ली, 1991
8. मृदुला सिन्हा, घरवास, पृ०-16, ज्ञानगंगा, दिल्ली, 1993

9. स्त्री: सीमोन द बोउवार अनुवादिका डॉ० प्रभा खेतान, नवीन संस्करण 2002 रीप्रिंट 2008, हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली प्र०-303
10. अन्या से अनन्या (आत्मकथा) डॉ० प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2007, पहली आवृत्ति 2008, पृ० 170-71

‘शोधार्णव’ (संपादक डॉ रामस्वरूप खरे) त्रैमासिक अक्टूबर-दिसंबर 2009 में प्रकाशित आइएसएसएन 09755381

### 33

## खबर करें उदना वे ईसुर जिदना फागें गाहें

प्रारम्भ में मानव ने हृदय भावनाओं को जब गुणगुनाकर अपनी अभिव्यक्ति दी होगी, तभी से गीत की उत्पत्ति हुई होगी।

व्यष्टि और समीष्ट की वेगवती धारार्यें जहाँ मिलती हैं, उस भाव-भूमि को लोक कहते हैं। लोक में व्यक्ति की सत्ता एवं विश्व की चेतना दोनों समाहित रहती हैं। दूसरे रूप में कहा जा सकता है कि मनुष्य की भाव - भूमि सामाजिक परिवेश तथा आंचलिक स्थितियों से मिलकर लोक की निर्मित होती है। जब इस प्रकार के विभिन्न परिवेश समवेत हो जाते हैं तो उनके परस्पर प्रभाव से वृहत्तर लोक की सृष्टि होती है। जिन प्रवृत्तियों के सहज विकास का धरातल लोक का मानस है। लोक की जीवन - शैली उसका चिन्तन तथा उसका समुच्चय-स्वरूप ही लोक-संस्कृति है। युगों - युगों से प्रवाहित लोक-संस्कृति की धारा लोक मंगलकारी है, जिसमें सबका हित और सब में हित की लोक भावना है। इस परंपरा की पहचान लोकगीतों के माध्यम से की सकती है।

विध्यांचल और इलावर्त वर्ष के मध्य - भू-भाग को पूर्व में जैजाकभुक्ति, चेदि, दशार्ण आदि नामों से जाना गया। बाद में इसका बुन्देलखण्ड नामकरण ओरछा नरेश भारती चन्द्र (1531-1554 ई.) ने किया। महेबा के जागीरदार चंपतराय की पत्नी के गर्भ से 26 मई 1649 ई को पांचवे बेटे के रूप में जन्म लेकर, अपने नाम पर छतरपुर, जैसे शहर की स्थापित करने वाले महामति प्राणनाथ जैसे गुरुवर की कूटोक्ति ‘धन्य’ कुची तारो विलैया लै गयी पारों से प्रेरणा प्राप्त कर कभी पराजय का मुंह न देखने वाले बुन्देलखण्ड केसरी महाराज छत्रसाल ने इस भू भाग की सीमा का



निर्धारण किया था। दैलवारा लेख तथा कालिंजर चौबयाना लेखों के अनुसार छत्रसाल के राज्य में 44 परगना तथा 11665 गांव थे। इसी भू-भाग की भाषा बुन्देली के नाम के प्रसिद्ध हैं।

वर्तमान में यमुना से नर्मदा तथा टोस से चंबल दी तक विस्तृत बुन्देलखण्ड नामक इस सांस्कृतिक इकाई में उत्तर प्रदेश के सात जनपद झांसी, ललितपुर, बांदा, हमीरपुर, महोबा, जालौन और चित्रकूट तथा मध्यप्रदेश के चौदह जनपद - पन्ना, सागर, टीकमगढ़, छतरपुर, विदिशा, दमोह, नरसिंहपुर, गुना, होशंगाबाद, शिवपुरी, ग्वालियर, जबलपुर, दतिया और रायसेन कुल मिलाकर इक्कीस जिले आते हैं।

भोजपुरी, ब्रज, अवध, बघेली, राजस्थानी बोली।

सबके रस में सनी हमारी बुन्देली रस घोली।

ऐसी रसघोली बुन्देली बोली के लोकवि बुन्देली त्रयी (ईसुरी, गंगाधर, व्यास तथा ख्यालीराम) में अग्रगण्य कवि ने बुन्देली लोककवियों का पथ प्रदर्शन किया, जिनके बारे में यह चौकड़िया प्रसिद्ध हैं।

रस्ता सुगम ईसुरी डारी अच्छी राम विचारी।

गंगाधर गद्दी पुरवा के पक्की सड़क निकारी।

जोँ जाँ झील परी बोधन ने ख्याली ख्याल सुधारी।

पदमसींग बिरछा लगवा के करी घनेरी छॉरी।

ता ऊपर लाले उर मोती निगम कात न हारी।

जनपद झाँसी के मऊरानीपुर के पश्चिमोत्तर में स्थित मेंढकी ग्राम निवासी साधारण कृषक पं. भगवती प्रसाद तिवारी (अड़जरिया) जो अपने भोले - भोले स्वभाव के कारण ईश्वरानंद, ईश्वर प्रसाद, ईश्वर, ईसुरी आदि नामों से दुलारा जाता था। विधि की विडम्बना, अल्पायु में ही इनकी माता गंगाबाई का देहांत होने पर ईसुरी को लुहरगांव (हरपालपुर) जाना पड़ा। यहां उनका पालन पोषण तथा शिक्षा दीक्षा आदि का दायित्व मामा पं. भूधर नायक ने संभाला। बचपन से ही ये बुन्देली में फाग, ख्याल गायकी के लिये प्रसिद्ध हो गये। धौरी गांव के धीरे धीरे पण्डा इनसे कविता बनाना सीखने लगे तथा फड़ गायकी में साथ रहने लगे। मामा भूधर नायक ने इनका विवाह सीरौन (नौगांव) निवासी भोलानाथ मिश्र की पुत्री राजाबेटी के साथ करा दिया।

एक बार महाराज छत्रसाल जोधपुर प्रवास पर रहे। वे वहां के राजपरिवार से सम्बन्ध रखने वाले बादलजू को यहां ले आए। बादलजू की सातवी पीढ़ी में हुए जगजीत सिंह को पन्ना नरेश ने मुसाहिबजू की पदवी दी। मुसाहिबजू

धौरी में निवास करते थे। इनके सम्भार सिंह तथा रघुनाथ सिंह दो बेटे तथा एक पुत्री रावराजा (रज्जू) नाम सा थी। अप्रतिम सुन्दरी इस लड़की को सभी प्यारसे रजउ राजा के नाम से पुकारते थे।

मुसाहिबजू के कारिन्दा पं. भोलानाथ मिश्र थे। भोलानाथ के परदादा धर्मजीत मिश्र दतिया रियासत के दीवान हो गये। उन्होंने, अपने पुत्र चतुर्भुज के लिये गोवर्द्धन पुत्र गंगा से बमौरा की आठ आने की जमींदारी खरीदी थी। भोलानाथ बगौरा रहने लगे। ईसुरी के ससुर पं. भोलानाथ के निधनोपरांत ईसुरी ने मुसाहिबजू के कारिन्दा का कार्यभार अत्यंत चतुराई कुशलतापूर्वक दिनांक 8 दिनांक 8 अगस्त 1876 ई. को संभाला। कलीदार कुर्ता, धोती और झब्बू पन्हैया पहनने वाले, औसत कद, आकर्षक, गौरवर्ण, कानून के ज्ञाता ईसुरी प्रसाद कारिन्दा होते हुयी भी स्वतंत्र विचार वाले, स्वाभिमानि सुविख्यात फगवारे थे, जो अपना अदालती निर्णय भी फाग में दिया करते थे।

ईसुरी के अंतरंग मित्रों में छतरपुर इस्टेट में राज्याश्रय प्राप्त पं. गंगाधर, व्यास, ठठेवरा के जमींदार श्री नन्हें भैया चौबे, धीरे पण्डा धौरी तथा भवानीसिंह आदि प्रमुख थे। बचपन में मां-बाप का साया उठ जाने पर कुछ दिनांक तक यह अपने मित्र नन्हें भैया के यहां भी रहे, फिर बाद में बगौरा वाप आ गये। धीरे पण्डा की मित्रता का उल्लेख इनकी कई फोगों में हुआ है। इक उदाहरण दृष्टव्य है।

ढोलक ढमक झांझ की झमक ठनक नगरिया ठाने।

धुंधरु की छम छमक छमाछम मन जीरा मंजयाने।

सुन्दरिया गगिया रंगरेजिन भरे सुरीली ताने।

धीरे पण्डा के गायन बिन ईसुर कितउं न जाने।

धीरे पण्डा के बिना ईसुरी कहीं जाते नहीं थे। पडुवा ग्राम की रंगरेजिन सुन्दरिया और गंगइया नृत्य में फड़ गायकी के समय ईसुरी की कीर्ति पताका को दिगदिगन्त में फहराने में सहायक बनी।

ईसुरी का संपूर्ण जीवन फागमय था। हर बात में चौकड़िया उनकी जुबान पर नाचने लगती। इनकी अधिकांश फागें उनकी प्रेयसी रजऊ को इंगित करके लिखी गयी हैं। मुसाहिबजू के दरवाजे के आगे नीम के पेड़ पर इन्हें एक चोरी का झूठा आरोप लगाकर टांग कर सजा दी गयी थी। चोरी की वह घटना इस प्रकार है:- एक बार रजऊ की नन्ना जू स्नान करने गयी थी। वे ईसुरी को अपने गहने (लगभग ढाई लाख रुपये के) सौंप गयी थी। ईसुरी ने गहने का वह डिब्बा रुकमन कहारिन को दे दिया। यहां से डिब्बा खो गया। उन दिन मुसाहिबजू महाराज पन्ना के दरबार में गये थे। लौटने पर उनके मित्र लखनलाल और गंगाधर ने उन्हें घटना के बारे में बताया। जांच में सही पाए जाने पर ईसुरी को नीम पर बांधकर लटका दिया गया। लोग त्रास देने हेतु नंगी तलवारे खींचकर उनके सामने खड़े हो गये। निर्भीक कवि हृदय से उद्गार निकल पड़े। रजऊ उनकी चौकड़िया में चित्रित हो उठी:-

जा भइ दसा लगन के मारे रजऊ तुमाए द्वारें।

जिन तन फूल छड़ी ना लागी तिन तन छंह तस्वीरें।

हम तो टंगे नीम की डारन रजुआ करें बहारें।

ठाढ़ी हती टिकी, चौखट से अब भई ओट किवारें।

का कय यार अकेले ईसुर सबरउ गांव उतारे।

मुसाहिब जू को संदेह था कि उनके घर में काम कर रही कहारिन रुकमन से ईसुरी के अवैध सम्बन्ध है। चोरी कहारिन ने की थी ईसुरी निर्दोष थे। इसके बाद ईसुरी कुछ दिन अपने मित्र चौबे के यहां ठठेवरा रहे, फिर बगौरा रहने लगे। पत्नी की भी मृत्यु हो गयी। ईसुरी संग्रहणी रोग से पीड़ित हो गये। ईसुरी का हृदय पर दुःख कातर हो गया। वे टूट गये। अंत तक भवानी सिंह ठाकुर उनकी सेवा करते रहे। मरते में अपनी बेटी को संबोधित करते हुए ईसुरी ने कहा -

पण्डा धीरे इत लो आहें। हमें मरो सुन पाहें।

समझा दइयौ सोस करें नई हो तप पैं बस नाहै।

जितने मिले चिनार के मारे राम-राम सब खों है।

खबरे करे उदना वे ईसुरी जिदना फागें गाहै।

अंतिम श्वास में भी उनकी फाग का स्वरूप देखते ही बनता है:-

मोरी राम राम सब खैया। नाना करी गुसैयां।

दे दो जान बुला लो बामन करौ संकल्प गैयां।

हात दोक जागा लिपवा दो गौ के गोबर भैया।

हारै खेत जाव न ईसुर अब हम ठैरत नैया।

और इतना करते हुये सरस्वती के लाडले का पार्थिव शरीर भले ही अगहन वदी 7 शनिवार संवत् 1966 दिनांक 24 नवम्बर 1909 ई. को नित्यलीला लीन हो गया हो, किन्तु महान संवेदनशील जन-जन का कवि, बुन्देली गौरव, लोक की धरोहर ईसुरी का कृतित्व युगों-युगों तक अमर रहेगा।

बुंदेलखंड संस्कृति दर्शन (किशोर मंच संस्थान महोबा) 2010-11 में प्रकाशित

## हिंदी-उर्दू भाषा के समन्वय का स्रोत: प्रेमचंद का साहित्य

हिन्दी-उर्दू ही नहीं, भारतीय तथा कथा साहित्य के ध्रुवतारा, उपन्यास - कहानी सम्राट प्रेमचन्द सच्चे अर्थों में भारतीय संस्कृति का अनूठा प्रतिबिम्ब अपने साहित्य में पाठकों के सम्मुख रखते हैं। कम्पोजिट कल्चर (परम्परागत साझा संस्कृति) और उसको व्यक्त करती कम्पोजिट भाषा उनके साहित्य का माध्यम है। यह 'कम्पोजिट' ही अपने राष्ट्र की धरोहर एवं जीवन्त धड़कन है। इसके बिना इस देश में कुछ बचेगा भी क्या ?

1803 ई0 में कोलकाता के फोर्ट विलियम कालेज में जान गिल क्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू के अलग-अलग विभाग खोलकर इन भाषाओं में विभाजन की नींव डाली। गिल क्राइस्ट के इस प्रयास को बाद में कतिपय लोगों ने हवा दे दी। यद्यपि 1852 में फ्रांसीसी विद्वान गार्सा द तासी ने हिन्दुस्तानी को ही बोलचाल की भाषा कहा था। तत्पश्चात् 1704 ई0 में डचों ने व्यापारिक सम्बन्धों को बढ़ाने के लिये हिन्दुस्तानी व्याकरण डच भाषा में लिखा। यहां हिन्दुस्तानी कहने का आशय हिन्दी और उर्दू नामक सम्मिश्रित-मिश्रित भाषा से है, जिसे गांधी जी ने भारत की राष्ट्र भाषा के प्रसार और संवर्धन के लिये हिन्दुस्तानी (जन सामान्य में प्रचलित भाषा) के शब्दों से सृष्टि करने की बात अनुच्छेद 351 के अन्तर्गत स्वीकृत हुयी। ये सब प्रयास राजनैतिक तथा आर्थिक स्तर पर हुये थे किन्तु साहित्य के स्तर पर यह प्रयास महान कथाकार प्रेमचन्द द्वारा हुआ।

प्रेमचन्द्र ने अपने साहित्य के लिये एक सामान्य भाषा का आविष्कार कर लिया था जो सच्चे अर्थों में एक धर्मनिरपेक्ष भाषा थी। धर्मनिरपेक्ष भाषा वह होती है जिसमें आप अपनी कोई भी बात बिना किसी संकोच और बिना

किसी अपराध बोध के कह सकें।<sup>1</sup> प्रेमचन्द की सी चलती और पात्रों के अनुरूप रंग बदलने वाली भाषा पहले नहीं देखी गई थी।<sup>2</sup>

प्रेमचन्द की भाषा में आलोचकों को आगे का अर्थ संवर्धन करने की गुजांइश ही नहीं सूझती क्योंकि प्रेमचंद की भाषा आम आदमी की भाषा थी जिसमें सभी प्रकार की भाषा छबियां मौजूद हैं। प्रेमचंद परवर्ती कथाकारों को भी अपनी भाषा गढ़ने में भारी मशक्कत का सामना करना पड़ा। आंचलिक उपन्यासों को कुछ विद्वान भाषिक विलक्षणता के चलते भी इस अभिधान से अभिहित करते हैं, लेकिन प्रेमचन्द ने आप आदमी की ब्यथा को उसी की भाषा में सहजता से प्रस्तुत किया। प्रेमचन्दजी ने भारतीय जनजीवन को बड़े नजदीक और सूक्ष्मता से देखा था। उन्होंने कुछ आग्रही लोगों के विपरीत यह पाया था कि लोगों की जुबान हिन्दी, उर्दू के शब्दों को बीन-छीन कर नहीं निर्मित होती है। आम आदमी की सहजता और रवानगी में बेलाग और दोटूक बातों को कहने की अद्भुत शक्ति होती है। इस शक्ति को इस कालजयी साहित्यकार ने पहचाना।

प्रेमचन्दजी ने देखा कि भारतीय लोक जीवन में तिलिस्मे होशरुबा के दास्तानें और उससे पहले कबीर की पंचमेल खिचड़ी भाषा में लिखी बानियां, अमीर खुसरो की पहेलियां, जायसी की फारसी लिपि में लिखी पद्मावत की कहानियां को लोग रामायण तथा महाभारत की कहानियों के समान ही कह सुनकर अभिभूत हुआ करते हैं। इस विरासत को युग निर्माता प्रेमचन्द ने आदर्श समझा। उनके कथ्य का सौहार्द्र तथा सहचारी समभाव भाषा के स्तर पर भी सर्वत्र विद्यमान है। वह चाहे पंच-परमेश्वर कहानी के 'जुम्मन शेख' , 'अलगू चौधरी' का संवाद हो या फिर ईदगाह कहानी का अब्दुल हामिद का कथोपकथन।

अपनी सभी कथाओं में उन्होंने हिन्दी-उर्दू एकता या हिन्दू मुसलमान भाईचारे की पैरवी इस तरह नहीं की जिसे तरह आजकल 'आपस में सब भाई-भाई' इत्यादि नारे देकर किया जाता है। उनके साहित्य में यह भावना आरोपित हुयी सी नहीं लगती है। वह तो इस प्रकार प्रतीत होती हैं जैसे हाथ की पांचों अंगुलियां अलग-अलग होकर भी एक हैं, संगठित हैं और वह इस प्रकार कोई एहसास नहीं दिलाती।

प्रेमचन्दजी ने राही मासूम रज़ा की इस भावना को बहुत पहले ही लक्षित कर लिया था कि 'तुम हिन्दी लेखक हो, मैं उर्दू का शायर हूं। परन्तु न तुम हिन्दी साहित्य सम्मेलन हो और न मैं अजंुमन-ए-तरक्की-ए-उर्दू हूं। क्यंून यूं कहा जाये कि तुम हिन्दी के लेखक-अदीब हो और मैं उर्दू का कवि। क्या भाषाओं की दीवार इतनी ऊंची है कि हम यह भी न देख सकें कि हम दोनों एक ही देश और एक ही दुनिया के रहने वाले हैं। हमारी कामनायें और ख्याब एक हैं। क्या फर्क है मुझमें और तुममें।' <sup>3</sup>

अपने देश में भाषा का प्रश्न इतना उलझा दिया गया है कि इससे पार पाने की कामना ही की जा सकती है। कोई भाषा रोजगार से जब जोड़कर देखी जाने लगती है तब भाषा की खींचतान होनी स्वाभाविक है। यहां धूमिल के शब्दों को उद्धृत करना आवश्यक है-

चन्द चालाक लोगों ने -

(जिनकी नरभक्षी जीभ ने

पसीने का स्वाद चख लिया है)

बहस के लिये

भूख की जगह

भाषा को रख दिया है

उन्हें मालूम है कि भूख से

भागा हुआ आदमी

भाषा की ओर जायेगा

उन्होंने समझ लिया है कि -

एक भुक्कड़ जब गुस्सा करेगा,

अपनी ही अंगुलियां चबायेगा।<sup>4</sup> -भाषा की रात

प्रेमचन्द जी ने अपने शिल्प में उर्दू के जैसे छोटे, सटीक और रवानगीपूर्ण वाक्य की सादगी एवं नफासत और हिन्दी की अधिकांश शब्दावली का मणिकांचन संयोग अपने कथा साहित्य में किया है। उनकी भाषा में हिन्दी और उर्दू को जो सुन्दर संयोग, स्वाभाविकता एवं सामंजस्य बन पड़ा है वह देखते ही बनता है। उनके 'कहानी कला' नामक निबन्ध में एक जगह आया है 'खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है'।<sup>5</sup> यहां भाषा का भी ऐसा खुलासा है जो पाठक को कहीं नहीं अटकता। गोदान उपन्यास में होरी कहता है 'इस जन्म में तो कोई आशा नहीं है भाई। हम राज नहीं चाहते, भोग विलास नहीं चाहते हैं। वह भी नहीं साधता।' यह मरजाद भले ही मर्यादा का तद्भव हो पर यह शब्द सम्पूर्ण हिन्दी उर्दू भाषी क्षेत्र में सर्वस्वीकृत एवं प्रचलित है।

हिन्दी और उर्दू भाषा के मनीषियों को प्रेमचन्द की भावनाओं को देखते हुये मानना होगा कि हिन्दी को उर्दू से या उर्दू को हिन्दी से कोई खतरा नहीं है, अपितु यह दोनों भाषायें एक-दूसरे से पुष्ट होती हैं। इन दोनों भाषाओं को खतरा है तो अंग्रेजियत से, ऐसी मानसिकता से जो इनके प्रयोक्ताओं को दकियानूस समझती है। यदि आम लोग दोनों भाषाओं के साहित्य की भाषा में अंगीकृत करा सके तो भाषाशास्त्रियों एवं साहित्यकारों को ऐसी मिश्रित भाषा

को स्वीकार्यता देनी पड़ेगी क्योंकि आखिर आम लोगों के बूते ही हिन्दुस्तानी का बाज़ार बना हुआ है।

प्रेमचन्दजी भाषा में अत्यधिक शुद्धता के आग्रही नहीं थे। वे मानते थे कि इससे भाषा की रवानगी जाती रहती है। संस्कृत इसीलिये कबीर के शब्दों में कूपभाषा हो गयी और फारसी भी अब इसीलिये राही जी के शब्दों में मृतप्राय भाषा बन गयी। यह होना ही है। आशय यह कि प्रयोगकर्ता को ऐसे नुक्तामुक्त तथा 'श' कार/'स' कार विभेदक शब्दों से जुड़ने तो दीजिये! जब वह इन्हें अपनाते लगेगा तो देर-सबेर वर्तनीगत शुद्धता भी आ जायेगी। इसी प्रकार यदि ऋषि को एक आम आदमी रिसि उच्चरित कर रहा है तो संस्कृत बाले उसे क्यों कर दौड़ाने लगे ? हमें भाषा और उसके नियमों से भय नहीं खाना चाहिये अपितु उनसे प्यार करना चाहिये। यदि हमने इस द्वन्द्व को दूर कर लिया तो हिन्दुस्तानी का भविष्य सुनहरा हो सकता है क्योंकि आम आदमी की भाषा - प्रेमचन्द की भाषा हिन्दुस्तानी ही है।

सन्दर्भ-स्रोत

1. राष्ट्रीय सहारा (हिन्दी दैनिक) हस्तक्षेप 27 नवम्बर 1999 राजेन्द्र यादव से विमल झा की बातचीत
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी पेपर बैंक संस्करण तृतीय 2060, पृ0 294
3. खुदा हाफिज कहने का मोड़, डा0 राही मासूम रज़ा संपादन एवं संकलन कुंवरपाल सिंह, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली 1999, पृ017
4. संसद से सड़क तक, धूमिल, राजकमल प्रकाशन, पहला पेपर बैंक संस्करण 2006, पृ088
5. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद सत्रहवां संस्करण 2004, पृ0 139-140

प्रेमचंद एक विमर्श, संपादक डॉ गंगेश दीक्षित हिंदुस्तानी अकादमी इलाहाबाद आइएसबीएन 9788185765853 से 2014 में प्रकाशित

35

## उच्च शिक्षा के वर्तमान दृश्य विधान में अपेक्षित सुधार

शिक्षार्थियों में इस बात को लेकर कोई मतभिन्नता नहीं है कि वर्तमान में उच्च शिक्षा की स्थिति हद से ज्यादा पतनोन्मुख हो चली है। दृश्य-विधान का यह बिम्ब हमारी कल्पना को झकझोरता है कि आखिर इस स्थिति में परिवर्तन हो भी सकता है या नहीं ? सुधारोन्मुख रहते हुये कुछ बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है।

1. छात्र संघ चुनाव स्नातकोत्तर स्तर पर कराये जाये। स्नातक छात्रों को मतदान एवं चुनाव लड़ने पर रोक लगायी जानी चाहिये।
2. उच्च शिक्षा संस्थानों में शिक्षकों की बुनियादी अर्हता नैट/सैट/स्लेट अथवा इसके समकक्ष होनी चाहिये।
3. वर्तमान नियमों का कड़ाई एवं ईमानदारी से अनुपालन सुनिश्चित किया जाये जिसमें कम-से-कम 180 दिन कक्षार्ये चलें ही व 75 प्रतिशत उपस्थिति पूरी हुये बिना किसी छात्र को परीक्षा में बैठने से वंचित कर दिया जाये।
4. प्राथमिक शिक्षकों के लिये दी जाने वाली ट्रेनिंग की अर्द्धता इण्टरमीडिएट रखी जाये, ताकि उच्च शिक्षा में बढ़ रही भीड़ कम हो सके। इसी तरह माध्यमिक शिक्षकों की अर्द्धता बी0एड0 रहे, पर बी0एड0 प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति प्राथमिक शिक्षक नियुक्त न किये जाये।
5. उच्च शिक्षा का प्रयोजन सृजनात्मकता, मौलिकता तथा समस्याओं को मौलिक-वैज्ञानिक विश्लेषण करने की क्षमता बढ़ाना तथा पारम्परिक शिक्षा पद्धति में आवश्यक परिवर्तन कर ज्ञान के क्षितिज में नई ऊँचाइयाँ प्राप्त



कराना है, अस्तु। ऐसे छात्रों के प्रवेश का कोई औचित्य नहीं जिनकी अध्ययन में कोई रुचि नहीं। अतः केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड का यह सुझाव कि उन्हीं छात्रों के लिये उच्च शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति दी जाये, जिन्हें भविष्य में इसकी आवश्यकता हो तथा कोठारी आयोग का यह सुझाव कि चयनात्मक प्रवेश का उपयोग कर केवल योग्य छात्रों को ही उच्च शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश दिया जाये, अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। उच्च शिक्षा ज्ञान के उच्चतम स्तर का अनुसंधान करने वालों, अधिकारियों, न्यायकर्ताओं, पत्रकारों तथा माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा संस्थाओं में शिक्षकों की भर्ती के लिये ही अनिवार्य हो।

6. वार्षिक परीक्षा प्रणाली समाप्त कर सेमेस्टर पद्धति का अनुसरण किया जाना श्रेयस्कर होगा।

7. शिक्षकों के मूल्यांकन कोई मानक तरीका सुनिश्चित होना चाहिये। पूर्व शिक्षा मंत्री नूरुल हसन ने लिखा है गुणवत्ता उच्च शिक्षा का सारतत्व है किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे यहाँ उच्च शिक्षा के क्षेत्र में लोग नौकरी पा जाने के बाद मौलिक कार्य करना बन्द कर देते हैं। अतः आवश्यक है कि अध्यापकों में स्तरोन्नयन को बढ़ावा दिया जाये तथा शैक्षिक उपलब्धि के प्रति अभिरुचि उत्पन्न की जाये। प्रशासनिक सेवा की तरह यदि यहां भी अनुभव एवं वरिष्ठता को दक्षता का मानदण्ड मान लिया जाये तो ज्ञान का विकास अवरूद्ध होने लगेगा। आवश्यक यह है कि स्तरोन्नयन आधारित प्रोन्नति को समयबद्ध प्रोन्नति से अधिक वरीयता देकर प्रोत्साहन दिया जाये। गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिये फीडबैक (प्रतिपुष्टि छात्रों द्वारा) को भी अनिवार्य किया जा सकता है। समयबद्ध प्रोन्नति का आधार नियमित कक्षा संचालन, छात्रों के कार्य-निष्पादन का मूल्यांकन, कर्तव्यनिष्ठा तथा व्यवस्था के संचालन में रचनात्मक भागीदारी को बनाया जायें।

8. शोध का वर्तमान स्वरूप बदला जाये। शोध प्रबन्ध में अब किसी सन्दर्भ तथा पीठिका या उपसंहार जैसे निरर्थक अध्यायों की आवश्यकता नहीं। यह युग तकनीकी सम्पन्न है। प्रबन्धों का आकार विशद न हो, मात्र अपनी बात, अपनी शैली में हो।

शिक्षकों हेतु डिजिटल एवं पारम्परिक पुस्तकालयों के समन्वित स्वरूप की समुचित व्यवस्था हो। छात्रावास, शिक्षकावास तथा कर्मचारी आवास की आधुनिक सुविधायें हों। शिक्षा तंत्र के मुख्य घटक शिक्षक एवं शिक्षार्थी ही हैं। इनके सुधार और सुविधाओं की चिन्ता यदि हमें है तो भव्य भवन की सुविधा जैसी चीजें गौण हो जाती हैं।

9. शिक्षकों तथा शिक्षणोत्तर कर्मचारियों की भर्ती क्रमशः राज्य लोक सेवा आयोग तथा राज्य कर्मचारी चयन आयोग द्वारा होनी चाहिये। इन सबकी सेवा निवृत्ति आयु 60 वर्ष ही रहे।

10. प्रत्येक विभाग में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की शोध पत्रिकाओं का मँगाना सुनिश्चित किया जाये।

11. पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में डा० एस० राधाकृष्णन का कथन है जो पाठ्यक्रम वैदिक काल में उपयोगी था। उसे 20वीं शताब्दी में बिना परिवर्तन किये प्रयोग नहीं किया जा सकता है' ।1 पुरातनता का त्याग और नवीनता का ग्रहण यदि वैचारिक भूमि पर हो तो उसमें कोई दोष नहीं, जैसा कि जयशंकर प्रसाद ने कहा है

पुरातनता का यह निर्माक सहन करती न प्रकृति पल एक

नित्य नूतनता का आनन्द किए है परिवर्तन में टेक।

फिलिप जी० अन्तबख ने सूमा चिटनिस के साथ सम्पादित अपनी पुस्तक हायर एजुकेशन रिफॉर्म इन इण्डिया में कहा है 'उच्च शिक्षा में किसी भी प्रकार के सुधार में प्रोफेसर लोग एक बहुत बड़ा रोड़ा है' । एक कहावत भी है प्रोफेसरों का वर्ष 180 दिन का, माह 20 दिन का, दिन 4 घण्टे का तथा घण्टा 40 मिनट का होता है। समय का यह निर्धारण सरकारी स्तर पर है, व्यावहारिक स्थिति अत्यन्त चिन्ता जनक है। महाविद्यालयों के मरने की घोषणा तो जिरैल्ड एफ क्रेची ने अपनी पुस्तक ऑन द डेथ ऑफ कॉलेज में 1971 में ही कर दी थी। उनके अनुसार महाविद्यालयों का अबनाम भर शेष है। अध्यापक पढ़ाते नहीं छात्र कक्षाओं में आते नहीं। यह स्थिति दर्दनाक है जो हमें आत्मालोचन करने को विवश करती है।

10. विश्वविद्यालयों-महाविद्यालयों की गुणवत्ता के मूल्यांकन हेतु यू.जी.सी. का एक स्वायत्त संस्थान राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद ¼National Assessment and Accreditation Council-NAAC½ की स्थापना हुयी है। इसके प्रमाण पत्र को प्रत्येक संस्था हेतु अनिवार्य कर दिया जाना चाहिये।

11. त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम लागू हुये एक अरसा बीत गया, किन्तु अभी भी कुछ विभागों में एक ही अध्यापक कार्यरत है। कुछ विषयों में तीन-तीन, चार-चार अध्यापक कार्यरत है। जबकि इन विषयों की छात्र संख्या लगभग बराबर रहा करती है। किसी-किसी विषय में अध्यापक के सेवामुक्त होने के बाद भी कई वर्षों तक नियुक्ति नहीं हो पाती, जिससे उस विषय के छात्र बिना अध्यापक के ही पढ़ने को विवश होते हैं। यह दुरवस्था दूर होनी चाहिये।

12. सहपाठ्यक्रम एवं पाठ्यक्रमेतर गतिविधियों के लिये अलग से सुचारु एवं समुन्नत व्यवस्था होनी चाहिये।

13. असहाय, आर्थिक रूप से कमजोर किन्तु प्रतिभाशाली छात्र/छात्रा को ही उच्च शिक्षा के अध्ययन एवं शोध हेतु वृत्ति दी जानी चाहिये।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सुधारोन्मुख उपायों को अनेक आयोगों एवं समितियों ने सम्मुख रखा है। उन्हें देखते हुये ऐसा लगता है कि उच्च शिक्षा में परिवर्तन तो अनेक हुये हैं पर सुधार न के बराबर हैं। इसीलिये अनेक शिक्षाविद आजकल अपनी स्थापनाओं में शिक्षा व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन की बात करते हैं। इस चूल को हिला देने वाला परिवर्तन कहां से प्रारम्भ हो ? एतदर्थ मुझे एक कहानी का स्मरण हो रहा है। एक बार नसरुद्दीन ने जमकर

शराब पी मूर्च्छित अवस्था में रात में वे चारपाई से नीचे गिर पड़े ? दौड़कर नौकर आया और देखकर कहा “देखो तो! मालिक यह तो आप ही चारपाई से नीचे आ गिरे हैं” । “में” ’ मुल्ला जोर से बोले और कहा “जरा, उठा मुझे” ’ । आज के सारे शिक्षातंत्र (प्राथमिक से उच्च शिक्षापर्यंत) से जुड़े हम लोग शिक्षक, छात्र एवं अभिभावक वे ही मुल्ला नसरुद्दीन हैं जिन्हें प्रतीक्षा है किसी नौकर की जो आकर बताए कि गिरे तो हम ही हैं।

## सन्दर्भ

1. राधाकृष्णन आयोग, रिपोर्ट पृष्ठ 45

श्री आदर्श संस्कृत महाविद्यालय उरई में दिनांक 20-21 मार्च 2005 को आयोजित ‘उच्च शिक्षा की गुणवत्ता में अवरोधक तत्व’ विषयक सेमिनार में प्रस्तुत